

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत  
**पञ्चास्तिकाय**  
परिशीलन

परिशीलन एवं गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद  
अध्यात्मरत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल  
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.  
प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय  
ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रकाशक :

**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**

(1)

ए-४, बापूनगर, जयपुर ह ३०२०१५  
फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८

प्रथम संस्करण : २ हजार

(अक्टूबर, २०१०)

जैनपथप्रदर्शक (सम्पादकीय) : ३ हजार ५००

योग ५ हजार ५००

## समर्पण

प्रस्तुत परिशीलन लिखने के प्रेरणा स्रोत आगरा के मूल निवासी एवं बम्बई प्रवासी श्रीयुत् सौभाग्यमलजी पाटनी थे। उन्होंने मुझसे अनेक बार कहा था कि ह्व 'समयसार और प्रवचनसार पर तो डॉ. साहब श्री हुकमचन्दजी भारिल्ल अनुशीलन लिख ही रहे हैं। पंचास्तिकाय ग्रन्थ भी एक महान ग्रन्थ है, मेरी भावना है कि इसका परिशीलन आप करें।

उनके अनुरोध से मैंने कार्य प्रारंभ भी कर दिया। मैंने सोचा यह था कि ह्व 'इस निमित्त से मेरा भी इस महान ग्रन्थ का गहन अध्ययन हो जायेगा और इतने काल मेरा उपयोग भी शुभ रहेगा।' ह्व ऐसा सोचकर मैंने यह परिशीलन लिखना प्रारंभ तो कर दिया, परन्तु दैवयोग से मैं ५० गाथाओं का परिशीलन ही कर पाया था कि मैं स्वयं अस्वस्थ हो गया और इसी बीच श्री सौभाग्यमलजी पाटनी दिवंगत हो गये। स्वस्थ होने पर उस समय गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गुजराती मैटर उपलब्ध न हो पाने के कारण मैंने अपनी नवीन कृति 'चलते-फिरते सिद्धों से गुरु' लिखना प्रारंभ कर दिया, इस कारण यह कृति कुछ लेट हो गई। जब मैं फ्री हुआ और स्वयं को पूर्ण स्वस्थ अनुभव करने लगा तो मुझे विकल्प आया कि ह्व 'क्यों न पंचास्तिकाय परिशीलन के अधूरे काम को पूरा किया जाये।

यद्यपि श्री सौभाग्यमलजी पाटनी हमारे बीच नहीं रहे; किन्तु अभी वे निश्चय ही स्वर्ग में होंगे, उन्हें वहाँ अवधिज्ञान से यह जानकर प्रसन्नता होती होगी कि 'मैंने उनकी भावना के अनुसार पंचास्तिकाय का परिशीलन पूर्ण कर लिया है।'

परोक्ष रूप में ही सही, परन्तु इस कृति को मैं उन्हें ही समर्पित करता हूँ और कामना करता हूँ कि उन्हें अल्पकाल में ही अनन्त सुख की प्राप्ति हो।

ह्व पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

### प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्री जिगनेश पारीख, मुम्बई	१०,०००
२. श्री वीरेन्द्रकुमार राजेशकुमार विजयकुमारजी जैन हस्ते हरसौरा परिवार, कोटा	५,१००
३. श्री सचिन जैन, अकलूज	३,५००
४. श्रीमती अभिलाषा शिखरचन्दजी जैन, जयपुर	३,०००
५. श्री महावीरप्रसादजी जैन, दौसा	३,०००
६. श्री अनिल मोतीलालजी दोशी, भिगवन	३,०००
७. श्री कैलाश श्रीपालजी दोशी, अकलूज	३,०००
८. श्री विशाल विलासजी दोशी, नातेपुते	३,०००
९. श्रीमती नीतू जैन ध.प. विशाल जैन, जयपुर	१,५००
१०. श्री कन्हैयालालजी दुग्गड़, दिल्ली	१,१००
११. श्रीमती कान्ताबेन ध.प. लालचन्दजी जैन, चाकसू	१,१००
१२. श्रीमती कमलाबाई, केशवराय पाटन	१,०००
१३. श्री विमलकुमार प्रसंगकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	१,०००
१४. श्री गम्भीरमलजी जैन, अहमदाबाद	१,०००
१५. श्री माणकचन्द जैन योगेशजी जैन टोडरका, जयपुर	१,०००
१६. श्री विनोद जैन माणकजी जैन, मण्डावरा	१,०००
१७. श्रीमती वर्षा जैन, देवरी	१,०००
१८. श्रीमती शशि जैन, शिवपुरी	१,०००
१९. श्रीमती विद्यादेवी ध.प. जयकुमारजी बंसल, चन्देरी	५००
२०. श्री के.सी. जैन, जयपुर	५००
२१. श्री कैलाशचन्दजी जैन, अलवर	५००
२२. श्रीमती शोभना सालगिया, मुम्बई	५००
२३. पण्डित सिद्धार्थकुमारजी दोशी, रतलाम	२५०
२४. श्री प्रेमचन्दजी जैन, अजमेर	२५०
२५. श्रीमती लाड़बाई ध.प. पूरणचन्दजी जैन, बून्दी	२००

कुल राशि ४७,०००

विक्रय मूल्य :

५० रुपये

लागत मूल्य :

७५ रुपये

टाईपसैटिंग

त्रिमूर्ति कंप्यूटर्स

ए-४, बापनगर,

जयपुर

मुद्रक :

श्री प्रिन्टर्स

मालवीयनगर,

जयपुर

## प्रकाशकीय

प्रस्तुत 'पंचास्तिकाय परिशीलन' मूर्धन्य विद्वान पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखा गया है। निःसंदेह यह कृति पाठकों के लिए अत्यधिक उपयोगी है; क्योंकि इस परिशीलन में अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के पंचास्तिकाय परमागम की अर्थ सहित मूल गाथाओं से लेकर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी तक पंचास्तिकाय से सम्बन्धित सभी तात्विक विषयों का सारगर्भित चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी की संस्कृत में लिखी समयव्याख्या टीका अपने आप में बेजोड़ है, अद्वितीय है। कविवर हीरानन्दजी के आंचलिक हिन्दी भाषा में रचित काव्य प्रसूनों ने तत्कालीन पाठकों को तो अपनी सुगंध से लाभान्वित किया ही होगा, आज भी उनके काव्यों की उपयोगिता असंदिग्ध है।

यद्यपि आचार्य श्री जयसेन स्वामी की संस्कृत टीका यहाँ नहीं दी गई है, तथापि आवश्यकतानुसार उनके मुख्य कथनों का उल्लेख भी यत्र-तत्र है।

प्रस्तुत परिशीलन के कर्ता पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल अनेक लोकप्रिय कथाकृतियों के कुशल चितरे तो हैं ही, गद्य निबन्ध शैली में तथा उपन्यास शैली में लिखित अनेक धार्मिक कृतियों के भी आप सफल लेखक हैं। छोटी-बड़ी ४९ पुस्तकें आपके द्वारा लिखी गई हैं, उनकी लिस्ट पुस्तक के अन्त में दी गई है।

विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि आपने आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के द्वारा समयसार परमागम पर १९वीं बार हुए गुजराती भाषा के व्याख्यानों को परिमार्जित हिन्दी भाषा में लगभग छह हजार पृष्ठों में ११ भागों में रूपान्तरित करके हिन्दी भाषाभाषी समयसार के पाठकों पर महान उपकार किया है। इनके सिवाय और भी अनेक कृतियों के गुजराती से हिन्दी में प्रामाणिक अनुवाद आपने किये हैं।

ज्ञातव्य है कि २ अक्टूबर २००५ में पण्डितजी के जीवन व कर्तृत्व पर प्रकाश डालने वाला एक ६०० पृष्ठीय वृहदाकार कलर्ड अभिनन्दन ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है, जिसमें आपके कर्तृत्व एवं व्यक्तित्व की झलक अनेक मनीषी लेखकों तथा वर्तमान एवं भूतपूर्व विद्यार्थियों द्वारा दिखाई गई है।

आचार्य श्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में कुन्दकुन्द भारती नई दिल्ली में वर्तमान भारत की महामहिम राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल, जो उस समय राजस्थान की राज्यपाल थीं, उनके कर कमलों द्वारा एक लाख रुपये की राशि से सम्मानित किया गया था।

पण्डित श्री रतनचन्दजी के सम्मान में उक्त राशि अमेरिका प्रवासी श्री पवन जैन दिल्ली ने पण्डितजी के कर्तृत्व से प्रभावित होकर सहर्ष प्रदान की थी।

पण्डितजी ने उक्त एक लाख रुपये भेंट की गई राशि में अपनी ओर से और भी ५१,००१ (इक्यावन हजार एक सौ एक) मिलाकर एक पारमार्थिक ट्रस्ट की स्थापना करने की घोषणा कर दी थी, उनके पुत्र शुद्धात्मप्रकाश भारिल्ल ने उसमें प्रतिवर्ष ५०,००० रुपये मिलाकर उसके ब्याज से परमार्थ के काम करने का निश्चय किया है।

आप सन् १९७७ से अद्यतन जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) के आद्य सम्पादक हैं। अब तक लिखे गये आपके अधिकांश सम्पादकीय पुस्तकों के रूप में साहित्य की स्थाई निधि बन गये हैं।

इसप्रकार पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित अधिकांश साहित्य अनेक संस्करणों में तथा हिन्दी, मराठी, गुजराती और कन्नड़ भाषाओं में भी प्रकाशित होकर जन-जन तक पहुँच चुका है।

अन्त में उन सभी महानुभावों को अनेकशः धन्यवाद है, जिन्होंने इस संस्करण के मूल्य कम करने में अपना आर्थिक योगदान दिया है।

श्रीयुत् अखिल बंसल एवं कैलाश चन्द्र शर्मा ने इस पुस्तक के प्रकाशन एवं टंकण में बहुत परिश्रम किया है। एतदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

**ह्र ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.**

प्रकाशन मंत्री

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

## परिशीलन का प्रयोजन और विषय

प्रस्तुत परिशीलन के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी यह है कि इस कृति में आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित मूल गाथायें, उन गाथाओं का सरल हिन्दी अर्थ तथा मूल गाथाओं का मेरे द्वारा रचित हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है। उसके बाद आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव की टीका का हिन्दी गद्य में स्पष्टीकरण करते हुए कविवर हीरानन्दजी के द्वारा हिन्दी भाषा में रचित कतिपय छन्द दिये हैं तथा आवश्यकतानुसार उनका गद्यभाषा में खुलासा किया है। ज्ञातव्य है कि कवि हीरानन्द की भाषा बहुत पुरानी हिन्दी है, उसमें मात्राओं का प्रयोग पुरानी भाषा के अनुसार है जैसे मैं की जगह मैं का प्रयोग है। अतः पाठक ध्यान से अर्थ करें।

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के द्वारा किये गये उन प्रवचनों का सार, जो कि ११-२-१९५२ से लेकर १६-६-१९५२ तक चार महीने के 'प्रवचन प्रसाद' के हस्तलिखित अंकों में प्रकाशित हुए हैं, उन सबका सारांश लिखकर प्रस्तुत कृति को पाठकों के स्वाध्याय के लिए सर्वांग सुगम करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि यहाँ आचार्य जयसेन स्वामी की सम्पूर्ण टीका तो नहीं दी है, तथापि आवश्यकतानुसार उनका मन्तव्य देने का प्रयत्न अवश्य किया है।

अधिकांशतः तो आचार्य जयसेन स्वामी आचार्य अमृतचन्द्रदेव से सहमत ही हैं; किन्तु जहाँ उन्हें कुछ विशेष कहने का भाव आया, वहाँ आचार्यश्री जयसेन स्वामी ने बहुत विनय के साथ अति विनम्र भाषा में अपने स्वतंत्र विचारों का भी उल्लेख किया है, जो उनकी अपनी विशेषता है, परन्तु इस आधार पर दोनों में तुलनात्मक दृष्टि से किसी को भी हीनाधिक दर्जा नहीं दिया जा सकता; क्योंकि दोनों ही भावलिंगी छटवें-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले महानाचार्य थे।

दोनों ही टीकायें अत्यधिक उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक हैं। अतः संस्कृत पाठी प्रौढ़ पाठकों को प्रस्तुत परिशीलन के अलावा दोनों ही संस्कृत टीकाओं को भी मनोयोग पूर्वक अवश्य पढ़ना चाहिए। ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

हृ पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल

## आत्म कथ्य

द्रव्यानुयोग का शिरोमणि पंचास्तिकाय परमागम, आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव की अनुपम कृति है। आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ पर, समयसार व्याख्या नामक अद्भुत टीका लिखी है ॥१॥

हृ हृ हृ  
आचार्य जयसेन स्वामी ने समय व्याख्या का समर्थन करते हुये, अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय भी दिया है। कविवर हीरानन्दजी ने हिन्दी आंचलिक भाषा में, काव्य लिखकर हिन्दी भाषी पाठकों पर अनंत उपकार किया है ॥२॥

हृ हृ हृ  
सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ पर, व्याख्यान देकर षट्द्रव्यों एवं पंचास्तिकायों के हृ स्वरूप को समझाकर मधुर वाणी द्वारा अमृतरस घोला है, सरल भाषा में गंभीर विषयों का रहस्य खोला है ॥३॥

हृ हृ हृ  
उपर्युक्त सभी मनीषियों ने अपनी-अपनी योग्यता प्रमाण हृ जिसमें निरपेक्ष भाव से कहने की कोशिश की है। वह ग्रन्थ प्रतिदिन पठनीय तो है ही, श्रद्धेय एवं आचरणीय भी है; क्योंकि वस्तुस्वातंत्र्य का पोषक एवं सागर का शोषक भी हैं ॥४॥

हृ हृ हृ  
मैंने सभी मनीषियों के मूल अभिप्राय को समझ कर, उसे सरलतम भाषा में अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। अपनी योग्यतानुसार वस्तु के सम्यक् स्वरूप को कहने का हृ लघुप्रयास किया है, मैंने स्वयं भी अमृतरसपान किया है ॥५॥

हृ पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल

## विषयानुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ
	● समर्पण	III
	● प्रकाशकीय	IV-V
	● परिशीलन : प्रयोजन और विषय	VI
	● आत्मकथ्य	VII
	● विषयानुक्रमणिका	VIII
	● पृष्ठभूमि	१-२८
	● प्रस्तावना	२९-३६
	● मंगलाचरण एवं ग्रन्थ प्रारंभ	१-३
१.	षड्द्रव्य पंचास्तिकाय गाथा १ से २६	४-११०
२.	जीव द्रव्यास्तिकाय गाथा २७ से ७३	१११-२६४
३.	पुद्गल द्रव्यास्तिकाय गाथा ७४ से ८२	२६५-२९१
४.	धर्म द्रव्यास्तिकाय व अधर्मद्रव्यास्तिकाय गाथा ८३ से ८९	२९२-३०८
५.	आकाश द्रव्यास्तिकाय गाथा ९० से ९६	३०९-३२२
६.	चूलिका गाथा ९७ से ९९	३२३-३२९
७.	काल द्रव्य गाथा १०० से १०२	३३०-३३५
८.	उपसंहार गाथा १०३ से १०४	३३६-३४०
९.	नवपदार्थ एवं मोक्षमार्ग प्रपंच गाथा १०५ से १०८	३४१-३५०
१०.	जीव पदार्थ गाथा १०९ से १२३	३५१-३८९
११.	अजीव पदार्थ गाथा १२४ से १३०	३९०-३९९
१२.	पुण्य-पाप पदार्थ गाथा १३१ से १३४	४००-४१०
१३.	आस्रव पदार्थ गाथा १३५ से १४०	४११-४२३
१४.	संवर पदार्थ गाथा १४१ से १४३	४२४-४३०
१५.	निर्जरा पदार्थ गाथा १४४ से १४६	४३१-४३८
१६.	बंध पदार्थ गाथा १४७ से १४९	४३९-४४४
१७.	मोक्ष पदार्थ गाथा १५० से १५१	४४५-४४८
१८.	ध्यान सामान्य गाथा १५२-१५३	४४९-४५३
१९.	मोक्षमार्ग प्रपंच चूलिका गाथा १५४-१७३	४५४-५०८

प्रस्तावना

पंचास्तिकाय परिशीलन

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद समग्र आचार्य परम्परा में एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया गया है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा से स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर जैन परम्परा में कुन्द-कुन्द का स्थान बेजोड़ है।

निम्नांकित छन्द से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है ह

**मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी ।**

**मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥**

श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि, विन्ध्यगिरि के शिलालेखों से; नन्दिसंघ पट्टावली एवं जैन शिलालेख संग्रह आदि में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दि में कौन्दकुन्दपुर (कर्नाटक) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य हो गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द को चारणऋद्धि प्राप्त थी तथा उनका प्रथम नाम पद्मनन्दी था। कौन्दकुन्दपुर के वासी होने से उनका कुन्दकुन्द नाम प्रचलित हुआ।

कहा जाता है कि एकबार आचार्य कुन्दकुन्द को बहुत गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई विषय स्पष्ट समझ में नहीं आ रहा था, उसी चिन्तन में डूबे कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमन्धर स्वामी को परोक्ष नमन किया। उनके नमन के निमित्त से सीमन्धर स्वामी की दिव्यवाणी में सहज ही उनके लिए आशीर्वचन प्रस्फुटित हो गया। जिसे सुनकर वहाँ उपस्थित दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों के मन में यह शंका हुई

कि सीमन्धर स्वामी की दिव्यध्वनि के बीच में यह आशीर्वचन किसको और क्यों?

तीर्थकर की वाणी के अतिशय से उनका तुरन्त ही समाधान भी हो गया। तदनुसार धर्मस्नेह से प्रेरित होकर वे चारण ऋद्धि के धारक मुनि आचार्य कुन्दकुन्द को आकाशमार्ग से विदेह क्षेत्र में विराजमान सीमन्धर स्वामी के समवशरण में ले गये। वहाँ से लौटकर आचार्य कुन्दकुन्द ने ८४ पाहुड़ों की रचना की। इन्हीं ८४ पाहुड़ों में से 'पंचास्तिकाय संग्रह' एक पाहुड़ है। यद्यपि इसमें पंच अस्तिकाय द्रव्यों की मुख्यता से कथन किया गया है, इसकारण इसका नाम पंचास्तिकाय है, फिर भी गौणरूप से काल द्रव्य की भी चर्चा है, जो अस्तिकाय नहीं है।

इस ग्रन्थ पर तात्पर्यवृत्ति नामक टीका लिखने वाले टीकाकार आचार्य जयसेन यह लिखते हैं कि - "कुन्दकुन्दाचार्य ने विदेह क्षेत्र में जाकर, समवशरण में उपस्थित रहकर विद्यमान अर्हन्त परमात्मा सीमन्धर स्वामी की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनी, उनकी दिव्यवाणी द्वारा शुद्धात्मतत्व और वस्तुस्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तों को सुना और उनसे महिमा मण्डित होकर वे वहाँ से लौटकर भरत क्षेत्र में आये। यहाँ भव्यजीवों के भाग्योदय और हम सबकी भली होनहार से उन्हें ऐसा विकल्प आया कि 'जो निधि मुझे प्राप्त हुई है, क्यों न उसे सुपात्र पाठकों तक पहुँचाई जाये?'

यद्यपि वे अपने जागृत विवेक एवं श्रद्धा से यह जानते और मानते थे कि ह "मैं इसका कर्ता नहीं हूँ"; फिर भी भूमिकानुसार विकल्प आये बिना नहीं रहता। ऐसा ही कुछ उनके साथ हुआ और उनके द्वारा ८४ पाहुड़ों की रचना हो गई।

विश्वव्यवस्था और वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त जैनदर्शन के प्राण हैं। जिनागम में विविध आयामों से जो कुछ भी कहा गया है, सबका मूल आधार विश्वव्यवस्था के अन्तर्गत स्वतः परिणामित छह द्रव्य, सात तत्व और नव पदार्थ ही हैं। यही पंचास्तिकाय संग्रह ग्रन्थ की विषयवस्तु है। इन्हें जाने बिना प्रवचनसार और समयसार जैसे गंभीर ग्रन्थों की विषय

वस्तु भी समझ में नहीं आ सकती। एतदर्थ पंचास्तिकाय ग्रन्थ का अध्ययन अति आवश्यक है।

इस ग्रन्थ में प्रतिपादित अनादिनिधन स्वसंचालित विश्वव्यवस्था के अन्तर्गत कराया गया छह द्रव्यों के स्वरूप का ज्ञान वह संजीवनी है जो जैनदर्शन के प्राणभूत वस्तुस्वातंत्र्य को एवं स्वसंचालित विश्वव्यवस्था को जीवनदान देती है। अतः यह ग्रन्थ सर्वप्रथम स्वाध्याय करने योग्य है। इसकी प्राथमिक जानकारी के बिना जैनदर्शन के प्राणभूत अध्यात्म में प्रवेश पाना ही अति दुर्लभ है।

यद्यपि मूल ग्रन्थ की विषयवस्तु बुद्धिगम्य है, संक्षिप्त है, सरल है; सामान्य स्वाध्यायी प्रायः पंचास्तिकाय की स्थूल परिभाषाओं से परिचित भी होते हैं; परन्तु इसके अन्तर्गत आया स्व-संचालित द्रव्यव्यवस्था का यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, इसकारण इसे समझने के लिए बुद्धि का पैनापन तो अपेक्षित है ही, कर्त्ताबुद्धि आदि के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अपने मन-मस्तिष्क को कोरे कागज की तरह साफ सुथरा रखकर श्रद्धा से गंभीरतापूर्वक समझना भी अति आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं इस संदर्भ में इस पंचास्तिकाय ग्रन्थ की अन्तिम गाथा (१७३) में कहते हैं कि "मेरे द्वारा जिनप्रवचन के सारभूत इस पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र को मार्ग की प्रभावना हेतु जिनप्रवचन की भक्ति से प्रेरित होकर कहा गया है।"

अन्तिम गाथा १७३ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ह "परमागम के अनुराग के वेग से चलायमान मनवाले मुझसे जिनप्रवचन के सारभूत इस पंचास्तिकाय संग्रह नामक ग्रन्थ की टीका लिखी गई है।"

इस ग्रन्थ के स्पष्ट रूप से दो खण्ड हैं; प्रथम श्रुतस्कन्ध खण्ड में षट्द्रव्य-पंचास्तिकाय का वर्णन है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध खण्ड में नवपदार्थ पूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण है। इन्हें आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयव्याख्या' नामक टीका में 'श्रुतस्कन्ध' नाम से ही अभिहित किया है।



यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन जैसे सूक्ष्मदर्शी दो-दो समर्थ टीकाकार जिसकी टीका लिखने के लोभ का संवरण नहीं कर पाये, उस कुन्दकुन्द के मूल प्रतिपाद्य में निःसंदेह कुछ विशेषतायें तो हैं ही, जिन्हें लिखकर टीकाकार द्वय ने पाठकों का मार्ग सुगम किया है।

प्रस्तुत पञ्चास्तिकाय संग्रह में शिवकुमार आदि संक्षेप रुचि वाले प्राथमिक शिष्यों को समझाने के लिए पाँच अस्तिकायों, छहद्रव्यों, सात तत्त्वों एवं नौ पदार्थों का विवेचन किया है।

‘प्रस्तुत पञ्चास्तिकाय संग्रह’ ग्रन्थ पर अनेक टीकायें उपलब्ध हैं ह जिनमें आचार्य अमृतचन्द्र की ‘समयव्याख्या’ टीका तथा दूसरी आचार्य जयसेन की ‘तात्पर्यवृत्ति’ टीका उन सब टीकाओं में ये दो टीकायें बहु-प्रचलित हैं। इन्होंने अपनी टीकाओं में विस्तार से ग्रन्थ का मर्म खोला है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने पञ्चास्तिकाय को जिन दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित किया है, उसके पूर्व भाग को पीठिका और अन्तिम भाग को चूलिका नाम दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार १७३ गाथायें हैं तथा आचार्य जयसेन की टीका के अनुसार १८१ गाथायें हैं। यहाँ दो स्कन्धों से तात्पर्य दो अलग-अलग प्रकार से विभाजित विषय से हैं। इनसे एक-दूसरे को समझने में सहायता मिलती है।

आचार्य जयसेन की टीकाओं में आचार्य अमृतचन्द्र की टीका से जो ८ गाथायें अधिक हैं, वे प्रथम अधिकार में जीवास्तिकाय के वर्णन में गाथा क्रमांक ४३ के बाद ६ गाथायें हैं तथा पुद्गलास्तिकाय के वर्णन में गाथा क्रमांक ७६ के बाद १ तथा द्वितीय अधिकार में व्यवहार-रत्नत्रय के स्वरूप वर्णन में गाथा क्रमांक १०६ के बाद १ गाथा आई है।

इस ग्रन्थ के स्पष्ट रूप से दो खण्ड हैं, जिन्हें समय व्याख्या टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रथम श्रुतस्कन्ध एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध नाम दिये हैं।

प्रथम खण्ड में द्रव्य स्वरूप के प्रतिपादन द्वारा शुद्ध तत्व का उपदेश दिया है और द्वितीय खण्ड में पदार्थों के भेदों द्वारा शुद्धात्म तत्व की प्राप्ति का मार्ग दिखाया है।

प्रथम खण्ड के प्रतिपादन का उद्देश्य शुद्धात्मतत्व का सम्यक्ज्ञान कराना है और दूसरे खण्ड के प्रतिपादन का उद्देश्य पदार्थों के भेदविज्ञानपूर्वक मुक्ति का मार्ग अर्थात् शुद्धात्मतत्व की प्राप्ति का मार्ग दर्शाना है।

उक्त दोनों खण्ड इतने विभक्त हैं कि दो स्वतंत्र ग्रन्थ से प्रतीत होते हैं। दोनों के एक जैसे स्वतंत्र मंगलाचरण किये गये हैं। प्रथमखण्ड समाप्त करते हुए उपसंहार भी इसप्रकार कर दिया गया है कि जैसे ग्रन्थ समाप्त ही हो गया हो। प्रथम खण्ड की समाप्ति पर ग्रन्थ के अध्ययन का फल भी निर्दिष्ट कर दिया गया है। दूसरा खण्ड इसप्रकार आरम्भ किया गया है, मानो ग्रन्थ का ही आरम्भ हो रहा है।

दूसरे खण्ड के अन्त में चूलिका के रूप में तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक (पञ्चास्तिकाय, षट्द्रव्य एवं नवपदार्थों के यथार्थ ज्ञानपूर्वक) सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की एकतारूप से उत्तम मोक्षप्राप्ति कही है।

तात्पर्यवृत्तिकार आचार्य जयसेन इस ग्रन्थ को तीन महा-अधिकारों में विभक्त करते हैं। आचार्य जयसेन द्वारा विभाजित प्रथम महा अधिकार तो आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा विभाजित प्रथम श्रुतस्कन्ध के अनुसार ही है। अमृतचन्द्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को जयसेनाचार्य ने द्वितीय एवं तृतीय हू ऐसे दो महाधिकारों में विभक्त कर दिया है। उसमें भी कोई विशेष बात नहीं है। बात मात्र इतनी ही है कि जिसे अमृतचन्द्र ‘मोक्षमार्ग-प्रपञ्चचूलिका’ कहते हैं, उसे ही जयसेनाचार्य तृतीय महा-अधिकार कहते हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में सर्वप्रथम मंगलाचरण के उपरान्त २६ गाथाओं में षट्द्रव्य एवं पञ्चास्तिकाय की सामान्य पीठिका दी गई है। उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और गुण-पर्यायत्व के कारण अस्तित्व एवं बहुप्रदेशत्व के कारण कायत्व सिद्ध किया गया है।

(7)

‘अस्तिकाय’ शब्द अस्तित्व और कायत्व का द्योतक है। अस्तित्व को सत्ता या सत् भी कहते हैं। यही ‘सत्’ द्रव्य का लक्षण कहा गया है,

जो कि उत्पाद-व्यय और ध्रुवत्व से सहित है। द्रव्य के लक्षण में कायत्व को ग्रहण नहीं किया; क्योंकि 'कालद्रव्य' द्रव्य तो है; पर वह कायवान नहीं है। यदि 'काय' को द्रव्य के लक्षण में शामिल करते तो कालद्रव्य को द्रव्यपना नहीं ठहरता।

इसके बाद १२-१३वीं गाथा में गुण और पर्यायों का द्रव्य के साथ भेदाभेद दर्शाया गया है और १४ वीं गाथा में तत्सम्बन्धी सप्तभंगी स्पष्ट की गई है। तदुपरान्त सत् का नाश और असत् का उत्पाद सम्बन्धी स्पष्टीकरण के साथ २०वीं गाथा तक पञ्चास्तिकायद्रव्यों का सामान्य निरूपण हो जाने के बाद २६वीं गाथा तक कालद्रव्य का निरूपण किया गया है।

इसके बाद छह द्रव्यों एवं पञ्चास्तिकायों का विशेष व्याख्यान आरम्भ होता है। सबसे पहले जीवद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान है, जो अत्यधिक महत्वपूर्ण होने से सर्वाधिक स्थान लिए हुए हैं। यह ७३वीं गाथा तक चलता है। ४७ गाथाओं में फैले इस प्रकरण में आत्मा के स्वरूप को जीवत्व, चेतयित्व, प्रभुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, देहप्रमाणत्व, अमूर्तत्व और कर्मसंयुक्तत्व के रूप में स्पष्ट किया गया है।

उक्त सभी विशेषणों से विशिष्ट आत्मा को संसार और मुक्त हू दोनों अवस्थाओं पर घटित करके समझाया गया है।

इसके बाद नौ गाथाओं में पुद्गल द्रव्यास्तिकाय का वर्णन है और सात गाथाओं में धर्म-अधर्म दोनों ही द्रव्यास्तिकायों का वर्णन है, तथा सात गाथाओं में ही आकाश-द्रव्यास्तिकाय का निरूपण किया गया है। इसके बाद तीन गाथाओं की चूलिका है, जिसमें उक्त पञ्चास्तिकायों का मूर्तत्व-अमूर्तत्व, चेतनत्व-अचेतनत्व बतलाया गया है।

तदनन्तर तीन गाथाओं में कालद्रव्य का वर्णन कर अन्तिम दो गाथाओं में प्रथम श्रुतस्कन्ध अथवा प्रथम महा-अधिकार का उपसंहार करके इसके अध्ययन का फल बताया गया है।

इसप्रकार एक सौ चार गाथाओं का प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त होता है।

## द्वितीय श्रुतस्कन्ध

यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध एक सौ पाँच वीं गाथा से आरंभ होता है। यहाँ मंगलाचरण के उपरान्त मोक्ष के मार्गस्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का निरूपण किया है। इसके बाद नवपदार्थों का वर्णन प्रारंभ होता है, जो कि इस खण्ड का मूल प्रतिपाद्य है।

१०९वीं गाथा से जीवपदार्थ का निरूपण आरम्भ होता है और वह १२३वीं गाथा तक चलता है। इसमें सर्वप्रथम जीव के संसारी और मुक्त भेद किये गये हैं। फिर संसारियों के एकेन्द्रियादिक भेदों का वर्णन है।

एकेन्द्रिय के वर्णन में विशेष जानने योग्य बात यह है कि इसमें वायुकायिक और अग्निकायिक को त्रस कहा गया है। यह कथन उनकी हलन-चलन क्रिया देखकर 'त्रसन्तीति त्रसाः ह्व जो चले-फिरे सो त्रस' ह्व इस निरुक्ति के अनुसार ही अर्थ किया गया है। अतः 'द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः' ह्व इस तत्त्वार्थसूत्रवाली परिभाषा को यहाँ घटित नहीं करना चाहिए।

अन्त में सिद्धों की चर्चा है। साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये सब कथन व्यवहार का है, निश्चय से ये सब जीव नहीं है। इसका उल्लेख १२१वीं गाथा में इसप्रकार है ह्व

“इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं और पृथ्वीकायादि छह प्रकार की कार्यें भी जीव नहीं हैं; उनमें रहनेवाला 'ज्ञान' लक्षणवाला अमूर्त अतीन्द्रिय पदार्थ ही जीव हैं ह्व ज्ञानीजनों द्वारा ऐसी ही प्ररूपणा की जाती है।”

१२४वीं गाथा से १२७वीं गाथा तक अजीव पदार्थ का वर्णन है; जिसमें बताया गया है कि सुख-दुःख तथा हित के अहित के ज्ञान से रहित पुद्गल व आकाशादि द्रव्य अजीव हैं। संस्थान, संघात, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि गुण व पर्यायें भी पुद्गल की हैं; आत्मा तो इनसे भिन्न अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अव्यक्त, इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य एवं अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है।



ध्यान रहे, आचार्य कुन्दकुन्द के पाँचों परमागमों में प्राप्त होने वाली 'अरसमरूवमगंधं' गाथा पञ्चास्तिकाय की १२७वीं गाथा है और अजीव पदार्थ के व्याख्यान में आयी है। इस गाथा की टीका के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :ह "इसप्रकार यहाँ जीव और अजीव का वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि के हेतु प्रतिपादित किया गया।"

उक्त जीव और अजीव के व्याख्यान के बाद उनके संयोगी परिणाम से निष्पन्न आस्रव, बंध, संवर आदि शेष सात पदार्थों के उत्पत्ति स्थान के हेतुभूत भावकर्म, द्रव्यकर्म के दुष्चक्र का वर्णन किया गया है। इसके बाद चार गाथाओं में पुण्य-पाप पदार्थ का व्याख्यान किया है। इसके बाद (१३५ से १४०) छह गाथाओं में आस्रव पदार्थ का निरूपण है।

विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि आस्रव के कारणों में अरहंतादि की भक्ति को भी गिनाया है। वहाँ कहा है कि ह

“अरहंत सिद्ध साहुसु भक्ति धम्मामि जाय खलु चेद्धा ।

अणुगमणं यि गुरुणं पसत्थरागो ति बुच्चंति ॥१३६॥

उपर्युक्त अरहंत आदि पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के प्रति भक्ति, पूजा-आदि व्यवहार धर्म में आचरण और धर्म गुरुओं के प्रति प्रशस्त राग ह्व ये सब शुभभाव हैं। यद्यपि यह शुभ भाव उनके लिए उपयोगी है, जो अभी आत्मस्वभाव में स्थिर रहने में असमर्थ है। यदि वह पुरुषार्थ हीन व्यक्ति शुभ में नहीं रहेगा तो अशुभ में चला जायेगा। अतः अशुभ से बचने के लिए और वीतराग मार्ग में अग्रसर होने के लिए बीच-बीच में ज्ञानी को भी पंचपरमेष्ठी की शरण में आना ही पड़ता है, परन्तु जो शुभ में धर्म मान कर अटक जाते हैं, वे मोक्षमार्ग से भटक जाते हैं। अतः अशुभभाव में रहना नहीं, शुभभाव में अटकना नहीं और वीतरागता से भटकना नहीं है ह्व यही जिनवाणी का संदेश है। ●



## पञ्चास्तिकाय परिशीलन

ग्रन्थ के प्रारम्भ में कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत प्राकृत गाथाओं पर 'समयव्याख्या' नाम की संस्कृत टीका लिखनेवाले आचार्य श्री अमृतचन्द्र मंगलाचरण के रूप में सर्वप्रथम कारणपरमात्मा को नमस्कार करते हैं।

### मंगलाचरण

सहजानन्दचैतन्यप्रकाशाय<sup>१</sup> महीयसे ।

नमोऽनेकान्तविश्रान्तमहिम्ने<sup>२</sup> परमात्मने<sup>३</sup> ॥१॥

(सजानन्दचैतन्यप्रकाशाय) सहज आनन्द व सहज चैतन्यमय होने से जो (महीयसे) अतिमहान है [ तथा ] (अनेकान्तविश्रान्तमहिम्ने) अनन्त धर्ममय होने से महिमामण्डित हैं। तत् (परमात्मने) उन कारण परमात्मा को (नमो) नमस्कार है।

सहज आनन्द एवं सहज चैतन्यप्रकाशमय होने से जो अति महान हैं तथा अनन्तधर्ममय होने से जो महिमा मण्डित हैं, उन कारणपरमात्मा को नमस्कार हो।

इस श्लोक में 'सहजानन्द' और 'सहज चैतन्य प्रकाश' तथा 'अनन्त धर्मों में विश्रान्त' आदि सभी विशेषण शुद्धात्मा-कारणपरमात्मा के हैं; उसे ही सर्वप्रथम नमन किया है। इससे स्पष्ट है कि टीकाकार आचार्य

अमृतचंद्रदेव शुद्धात्मा के प्रति ही अधिक समर्पित हैं, उनके हृदय में कारणपरमात्मा के प्रति अधिक झुकाव है; क्योंकि कारणपरमात्मा के आश्रय या अवलम्बन से ही तो अरहंत-सिद्धस्वरूप कार्य परमात्मा बनते हैं, आचार्यदेव को कारणपरमात्मा के साथ कार्यपरमात्मा अर्थ भी अभीष्ट है; अतः परोक्षरूप से कार्यपरमात्मा को भी नमन हो ही गया।

अब टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव जिनवाणी की स्तुति करते हैं ह  
**दुर्निवार - नयानीक - विरोध - ध्वंसनौषधि।**

**स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्त पद्धतिः ॥२॥**

स्यात्कार है जीवन जिसका, जिनेन्द्र भगवान की ऐसी सिद्धान्त पद्धति अर्थात् स्याद्वाद शैली दुर्निवार नयचक्र में दिखाई देनेवाले विरोध रूपी रोग को नाश करने के लिये उत्कृष्ट औषधि है। वह सदा जयवन्त वर्ते, जीवित रहे।

‘स्यात्’ पद जिनदेव की अनैकान्तिक सिद्धान्त-पद्धति का जीवन है। स्यात्=कथंचित्, वाद=कथन ह किसी अपेक्षा से अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप का कथन करना ही स्याद्वाद है, जो कि नयों के दुर्निवार विरोध का शमन करने में समर्थ है।

‘प्रत्येक वस्तु नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक (अनन्त) धर्ममय है। वस्तु को सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य मानने में पूर्ण विरोध आता है तथा कथंचित् (द्रव्य अपेक्षा से) नित्यता और कथंचित् (पर्याय अपेक्षा से) अनित्यता मानने में किंचित् भी विरोध नहीं आता है’ ह जिनवाणी स्यात्कार शब्द के द्वारा ऐसा स्पष्ट समझाती है।

इसप्रकार जिनेन्द्रभगवान की वाणी स्याद्वाद द्वारा सापेक्ष कथन से वस्तु का यथार्थ निरूपण करके, वस्तु में नित्यत्व-अनित्यत्वादि धर्मों में तथा उन-उन धर्मों को बतलानेवाले नयों में अबाधित रूप से अविरोध (सुमेल) सिद्ध करती है और उन धर्मों के बिना वस्तु की निष्पत्ति ही नहीं हो सकती है ह ऐसा निर्बाधरूप से स्थापित करती है।

अब टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र इस शास्त्र की समय व्याख्या नाम से टीका रचने की प्रतिज्ञा करते हैं।

**सम्यग्ज्ञानामलज्योतिर्जननी द्विनयाश्रया।**

**अथातः समयव्याख्या संक्षेपेणाभिधीयते ॥३॥**

जो टीका सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल-ज्योति की जननी है, दो नयों का आश्रय करनेवाली है। अब ऐसी समयव्याख्या नामक टीका संक्षेप से कही जाती है।

इस तीसरे श्लोक में समयव्याख्या नामक टीका द्वारा पञ्चास्तिकाय की व्याख्या; द्रव्य की व्याख्या एवं पदार्थ की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की गई है; इनका विशेष स्पष्टीकरण करने का संकल्प किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने ‘समयव्याख्या’ नामक टीका के मंगलाचरण के साथ ही तीन श्लोकों द्वारा पञ्चास्तिकायसंग्रह के प्रतिपाद्य को स्पष्ट कर दिया है। जो कि इसप्रकार है ह

**‘पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम्।**

**पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृता कृतम् ॥४॥**

**जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।**

**ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता ॥५॥**

**ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना।**

**प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा ॥६॥**

यहाँ सबसे पहले चौथे श्लोक के माध्यम से सूत्रकर्ता ने पञ्चास्तिकाय एवं षड्द्रव्य के रूप में मूलपदार्थों का निरूपण किया है।

इसके बाद पाँचवें श्लोक के माध्यम से दूसरे खण्ड में जीव और अजीव ह इन दो की विविध स्वभाववाली पर्यायरूप नवपदार्थों की व्यवस्था का प्रतिपादन किया है।

इसके बाद छठवें श्लोक में दूसरे खण्ड के अन्त में चूलिका के रूप में तत्त्व के परिज्ञान-पूर्वक (पञ्चास्तिकाय, षड्द्रव्य एवं नवपदार्थों के यथार्थ ज्ञानपूर्वक) त्रयात्मक मार्ग से (सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र की एकतारूप मार्ग से) कल्याणस्वरूप उत्तम मोक्षप्राप्ति का उल्लेख किया है।” ●

## गाथा १

सर्वप्रथम ग्रन्थ के आरंभ में ग्रन्थकर्ता आचार्य कुन्दकुन्ददेव जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करते हैं। मूलगाथा इसप्रकार है ह

**इंदसदवंदियाणं तिहुवणहिदमधुरविसदवक्काणं ।**

**अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं ॥१॥**

(हरिगीत)

शतइन्द्रवन्दितत्रिजगहितकर, विशद मधु जिनके वचन ।

अनन्त गुणमय भव विजेता, जिनवरों को है नमन ॥१॥

जो सौ इन्द्रों से वन्दित हैं; जिनकी वाणी तीन लोक को हितकर, मधुर एवं विशद है, निर्मल है, स्पष्ट है; जिनमें अनन्त गुण वर्तते हैं और जिन्होंने भव पर विजय प्राप्त की है; उन जिनवर को नमस्कार हो ।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द समयव्याख्या टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ।

“अब यहाँ जिनवरदेवों को नमस्कार हो - ऐसा कहकर शास्त्र के आदि में जिनेन्द्र भगवान को भावनमस्कार रूप असाधारण मंगल किया है ।

जो अनादि प्रवाह से प्रवर्तते हुए अनादिकाल से चले आ रहे हैं, वे जिनेन्द्र भगवान देवाधिदेवपने के कारण सौ-सौ इन्द्रों से बन्दित हैं; जिनेन्द्र देव की वाणी अर्द्ध-मध्य एवं अधोलोक के समस्त प्राणियों को विविध विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि करानेवाली होने से हितकर है; परमार्थिक रसिकजनों के मन को हरनेवाली होने से मधुर हैं तथा “समस्त शंकादि दोषों के स्थान दूर कर देने से विशद हैं, निर्मल हैं, स्पष्ट हैं” ह्व ऐसा कहकर यह कहा है कि वे जिनेन्द्र भगवान समस्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप के उपदेशक होने से विचारवंत बुद्धिमान पुरुषों से बहुमान प्राप्त करने के योग्य हैं ।

‘अनन्तगुणमय’ अर्थात् जो क्षेत्रकाल से अनन्त, परम चैतन्य शक्ति के विकास रूप पुष्पवंत हैं ह्व ऐसा कहकर जिनको परम अद्भुत ज्ञानातिशय प्रगट होने के कारण ज्ञानातिशय को प्राप्त सर्व योगीन्द्रों से वंद्य है ।

उक्त कथन के भावार्थ में भव अर्थात् संसार पर जिन्होंने विजय प्राप्त की है - ऐसा कहकर कृतकृत्यपना प्रगट हो जाने से वे ही जिन अन्य अकृतकृत्य जीवों को शरणभूत हैं - ऐसा उपदेश दिया है । - ऐसा सर्वपदों का तात्पर्य है । जिनभगवन्तों के निम्नांकित चार विशेषणों का वर्णन करके उन्हें भाव नमस्कार किया गया है । जो इसप्रकार हैं -

**प्रथम तो,** जिनभगवन्त सौ इन्द्रों से वंद्य हैं । जिनेन्द्र भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई भी देव सौ इन्द्रों से वन्दित नहीं है ।

**दूसरे ह्व** जिनभगवान की वाणी तीन लोक को शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय दर्शाती है, इसलिए वे हितकर हैं ।

**तीसरे ह्व** वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न सहज-अपूर्व-परमानन्दरूप वह वाणी मधुर अर्थात् रसिकजनों के मन को हरती है, मुदित करती है; इसलिए मधुर है ।

**चौथे ह्व** विशद अर्थात् शुद्ध जीवास्तिकायादि सात तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य और पाँच अस्तिकाय का संशय-विमोह-विभ्रम रहित निरूपण करती है; इसलिये पूर्वापर विरोधादि दोष रहित होने से युगपद् सर्व जीवों को अपनी-अपनी भाषा में स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादन करती है, इसलिए विशद-स्पष्ट है । इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान की वाणी प्रमाणभूत है । गणधरदेवादि योगीन्द्रों से भी वंद्य हैं ।

कृतकृत्यपने के कारण वे अरहन्तदेव ही अन्य अकृतकृत्य जीवों को शरणभूत हैं, दूसरा कोई नहीं ।

इसप्रकार चार विशेषणों से युक्त जिनभगवन्तों को ग्रन्थ के आदि में भाव नमस्कार करके मंगल किया है ।

**प्रश्न :** ह्व जो शास्त्र स्वयं ही मंगल है, उसका मंगल किसलिए किया जाता है?

उत्तर :ह्म भक्ति के हेतु से मंगल का भी मंगल किया जाता है। जिस तरह सूर्य की दीपक से, महासागर की जल से, वागीश्वरी की वाणी से पूजा की जाती है, उसी तरह मंगल की मंगल से अर्चना की जाती है।

यह पञ्चास्तिकाय संग्रह शिवकुमार आदि शिष्यों के लिए बनाया गया है। इस ग्रन्थ के बनाने का हेतु अज्ञान का नाश, सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति और शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति है।

इस गाथा का भाव आध्यात्मिक सत्पुरुष कानजीस्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्म यह पञ्चास्तिकाय के मंगलाचरण की गाथा है। इसमें जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया गया है। मंगलाचरण से ज्ञान में वृद्धि होती है, विघ्न का नाश होता है। सुख प्राप्त होता है।

इस पञ्चास्तिकाय के यथार्थ ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञानस्वभाव की प्राप्ति है; पाठक सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके चैतन्य का अनुभव करें ह्म यही शास्त्र का फल है।

भगवान को अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन आदि अनन्त गुण प्रकट हो गये हैं। यद्यपि वे केवलज्ञान से समस्त वस्तुओं को क्षेत्र और काल की मर्यादा रहित जानते हैं; परन्तु उनके वे ज्ञानादि गुण अपने असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में ही रहते हैं।

जिन्होंने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भावरूप पंच प्रकार के परावर्तन को जीत लिया है। वे कृतकृत्य हो गये हैं, उन्हें जो करने योग्य था, उन्होंने वह सब कर लिया है और संसार से जीवनमुक्त हो गये हैं।

कितने ही लोग कहते हैं कि भगवान ने दूसरों का भला किया, उपदेश दिया, तीर्थ की स्थापना की, और जगत को सत्य समझाया, परन्तु यह सब निमित्त की अपेक्षा किए गये कथन हैं।

वस्तुतः भगवान ने पर का कुछ भी कार्य नहीं किया है; क्योंकि कोई भी जीव पर का कुछ कर ही नहीं सकता। भगवान ने स्वयं अपने

में भावमोक्ष की पर्याय का उत्पाद किया और संसारपर्याय का अभाव किया, इसके अलावा अन्य कुछ नहीं किया है।

भगवान तारण-तरण हैं ह्म ऐसा भी कथन आता है, पर इस कथन का अर्थ यह है कि जब दूसरे जीव स्वयं तिरते हैं तो भगवान निमित्त कहलाते हैं। वस्तुतः कोई किसी को शरण नहीं दे सकता। जीव अपने आत्मा की सच्ची समझ करके स्वरूप में एकाग्र होकर राग और अल्पज्ञता का अभाव करके वीतराग-सर्वज्ञपद प्रकट करता है तो भगवान निमित्त कहलाते हैं। स्वरूप को जाने बिना और उसकी शरण बिना भगवान की शरण निमित्त नाम भी नहीं पाती। स्वभाव की शरण लेने वाले के लिए भगवान की शरण निमित्त कहलाती है।”<sup>१</sup>

इसी बात को कवि हीरानन्दजी दो पद्यों में कहते हैं -

(दोहा)

इंद सतनिकरि वंदि पद, हित-मित-निर्मल बोल।

गुन अनंत जिनराज पद, नमौं विगत-भवडोल ॥१७॥

जिनके चरण कमल सौ इन्द्रों द्वारा वन्दनीय हैं, जिनके वचन हितमित और निर्मल हैं, जो भव भ्रमण से रहित एवं अनन्त गुणों के धारक हैं; मैं उन जिनराज के चरण कमलों की वन्दना करता हूँ।

(सवैया इकतीसा)

जाकौं इंद वंदें तिहुँ लोक के त्रिकाल विषै,

ताहीतैं त्रिलोक पति नाम गाईयतु है।

जीवहितकारी मनोहारी सुधा दिव्यवानी,

याहि मानि पुरुष पुरान ध्याईयतु है ॥

भवकौ भ्रमन हरौ करता था सोई करौ,

ग्यानकौ अपार जामें सदा पाईयतु है।

सुद्धि सादि साधिवेकौ भाव बढै जानिकरि,

ताकौं जिन ईस जानि सीस नाईयतु है ॥१८॥

(12)

मध्यलोक के इन्द्र अर्थात् चक्रवर्ती, ऊर्ध्वलोक के इन्द्र अर्थात् देवेन्द्र और अधोलोक के इन्द्र अर्थात् नागेन्द्र ह इसप्रकार तीन लोक के इन्द्र जिसकी वंदना तीनों काल में करते हैं; इसकारण जिनका नाम त्रिलोकपति के रूप में गाया है; सभी प्राणियों का हित करनेवाली मनोहारी अमृतमयी दिव्यवाणी के कारण जिनका ध्यान पुराणपुरुष के रूप में किया जाता है; संसारभ्रमण के हरने वाले, स्वकर्तव्य के कर्ता और अपार ज्ञान जिनमें सदा पाया जाता है; ऐसे शुद्धोपयोग के साधक जिनेन्द्र भगवान के चरणों में मस्तक नवाता हूँ। इसप्रकार नमस्कार करके कवि हीरानन्दजी निम्न दोहों में कहते हैं कि -

(दोहा)

‘नमो जिनानं’ यह वचन, दरव नमन करि जान।  
असद्भूत विवहार है, जानै परम सुजान ॥२१॥  
साधन साधि जुदानकों, मानै एक बनाय।  
सो निहचै नय सुद्ध है, सुनत करम कट जायँ ॥२२॥

नमो जिनान वचन द्रव्य नमस्कार है तथा यह असद्भूत व्यवहारनय का कथन है - ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

जिसमें साधन-साध्य को अभेद रूप से ग्रहण करते हैं वह शुद्ध निश्चय का विषय है, ऐसा श्रद्धापूर्वक सुनने एवं अनुभवन करने से कर्म कट जाते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में मंगलाचरण के रूप में नमन करते हुए कहा है कि - जिनेन्द्र देव सौ इन्द्रों से वंदित हैं। उनकी वाणी हितकर, मधुर एवं विशद् हैं, निर्गल हैं उनमें अनन्तगुण वर्तते हैं। भाव नमस्कार इसप्रकार किया है।

## गाथा २

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रथम गाथा में मंगलाचरण किया। अब इस गाथा में श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए एवं सर्वज्ञ भासित मुक्ति के हेतु समय को अर्थात् जिनशास्त्रों को नमस्कार करते हुए पंचास्तिकाय का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह

समणमुहुग्गदमट्टं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।  
एसो पणमिय सिरसा समयमिणं सुणह वोच्छामि ॥२॥

(हरिगीत)

सर्वज्ञभाषित भवनिवारक मुक्ति के जो हेतु हैं।

उस समय को नमकर कहूँ मैं ध्यान से उसको सुनो ॥२॥

चतुर्गति का निवारण कराने वाले और निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले महाश्रमण अर्थात् तीर्थंकरों के मुख से निकले हुये वचनों अर्थात् जिनवाणी को नमस्कार करके इस शास्त्र अर्थात् पंचास्तिकाय संग्रह का कथन करता हूँ। उसे तुम ध्यान से सुनो!<sup>१</sup>

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र ने टीका में जो कहा है, उसका भाव इसप्रकार है ह

“हम शब्दसमय अर्थात् आगम को प्रणाम करके समयव्याख्या टीका लिखकर पंचास्तिकाय का कथन करेंगे; क्योंकि वह आप्त द्वारा उपदिष्ट होने से सफल है तथा महाश्रमण के मुख से निकला हुआ अर्थ समय अर्थात् ह जो वीतराग सर्वज्ञदेव के मुख से निकले हुए शब्द समय को सुनकर पंचास्तिकायरूप अर्थ समय को जानकर उसके अंतर्गत शुद्ध जीवास्तिकाय स्वरूप अर्थ में निर्विकल्प समाधि द्वारा स्थित रहता है; वह चार गति का निवारण करके स्वात्मोत्पन्न, अनाकुलता-लक्षण, अनन्त



सुख को प्राप्त करता है। इसकारण से द्रव्यागमरूप शब्दसमय नमस्कार करने तथा व्याख्यान करने योग्य है।

कवि हीरानन्दजी काव्य की भाषा में कहते हैं, जो इसप्रकार है ह

(दोहा)

वीतराग मुख-जनित है, अरथरूप गतिनास।

मोख-हेति मुनि नमन करि, करत समय परकास॥१८॥

(सवैया इकतीसा)

वीतराग सर्वग्यानी उदै पाय खिरै बानी,

कालजोग पाय जीव सब्दरूप गहै है।

पंच अस्तिकाय अर्थ अभिधेय आप पर,

जथातथ्य जानि जानि सिवरूप लहै है॥

वीतराग पावै चारौं गतिमें न आवै सोई,

निरवान पद परवान सदा रहै है।

तातैं भेदग्यानी जिनवानीकौं त्रिकाल नमैं,

समय नाम व्याख्याको साखीभूत कहै है॥१९॥

उक्त छन्दों में कहा है कि - “वीतराग सर्वज्ञ के मुख से उत्पन्न जो पञ्चास्तिकाय के रूप में वाणी खिरती है उसे जीव काललब्धि के योग से शब्द रूप में ग्रहण करते हैं, वे उसके यथार्थ स्वरूप को जानकर, श्रद्धानकर एवं तद्रूप परिणमन कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसीलिए यहाँ जिनवाणी को त्रिकाल नमस्कार करते हैं तथा समय नामक व्याख्या के रूप में वर्णन करते हैं।

इस दूसरी गाथा के स्पष्टीकरण में गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने वस्तु की स्वतंत्रता और निमित्त-नैमित्तिक सहज संबंध को स्पष्ट करते हुए गाथा का जो अभिप्राय खोला है, वह ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं -

“आत्मा वाणी का कर्ता नहीं है; पर निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उसे वाणी का कर्ता उपचार से कहा जाता है। आत्मा वाणी को कर ही नहीं सकता है; इसीप्रकार वाणी से आत्मा समझता भी नहीं है; फिर भी यह वाक्य यहाँ जो लिखा है, वह निमित्त का ज्ञान कराने के लिए लिखा है। भाषा तो भाषा के कारण से निकलती है। ‘मैं कहूँगा’ हूँ ये शब्द, शब्द के कारण से निकलते हैं; परन्तु पञ्चास्तिकाय कहने में निमित्त कौन है? हूँ इसका यहाँ ज्ञान कराते हैं तथा यह जो कहते हैं कि ‘इस ग्रंथ को तुम जानो’ हूँ वहाँ भी जिसकी समझने की योग्यता होगी, वही समझेगा; दूसरा जीव समझा दे हूँ ऐसा नहीं है; फिर भी ‘सुनो’ ऐसा कहने का हेतु मात्र इतना ही है कि सामनेवाला जीव समझने का पात्र है, पञ्चास्तिकाय समझने लायक है।

यद्यपि वाणी के उपादानकर्ता जड़ परमाणु स्वयं हैं; तथापि वहाँ आचार्यदेव को विकल्प था; अतः आचार्यदेव को उपचार से वाणी का निमित्तकर्ता कहा जाता है। निमित्तकर्ता का अर्थ जड़ की पर्याय के होने में कुछ मदद करना नहीं है। वाणी जड़ है, उसे आत्मा बोल नहीं सकता है। उस समय आचार्य भगवान को जो विकल्प उत्पन्न हुआ; उसका ज्ञान कराया है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव श्रमण अर्थात् सर्वज्ञ वीतरागदेव की दिव्यवाणी से उत्पन्न हुये वचनों को मस्तक से प्रणाम करके कहते हैं; क्योंकि सर्वज्ञ के वचन ही प्रमाणभूत हैं। अतः उनके आगम को ही नमस्कार करना योग्य है।

देखो! सर्वज्ञ भगवान की वाणी को भी सर्वज्ञ के समान कहा है, उनकी वाणी आत्मा के सभी प्रदेशों से निकलती है। कंठ, होंठ इत्यादि सभी निमित्तों से रहित निकलती है; क्योंकि वाणी के निकलते समय



होंठ, कंठ, जीभ इत्यादि हिलते ही नहीं हैं, श्वाँस नहीं लेना पड़ती है हू  
ऐसी असंख्यप्रदेशों से वाणी निकलती है।

जिसतरह लोक में सूर्य की पूजा दीपक से करते हैं, नदी की पूजा नदी  
के पानी की अंजलि से करते हैं; उसीप्रकार भगवान की वाणी की पूजा  
भी आचार्यदेव वाणी से करते हैं।

इसतरह सरस्वती को नमस्कार करके मंगलाचरण किया।<sup>१</sup>”

सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि हू यद्यपि प्रत्येक भाषावर्णारूप  
परिणमित हुए पुद्गल के परमाणु पूर्ण स्वतंत्र अपने-अपने स्वचतुष्टय की  
योग्यता से गाथारूप परिणमते हैं; तथापि जीवों की भली होनहार और  
आचार्य कुन्दकुन्ददेव के उस रूप हुए भावों से अत्यन्त निकट का घना  
निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। अतः भले वाणी वाणी के कारण शब्दरूप  
परिणमित हुई है; फिर व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि हू “मैं कहता हूँ  
और तुम ध्यान से सुनो।”

लेखक और वक्ता को जिनवाणी के प्रचार-प्रसार की पवित्र भावना  
भूमिकानुसार आये बिना नहीं रहती, उस निमित्तरूप वाणी के साथ भली  
होनहार वाले अनेक भव्यजीवों के नैमित्तिकरूप से तदनुसार परिणमन  
भी होता है हू ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है। ऐसा ज्ञानी  
जानते हैं; अतः विकल्पानुसार कार्य करते हुए भी उन्हें कर्तृत्व का अहंकार  
नहीं होता।



( 15 )

१. प्रवचन प्रसाद : पञ्चास्तिकाय प्रवचन, पृष्ठ १७, प्रवचन का प्रारंभिक अंश

### गाथा ३

विगत गाथा में ‘समय’ अर्थात् पञ्चास्तिकाय का कथन करने की  
प्रतिज्ञा की। ज्ञातव्य है कि हू ‘समय’ शब्द के अनेक अर्थ हैं, ‘समय’  
आत्मा को भी कहते हैं, परन्तु प्रस्तुत गाथा में भी ‘समय’ का अर्थ  
पञ्चास्तिकाय ही किया है। मूलगाथा इसप्रकार है हू

**समवाओ पंचणहं समउ त्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं ।**

**सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं ॥३॥**

(हरिगीत)

पञ्चास्तिकाय समूह को ही समय जिनवर ने कहा।

यह समय जिसमें वर्तता वह लोक शेष अलोक है ॥३॥

पाँच अस्तिकाय के समभावपूर्वक अर्थात् राग-द्वेषरूप विकृति से  
रहित शाब्दिक निरूपण को अथवा पञ्चास्तिकाय के सम्यक्बोध को  
अथवा पाँचों द्रव्यों के समूह को जिनवरों ने ‘समय’ कहा है। इन पाँच  
अस्तिकाय के समूह जितना ही लोक है; उससे आगे अमाप अलोक है।

इस गाथा के भाव को समयव्याख्या नामक टीका में आचार्य अमृतचन्द  
इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हू

“समय शब्द को तीन रूप से कहा है हू शब्दरूप से, ज्ञानरूप से  
और अर्थरूप से। दूसरे शब्दों में कहें तो शब्दसमय, ज्ञानसमय और  
अर्थसमय हू ऐसे तीन प्रकार से ‘समय’ शब्द का अर्थ है तथा जिसमें ये  
पाँचों हैं, वह लोक है, शेष सब अलोक हैं।

(१) ‘पाँच अस्तिकाय का समवाद’ अर्थात् मध्यस्थभाव से-राग-  
द्वेष की विकृति से रहित पाँच अस्तिकाय का मौखिक या शास्त्रारूढ़  
निरूपण ‘शब्दसमय’ है।

(२) पञ्चास्तिकाय का सम्यक् अवाय अर्थात् मिथ्यादर्शन का नाश  
होने पर सम्यक्ज्ञान होना ‘ज्ञानसमय’ है।

(३) कथन के निमित्त से ज्ञात हुए उस पञ्चास्तिकाय का ही वस्तुरूप से समवाय (समूह) 'अर्थसमय' है अर्थात् सर्वपदार्थसमूह अर्थसमय है।

यहाँ आचार्य ज्ञानसमय की प्रसिद्धि के हेतुभूत शब्दसमय के द्वारा अर्थसमय का कथन करना चाहते हैं। वही अर्थसमय अर्थात् समस्त द्रव्यसमूह लोक और अलोक के भेद से दो प्रकार का है।

जितने आकाश प्रदेशों में पञ्चास्तिकाय है, उतना लोक है। उससे आगे अनन्त अलोक है। पञ्चास्तिकाय जितने क्षेत्र में हैं, उसे छोड़कर शेष अनन्त-क्षेत्रवाला अलोकाकाश आकाश द्रव्य है। अलोकाकाश शून्यरूप अर्थात् अभावरूप नहीं है; किन्तु वह शुद्ध आकाशद्रव्य है।”

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं, जो इसप्रकार है ह

(दोहा)

पंच वस्तु समवायकौ, समय कहत जिनराज ।

लोक सो जु तातैं परे है, अमित अलोक समाज॥३५॥

पाँचों द्रव्यों के समुदाय के जिनराज 'समय' कहते हैं। जहाँ तक ये पाँचों हैं, वह लोकाकाश है, शेष सब अपरिमित-अनन्त अलोकाकाश हैं।

(सवैया इकतीसा)

सबकौ समूह इकठौर सोई समवाय,

ताहीकौ समय नाम ग्रंथनिमें चलै है ।

जहाँ पंच वस्तुकौ मिलाप एक खेत देखै,

आप आप विषै पै न कोऊ कास्यौं रलै है ॥

सोई लोकाकास जामैं लोकिए सदैव द्रव्य,

तातैं परै सुन्नाकास लोकभाव टलै है ।

ऐसा सरधान जिनवानी के प्रवान आवै,

जबै जीव माहिं मिथ्या मोह-भाव गलै है ॥३६॥

सब द्रव्यों का एक स्थान पर इकट्ठा होना ही समवाय है। सब ग्रन्थों में इन्हें ही समय कहा है। जहाँ एक क्षेत्र में पाँचों वस्तुओं का मिलाप है, वहाँ भी सभी अपने क्षेत्र में ही हैं, कोई भी एक-दूसरे से मिलता नहीं है। जिसमें सभी द्रव्य शोभायमान हैं, दिखाई देते हैं, वह लोकाकाश है। उसके ऊपर अनन्त अलोकाकाश है, वहाँ लोक का अन्य कोई द्रव्य नहीं है। जब जिनवाणी के कहे अनुसार ऐसा श्रद्धान होता है तभी मोह भाव का नाश होता है।

(दोहा)

आदि आदि नहिं देखिए, अन्त अन्त नहिं जास ।

वसै जहाँ षट दरव ए, सोई लोकाकास॥३७॥

तातैं परै अनन्त है, सबै अलोकाकास ।

समय नाम तातैं कह्या, लोकालोक-निवास॥३८॥

जिनका आदि अन्त दिखाई नहीं देता; फिर भी जहाँ छह द्रव्य रहते हैं, वहाँ लोकाकाश हैं। उसके ऊपर अनन्त अलोकाकाश है। इस आकाश द्रव्य में ही छह द्रव्यों का निवास है, इस कारण इसका नाम समय भी है।

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यहाँ पाँच अस्तिकाय के समूह को समय कहा है। काल का कथन गौण है। काल की अस्ति है; पर वह अस्तिकाय नहीं है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश हूँ ऐसे पाँच अस्तिकाय हैं। जीव, धर्म और अधर्म असंख्यप्रदेशी हैं; अतः उन्हें काय कहा है। शुद्ध परमाणु एकप्रदेशी होने पर भी उसमें स्कंधरूप होने की योग्यता है; अतः शुद्ध परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य को उपचार से अस्तिकाय कहा है और काल में स्पर्श गुण नहीं है; अतः एक कालाणु को दूसरे कालाणु के साथ में स्कंधरूप होने की योग्यता नहीं है; अतः कालाणु अस्तिकाय नहीं है। इस कारण यहाँ काल का वर्णन गौण है।

समय के तीन भेद हैं ह्र शब्दसमय, ज्ञानसमय और अर्थसमय ।

आत्मा यह शब्द तो 'शब्दसमय', आत्मा संबंधी अपना ज्ञान 'ज्ञानसमय' और आत्मवस्तु 'अर्थसमय' है। इसीप्रकार पञ्चास्तिकाय शब्द तो 'शब्दसमय', पञ्चास्तिकायसंबंधी अपना ज्ञान 'ज्ञानसमय' और पञ्चास्तिकायरूप वस्तु 'अर्थसमय' है।

तीनों स्वतंत्र हैं। शब्द में ज्ञान तथा पदार्थ नहीं हैं। ज्ञान में शब्द तथा पदार्थ नहीं हैं और अर्थ में ज्ञान तथा शब्द नहीं हैं। 'पञ्चास्तिकाय' - ऐसा शब्द बोला, उसमें पञ्चास्तिकाय का ज्ञान नहीं है और उसमें पञ्चास्तिकाय पदार्थ भी नहीं हैं। इसीप्रकार पञ्चास्तिकाय में से एक जीव को छोड़कर अन्य पदार्थों में शब्द नहीं हैं, ज्ञान में शब्द तथा पदार्थ नहीं हैं; परन्तु शब्दों का और पदार्थों का ज्ञान आ जाता है।

इन तीनों भेदों से पञ्चास्तिकाय की राग-द्वेष रहित यथार्थ अक्षर, पद और वाक्य की रचना है, उसे द्रव्यश्रुतरूप शब्द समय कहते हैं। इस पञ्चास्तिकाय में अर्थात् द्रव्यश्रुतरूप शब्दों में कहीं भी राग-द्वेष स्थापित हो ह्र ऐसा कथन नहीं है। 'अपना स्वभाव राग-द्वेष रहित है' ह्र जो जीव ऐसा निर्णय करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है, वह जीव द्रव्य आगम का कथन कर सकता है।

वीतरागी शब्द राग-द्वेष का ज्ञान कराते हैं; परन्तु वे राग-द्वेष की स्थापना नहीं करते हैं। इसप्रकार शब्दसमय भी वीतरागता में निमित्त होता है।

जो शब्द पञ्चास्तिकाय की राग-द्वेष रहित यथार्थ अक्षर, पद और वाक्य के रूप में द्रव्यश्रुतरूप की रचना करते हैं। शब्दसमय कहते हैं। जीव शब्द बोला इसमें 'जी' और 'व' ये दो अक्षर हैं। 'जीव' यह पद है और 'जीव अनादि-अनन्त है' यह वाक्य है। इसप्रकार अक्षर, पद और वाक्य की रचना को द्रव्यश्रुत कहा है।

'राग-द्वेष रहित' ऐसा जो शब्द कहा है, उसके ऊपर खास वजन है।

जो शास्त्र राग-द्वेष रहित होने के लिए लिखा जाता है, वही यथार्थ शास्त्र है और वही शब्दसमय है।

जिसमें वीतरागता की बात आती है, जो अपने आत्मा को लाभ का उपाय बताता है; जो यह बताता है कि सभी आत्मार्थों और परमाणु स्वतंत्र हैं, उन सभी के द्रव्य, गुण, पर्याय भी स्वतंत्र हैं; कर्म राग नहीं कराता है; परन्तु जीव जब स्वयं राग करता है तो राग होता है और स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व-राग-द्वेष नष्ट होकर धर्म होता है ह्र इत्यादि रूप से यथार्थ लेखन जिसमें होता है, उसे 'शब्दसमय' कहते हैं। द्रव्यश्रुत कहो, द्रव्य आगम कहो, शब्दसमय कहो सब एक ही है।

**प्रश्न :**ह्र शब्दपर्याय तो जड़ है; उसे रागरहितपना कैसे कहा ?

**उत्तर :-** "यद्यपि वह पुद्गल की पर्याय है; परन्तु शब्दसमय द्वारा जो कहा है, उसका भाव समझकर जीव अपने में मिथ्यात्वरहित यथार्थ ज्ञान करता है, वही शब्द का राग रहितपना है। जैसा कि शब्दसमय में लिखा आता है कि 'जीव अपने आश्रय से मिथ्यात्व, राग और द्वेष का नाश कर सकता है।' इस कथन का यथार्थ भाव समझकर धर्मी जीव अपने आश्रय से मिथ्यात्व, राग और द्वेष का नाश करता है और ज्ञानसमय अपने में प्रगट करता है। निमित्त के, व्यवहार के कथन आते हैं तो उन्हें उपचार कथन समझकर वीतरागता निकालता है अर्थात् जैसा शब्दसमय में भाव कहा था, वैसा ही वह ज्ञान करता है; अतः शब्दसमय मिथ्यात्व, राग और द्वेष का नाश करता है। जिन शब्दों द्वारा ऐसे राग-द्वेष के नाश होने का ऐसा कथन किया जाता है; वही शब्दसमय का राग रहितपना है।

पञ्चास्तिकाय में पाँच अस्तिकाय ह्र जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश का वर्णन है। वे सभी द्रव्य स्वतंत्र हैं, उनको कहनेवाले शब्दों को शब्दसमय कहते हैं। यहाँ उन शब्द समयवाले शब्दों की ओर का लक्ष छोड़ने के लिये तथा उनके द्वारा कहे गये अर्थसमय पर ध्यान केन्द्रित करने की प्रेरणा देते हैं।

वास्तव में तो अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने पर मिथ्यात्व, राग और द्वेष उत्पन्न होते ही नहीं हैं, इसी को 'मिथ्यात्व, राग और द्वेष का नाश हो गया' हू ऐसा कहा जाता है।

इसप्रकार अपने में सच्चा ज्ञान प्रगट होना ज्ञानसमय है। ज्ञानसमय कहो, भावश्रुतज्ञान कहो, भाव आगम कहो हू यह सब एक ही है। जब वह ज्ञानसमय सम्यग्ज्ञानी जीव के प्रगट होता है तो जैसा शास्त्र का कहना है, वैसा ही उसने किया, अतः शब्दसमय द्वारा ज्ञान हुआ, ऐसा कहा जाता है।

सम्यग्ज्ञान द्वारा जो पदार्थ जाने जाते हैं, वे अर्थसमय हैं। अर्थसमय या पदार्थसमय दोनों एक ही हैं। शब्द वाचक हैं और पदार्थ वाच्य है। यहाँ अर्थसमय की व्याख्या स्पष्ट है कि ज्ञान द्वारा जो पदार्थ जाना गया, उसे अर्थसमय कहते हैं। स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व का नाश होकर जो सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह ज्ञान ही पदार्थों को यथार्थ जानता है।

ध्यान रहे, ज्ञान ज्ञेयों से अर्थात् पदार्थों से नहीं होता। 'पञ्चास्तिकाय' इस शब्दसमय से भी ज्ञान नहीं होता; ज्ञानसमय में अर्थसमय तथा शब्दसमय स्वतः ज्ञात हो जाते हैं। पञ्चास्तिकाय पदार्थ सम्यग्ज्ञान द्वारा ज्ञात होते हैं। पदार्थों से तथा शब्दसमय से पञ्चास्तिकाय का ज्ञान नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वभावी है हू ऐसा ज्ञान-श्रद्धान होने पर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है और वह सम्यग्ज्ञान शब्दसमय के भाव को तथा पदार्थों को जान लेता है।

ज्ञानसमय के बिना शब्दसमय और अर्थसमय का यथार्थज्ञान होता ही नहीं है। संक्षेप में कहें तो ज्ञानी जब स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है, तब आगम तथा पदार्थों को यथार्थ जाना कहा जाता है।

अर्थसमय के दो भेद हैं हू १. पञ्चास्तिकायसमूह रूप लोक, २. अकेला आकाशरूप अलोक।

अर्थसमय में पञ्चास्तिकाय को लोक कहा है। काल अस्ति है, उसका लोक में अभाव नहीं है; परन्तु वह अस्तिकाय नहीं है। परमाणु एक होने पर भी रूखे-चिकने रूप योग्यता के कारण उपचार से अस्तिकाय कहलाता है, जबकि कालाणु में ऐसी रूखे चिकने की योग्यता नहीं है; क्योंकि उसमें

स्पर्श गुण ही नहीं है, अतः वह उपचार से भी अस्तिकाय नहीं कहलाता है। फिर भी वह लोक में शामिल है।

भावश्रुतज्ञान की एक समय की पर्याय में अनन्त द्रव्यों को, अनन्त क्षेत्र को, अनादि-अनन्त काल को तथा अनन्त भावों को परोक्ष जानने की ताकत है।

अर्थसमय में लोकालोक आ गया। अर्थसमय का क्षेत्र लोकालोक जितना है और ज्ञानसमय की अथवा भावश्रुतज्ञान की व्यापकता मात्र अपने आत्मा के असंख्यप्रदेशों तक ही सीमित है। इसप्रकार अर्थसमय का क्षेत्र ज्ञानसमय की अपेक्षा बड़ा है; फिर भी ज्ञान की पर्याय लोकालोक का ज्ञान कर लेती हैं; अतः ज्ञानसमय की महत्ता विशेष है।

सम्यग्ज्ञान की एक समय की पर्याय में जब इतनी ताकत है तो फिर केवलज्ञान की कितनी ताकत होगी ? वह तो अनन्त को एक समय में प्रत्यक्ष जान लेता है; परन्तु यहाँ छद्मस्थ के ज्ञानसमय की बात है।

एक ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय की इतनी ताकत है तो फिर वह पर्याय जिसके आश्रय से प्रगट होती है, ऐसे अनन्त गुणों के भण्डार आत्मद्रव्य की क्या बात करना !

अहो! मेरा ज्ञानस्वभाव इतनी महिमावाला है। हू इसप्रकार जिसे अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा की महिमा आती है, उसे सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है और वह सभी पदार्थों को यथार्थ जान लेता है तथा क्रमशः वीतरागता प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त करता है।

द्रव्य-आगम (द्रव्यसमय) का ज्ञान भाव-आगम (ज्ञानसमय) से होता है। भाव-आगम का उत्पाद मिथ्यात्व के नाश से होता है। मिथ्यात्व का नाश ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से होता है और वह भाव-आगम सभी पदार्थों को जान लेता है।”

इसप्रकार गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने विस्तार से स्पष्ट कर दिया है कि हू ज्ञानसमय शब्दसमय तथा अर्थसमय हू दोनों को जानता है; अतः ज्ञानस्वभाव की महिमा है। भावश्रुतज्ञान से ही पञ्चास्तिकाय समझ में आते हैं।

## गाथा ४

विगत गाथा में पंचास्तिकाय को ही समय कहा है। अब इस गाथा में पंचास्तिकाय के भेदों का कथन करते हैं।

मूलगाथा इस प्रकार है -

**जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं।**

**अत्थित्तम्हि य णियदा अणणमइया अणुमहंता ॥४॥**

(हरिगीत)

आकाश पुद्गल जीव धर्म अधर्म ये सब काय हैं।

ये हैं नियत अस्तित्वमय अरु अणुमहान अनन्य हैं॥४॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश अस्तित्व में नियत, अस्तित्व से अनन्यमय और अणु महान हैं।

इस गाथा की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने जो कहा है, उसका भाव इसप्रकार है ह

“यहाँ पाँच अस्तिकायों की जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ह वे पाँचों विशेष संज्ञाएँ अर्थ का अनुसरण करती हुई सार्थक हैं।

ये उत्पाद-व्यय-ध्रुव्यमयी सामान्यविशेषसत्ता में नियत-व्यवस्थित-विद्यमान होने से इनके सामान्य-विशेष अस्तित्व भी हैं। वे द्रव्य अस्तित्व में नियत होने से अपने से सत् होने के कारण अस्तित्व से अग्रि एवं उष्णता की भाँति अनन्यमय है; बर्तन में रखे घी की भाँति अन्य नहीं हैं।

यहाँ ज्ञातव्य है कि यह अस्तित्व में नियतपना नयप्रयोग से है। आगम में दो नय कहे हैं ह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहाँ कथन एक नय के आधीन नहीं होता, किन्तु दोनों नयों के आधीन होता है। इसलिए

वे पर्यायार्थिक नय से तो अपने से कथंचित् भिन्न हैं; परन्तु अस्तित्व में व्यवस्थित होने से और द्रव्यार्थिक कथन से स्वयमेव सत् (विद्यमान) होने के कारण अस्तित्व से अनन्यमय ही है।

उनके कायपना भी है; क्योंकि वे अणुमहान हैं। यहाँ अणु अर्थात् प्रदेश के छोटे से छोटा निर्विभागीय अंश अणु है तथा उन अनेक अंशों से निर्मित अनेक प्रदेशी स्कन्ध को महान कहा है ह ऐसे अणु-महान प्रदेशों द्वारा निर्मित उपर्युक्त पाँचों द्रव्यों के कायत्व है।

जो दो अणुओं द्वारा महान हो, बड़ा हो वह भी अणुमहान है ह ऐसी व्युत्पत्ति से द्विअणुक पुद्गल स्कन्धों को भी कायत्व है।

परमाणु के व्यक्तिरूप से एकप्रदेशी तथा शक्तिरूप से अनेकप्रदेशी होने के कारण कायत्व सिद्ध होता है।

कालाणुओं को व्यक्ति अपेक्षा तथा शक्ति अपेक्षा से प्रदेश प्रचयात्मक महानपने का अभाव होने से यद्यपि वे अस्तित्व में नियत हैं, तथापि उनके अकायत्व है ह ऐसा इस कथन से ही सिद्ध हुआ; इसीलिए यद्यपि वे सत्-विद्यमान हैं; तथापि उन्हें अस्तिकाय के प्रकरण में नहीं लिया है।”

पाण्डे हेमराजजी ने उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ह “यह पाँचों द्रव्य पर्यायार्थिकनय से अपने गुण-गुणी भेद से कथंचित् भिन्न अस्तित्व में विद्यमान हैं और द्रव्यार्थिकनय से अपने-अपने अस्तित्व से अनन्य हैं, अभिन्न हैं।

ये पाँचों द्रव्य कायत्ववाले हैं; क्योंकि वे अणुमहान हैं। अणुमहान की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से है :-

(१) अणुभिः महान्तः अणुमहान्तः अर्थात् जो बहुप्रदेशों द्वारा बड़े हों, वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जीव, धर्म और अधर्म असंख्यप्रदेशी होने से अणुमहान हैं; आकाश अनन्त प्रदेशी होने से



अणुमहान है; और त्रि-अणुक स्कन्ध से लेकर अनन्ताणुक स्कन्ध तक के सर्व स्कन्ध बहुप्रदेशी होने से अणुमहान हैं।

(२) अणुभ्याम् महान्तः अणुमहान्तः अर्थात् जो दो प्रदेशों द्वारा बड़े हों वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्वि-अणु के स्कन्ध अणु महान हैं।

(३) अणवश्च महान्तश्च अणुमहान्तः अर्थात् जो अणुरूप एकप्रदेशी भी हों और महान-अनेकप्रदेशी भी हों वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार परमाणु अणुमहान है; क्योंकि व्यक्तिअपेक्षा से वे एकप्रदेशी हैं और शक्तिअपेक्षा से भी उपचार से अनेकप्रदेशी हैं।

इसप्रकार उपर्युक्त पाँचों द्रव्य अणुमहान होने से कायत्ववाले हैं हूँ ऐसा सिद्ध हुआ।

कालाणु का अस्तित्व है, किन्तु किसीप्रकार भी कायत्व नहीं है, इसलिए वह द्रव्य है; किन्तु अस्तिकाय नहीं है।”

आचार्य जयसेन अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका में जो लिखते हैं, उसका भाव इसप्रकार है हूँ

“अनन्त जीवद्रव्य, अनन्त पुद्गलद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य हूँ ये पञ्चास्तिकाय अपने सामान्य-विशेष अस्तित्व में निश्चित हैं और अपनी सत्ता से भिन्न नहीं हैं अर्थात् जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, वह सत्ता है और जो सत्ता है, वही अस्तित्व कहा जाता है। वह अस्तित्व सामान्य-विशेषात्मक है।

(१) सभी पदार्थ हैं, इस अपेक्षा से सभी में सामान्यपना है एवं प्रत्येक भिन्न-भिन्न भी हैं, इस अपेक्षा से विशेष हैं।

(२) द्रव्य में त्रिकाल सत्ता सामान्य है एवं वर्तमानावस्था विशेष है; अथवा ध्रुवपना सामान्य है एवं उत्पाद-व्ययपना विशेष है; इसप्रकार प्रत्येक पदार्थ अपनी सत्ता सामान्य एवं विशेष से भिन्न नहीं है।

जो उत्पाद-व्ययरूप है, वह सत्ता है और जो सत्ता है, उसे अस्तित्व कहते हैं और जो अस्तित्व है, वह सामान्य एवं विशेषात्मक है। पाँचों अस्तिकाय अपने-अपने अस्तित्व में है। अस्तित्व अपने द्रव्य से अभिन्न है। प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व उस द्रव्य से भिन्न नहीं है, कर्मपरमाणु उस द्रव्य से (पुद्गल द्रव्य से) भिन्न नहीं है। एकमेक हैं, पर आत्मा से भिन्न हैं।

तात्पर्य यह है कि हूँ जैसे दूध और पानी एक साथ हैं, ऐसा कहने पर भी जैसे दूध और पानी भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं; वैसे ही एक क्षेत्र में रहते हुए कर्म मूर्त और आत्मा अमूर्त हैं, वे दोनों भिन्न हैं। कर्म का भिन्नपना आत्मा के कारण नहीं है। आत्मा में विकार का उत्पाद आत्मा के कारण है, कर्म के कारण नहीं। इसप्रकार सच्ची श्रद्धा करने से शान्ति मिलती है।

सत्ता गुण स्वयं के द्रव्य से भिन्न नहीं है। सत्ता से सत्तावान अभिन्न है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु की सत्ता स्वयं से अभेद है। किसी बर्तन में रखी हुई वस्तु के समान नहीं है। जैसे थाली में लड्डू है, डिब्बे में तेल है, वैसे द्रव्य में सत्ता गुण नहीं है; बल्कि जिसप्रकार तेल में चिकनाहट रहती है, उसीप्रकार द्रव्य में सत्ता रहती है। घड़े के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण घट से भिन्न नहीं। जिसप्रकार अग्नि और ऊष्णता एक है हूँ भिन्न नहीं; उसीप्रकार आत्मा और उसका सत्ता गुण भिन्न नहीं है; बल्कि एकमेक है।

आत्मा एक ओर रहे एवं उसकी सत्ता कहीं और रह जाय ऐसा प्रदेशभेद नहीं है, सत्ता और द्रव्य अभेद है।

आत्मा रागरहित है हूँ ऐसा निर्णय करने पर जो भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है, उसके दो भेद हैं हूँ १. द्रव्यार्थिकनय, २. पर्यायार्थिक नय।

द्रव्यार्थिकनय हूँ जो ज्ञान का अंश आत्मा अथवा परमाणु के सामान्य धर्म को लक्ष में लेता है, त्रिकाली शक्ति को लक्ष में लेता है, उस ज्ञान के अंश को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

पर्यायार्थिकनय हूँ जो ज्ञान का अंश आत्मा अथवा परमाणु की



वर्तमान पर्याय को लक्ष में लेता है, उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

द्रव्यार्थिकनय से प्रत्येक द्रव्य अपने सत्तागुण से अभेद है एवं गुणभेद की अपेक्षा पर्यायार्थिकनय से अनेक-भेदस्वरूप है। आत्मा और परमाणु दोनों में सत्तागुण है। वह गुण-गुणी से अभेद है। सत्ता गुण और सत्तावान द्रव्य अभेद हैं, यह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। पर्यायार्थिकनय का विषय गुण और गुणी में भेद बताना है।

इसप्रकार आत्मा और उसके सत्तागुण को अभेद से देखो तो एक है और गुण-गुणी के भेद से देखें अथवा पर्यायों से देखें तो अनेक हैं। इसीप्रकार परमाणु और उसके सत्तागुण को अभेद से देखा जाये तो एक है और भेददृष्टि से देखा जाये तो गुण एवं पर्यायों अनेक हैं। यहाँ भेद-अभेद दोनों एक वस्तु में ही घटित किये हैं। आत्मा और पुद्गल परमाणु तो त्रिकाल भेदस्वरूप ही हैं।

जिसप्रकार शरीर के हाथ-पैर आदि अवयव होने से शरीर को काया कहते हैं, उसीप्रकार काल को छोड़कर आत्मा आदि पाँच द्रव्यों के प्रदेश अनेक होने से कायवान कहते हैं। चार द्रव्य अखंड कायवान हैं, उनमें से जिसके जितने प्रदेश हैं, उसमें से कम ज्यादा नहीं होते। परमाणु में स्कंधरूप होने की योग्यता है; अतः परमाणु को भी अस्तिकाय कहते हैं।

जब एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर स्कन्धरूप होता है, तब स्कन्ध रूप होने पर भी परमाणु अपनी सत्ता नहीं छोड़ता। स्थूलरूप से अथवा सूक्ष्मरूप से परिणामित होने की प्रत्येक परमाणु की जो योग्यता है, वह दूसरे परमाणु के कारण नहीं है।

यद्यपि परमाणु स्वयं के रूक्षता एवं चिकनाहट गुणों के कारण परमाणुरूप स्कन्ध की अवस्था धारण कर व्यवहार से एक स्कन्ध कहलाता है, तो भी प्रत्येक परमाणु स्वयं के एकरूप स्वभाव को नहीं छोड़ता। सदा एक ही द्रव्य रहता है।”

कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं, जो इसप्रकार है ह

(दोहा)

जीव काय पुग्गल धरम, अधरम नाम अकास।

अस्तिभावयुत आपगत, अनु महंत सुविलास।।३९।।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म एवं आकाश हूँ ये पाँच अस्तिकाय द्रव्य हैं। ये पाँचों अणु एवं महान हैं।

इसप्रकार परमाणु जड़ होने पर भी अपनी शक्ति से कार्य कर रहा है।

इस गाथा का व्याख्यान करते हुए गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ने कहा हूँ

“प्रत्येक पदार्थ स्वयं की सत्ता भिन्न बनाये रखता है। प्रत्येक द्रव्य सामान्य एवं विशेष अस्तित्व में निश्चित है; स्वयं की सत्ता से भिन्न नहीं है। सत्ता और सत्तावान अभेद है, भेद नहीं है।

प्रत्येक परमाणु एक समय में स्वयं की उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्तामय है। उत्पाद अर्थात् नवीन अवस्थारूप से उत्पन्न होना एवं व्यय अर्थात् पूर्व अवस्था का नाश होना और ध्रुव अर्थात् मूलवस्तु कायम रहना, सदृशरूप से रहना। इसप्रकार तीन मिलकर वस्तु एक है।

एक जीव में जो उत्पाद-व्यय-ध्रुव हैं, वे उत्पाद-व्यय-ध्रुव दूसरे जीव के अथवा परमाणु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव के कारण नहीं है; और परमाणु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव जीव के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के कारण नहीं है।

कोई भी पदार्थ स्वयं की सत्ता छोड़कर दूसरे को स्पर्श नहीं करता। आत्मा में अनंत गुणों की अवस्था एक समय में उत्पन्न हो और एक समय में व्यय हो और स्वयं ध्रुवरूप से कायम रहे, ऐसा होने से एक आत्मा दूसरे आत्मा का अथवा शरीरादि जड़ का कुछ कार्य नहीं करते।

( 21 )

किसी की सत्ता अन्य पर आश्रित नहीं है। ऐसी श्रद्धा होने से यह अहंकार मिट जाता है कि हूँ मैं तो दूसरे लोग ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, मेरे

प्रभाव से मेरे बालक मेरी बात मानते हैं' आदि कोई भी कर्तृत्व की ह आकुलता नहीं रहती; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ स्वयं के उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव से टिका है, अन्य के कारण नहीं।

यहाँ जिन पाँच अस्तिकायों का स्वरूप बताया, उन्हें अर्थसमय कहते हैं। उन सभी को जैसे हैं वैसा जानने का कार्य ज्ञान का है। ज्ञान की विशेष अवस्था भी स्वयं के सामान्य ज्ञानस्वभाव के कारण प्रकट होती है; पर-पदार्थों के कारण प्रकट नहीं होती। सभी को जानना मेरा स्वभाव है, पर को अपना मानना अथवा राग-द्वेष करना मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसी प्रतीति ज्ञानी को हो जाती है।”

इसप्रकार कालद्रव्य सहित पाँचों अस्तिकाय द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी हैं ह यद्यपि कालद्रव्य एकप्रदेशी होने से उसके कायत्व नहीं है, परन्तु वह अस्तित्वमय है – ऐसी पूर्ण स्वतंत्र स्वावलम्बी वस्तुस्वरूप की महिमा जिसे ज्ञात हुई, उसे सत्य का माहात्म्य आने पर साधकदशा उत्पन्न होती है और यही मोक्षमार्ग है। पूर्णरूप से स्वभावसन्मुख होने पर वीतरागता और केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यह पंचास्तिकाय को जानने का फल है।

वस्तुतः विराग को अपने जन्म के पूर्व पिता के साथ घटी अघट घटनाओं की जानकारी नहीं थी और उसकी माँ उसे पिता का पूर्व इतिहास बताना भी नहीं चाहती थी; परन्तु वह अपने बेटे को वैसे ही वातावरण में जाने की अनुमति भी कैसे दे सकती थी ? अतः पहले तो उसने स्पष्ट मना ही कर दिया; परन्तु जब माँ ने उसकी परदेश जाने की तीव्र इच्छा, अति उत्साह और विशेष आग्रह देखा तो उसने वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को स्मरण करते हुए और विराग की होनहार का विचार कर उसे अध्ययन हेतु परदेश जाने की अनुमति दे दी। साथ ही अपने सदाचार को सुरक्षित रखने के लिए एक बार पुनः सचेत कर दिया। – नींव का पत्थर-पृष्ठ-२३

## गाथा ५

विगत गाथा में बताया है कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश अस्तित्व में नियत, अनन्यमय अणुमहान, पूर्ण स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी है।

अब प्रस्तुत गाथा में द्रव्यों के अस्तित्व व कायत्व को सिद्ध करते हैं।  
गाथा मूलतः इसप्रकार हैं ह

जिसिं अत्थि सहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं ।

ते होंति अत्थिकाया णिप्पणं जेहिं तेल्लोक्कं ॥५॥

(हरिगीत)

अनन्यपन धारण करें जो विविध गुण पर्याय से।

उन अस्तिकायों से अरे त्रैलोक यह निष्पन्न हैं ॥ ५ ॥

जिन्हें विविध गुणों और पर्यायों के साथ अपनत्व है, वे अस्तिकाय हैं। इन पंचास्तिकायों से ही तीन लोक निष्पन्न हैं।

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने पाँच अस्तिकायों का अस्तित्व और कायत्व सिद्ध करते हुए कहा है कि ह

“वास्तव में पंच अस्तिकायों को विविध गुणों और पर्यायों के साथ स्वपना, अपनापन या अनन्यपना है। वस्तु की व्यतिरेकी विशेष पर्यायें हैं और उसके अन्वयी विशेष गुण हैं; इसलिए एक पर्याय से प्रलय को प्राप्त होनेवाली, अन्य पर्याय से उत्पन्न होनेवाली और अन्वयी गुण से ध्रुव रहनेवाली एक ही वस्तु को व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य लक्षण घटित होता ही है।

यदि गुणों तथा पर्यायों के साथ वस्तु को सर्वथा अन्यत्व अर्थात् अन्य-अन्यपना हो, तब तो अन्य कोई विनाश को प्राप्त होगा, अन्य कोई प्रादुर्भाव को प्राप्त होगा और अन्य कोई ध्रुव रहेगा ह इसप्रकार सब विप्लव हो जायेगा; इसलिए पाँच अस्तिकायों संबंधी उपर्युक्त कथन ही सत्य है, योग्य है, न्याययुक्त है।

इसप्रकार 'अस्ति' का कथन करके अब 'काय' का स्पष्टीकरण करते हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पदार्थ अवयवी हैं और प्रदेश इनके अवयव हैं, अवयवों में परस्पर व्यतिरेक (अन्य-अन्यपना) होने पर भी कायत्व की सिद्धि घटित होती है; क्योंकि परमाणु निरवयव होने पर भी उनको शक्ति अपेक्षा सावयवपने की योग्यता का सद्भाव है।

यहाँ ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है कि पुद्गल के अतिरिक्त अन्य पदार्थ अमूर्तपने के कारण अविभाज्य होने से उनके सावयवपने की (खण्ड-खण्डपने की) कल्पना, अनुचित है; क्योंकि आकाश अविभाज्य होने पर भी उसमें भी 'यह घटाकाश है, यह अघटाकाश (पटाकाश) है' हूँ ऐसी विभागकल्पना दृष्टिगोचर होती ही है। इसलिए कालाणुओं के अतिरिक्त अन्य सर्व में कायत्व नाम का सावयवपना निश्चित रूप से है।

छह द्रव्यों से जो तीन लोक की निष्पन्नता कही, वह भी उनका अस्तिकायपना सिद्ध करने के साधनरूप से ही कही है।

तीनलोक के सभी द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाले भाव, जो कि विशेषस्वरूप हैं, परिणमित होते हुए अपने मूल पदार्थों का गुणपर्याययुक्त अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

धर्म, अधर्म और आकाश हूँ ये प्रत्येक पदार्थ ऊर्ध्व-अधो-मध्य हूँ ऐसे तीन लोक के विभागरूप से परिणमित होने से उनके कायत्व नाम का सावयवपना है। प्रत्येक जीव के भी ऊर्ध्व-अधो-मध्य हूँ ऐसे तीन लोक के तीन विभागरूप से परिणमित तथा लोकपूरण अवस्थारूप शक्ति का सदैव सद्भाव होने से जीवों को भी कायत्व नाम का सावयवपना है। पुद्गल भी ऊर्ध्व-अधो-मध्य हूँ ऐसे लोक के (तीन) विभागरूप परिणत शक्तिवाले होने से उन्हें भी कायत्व नाम की सावयवपने की सिद्धि है ही।”

जयसेनाचार्य ने भी आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही पंचास्तिकाय के अस्तित्व एवं कायत्व के विषय में बताया है।

कवि हीरानन्दजी इसी बात को पद्य में कहते हैं, जो इसप्रकार है हूँ

(दोहा)

नाना गुण परजाय करि, जिनके अस्ति सुभाव ।  
अस्तिकाय ते जगतमें, तिनहीं करि जगभाव॥४३॥

(सवैया इकतीसा)

सहभावी गुण और क्रमभावी परजाय,

नाना भेद-भावकरि अस्ति जहाँ पावै है ।

एकता प्रदेसहूँ की पाँचों में सुभाव सोई,

काय ताके कथने कौं भेद नीकै आवै है ॥

एई पाँचों अस्तिकाय जिनरायवानी विषैं,

इनहींसों लोकथिति सदाकाल भावै है ।

नाहीं किए करै कौन आदि अंत औ न पावै,

ग्यानी सरधान भयै नीकै जस गावै है ॥४४॥

उक्त दोहे एवं सवैया में कहा है कि हूँ “नाना सहभावी एवं गुणभावी गुण-पर्यायों से जिनका अस्तित्व है, वे अस्तित्व स्वभाववाले बहुप्रदेशी पंचास्तिकाय द्रव्य जगत में हैं, इन्हीं से अनादि-अनन्त लोक की स्थिति है। इस लोक को न किसी ने बनाया है और न कोई इनका विनाशक है।

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ने कहा है हूँ “प्रत्येक पदार्थ अपने स्वयं के अनेक गुण-पर्यायों सहित अस्तित्व वाला है। पाँचों अस्तिकाय अनेकप्रकार के सहभूत गुण तथा व्यतिरेक रूप अनेक पर्यायों सहित अस्तित्व स्वभाववाले हैं।

जीव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, प्रभुत्व आदि अनेक त्रैकालिक शक्तियाँ विद्यमान हैं, पुद्गल के परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि, सभी गुण एकसाथ रहते हैं; पर्यायें एक के बाद एक होती हैं, अलग-अलग होती हैं। जैसे कि हूँ आत्मा में शुभभाव के बाद अशुभभाव तथा कम जानना, अधिक जानना आदि होता है। परमाणु में भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तो कायम रहते हैं; पर उनकी पर्यायें एक के बाद एक होतीं रहतीं

हैं। आत्मा की पर्याय शरीर अथवा कर्म के कारण नहीं होती और कर्म तथा शरीर की अवस्था आत्मा के कारण नहीं होती। इसप्रकार प्रत्येक अस्तिकाय स्वयं के गुण-पर्यायों सहित अस्तित्ववाला है।

जो पदार्थ हैं, उनका कभी सर्वथा नाश नहीं होता है और जो नहीं है उनकी नवीन उत्पत्ति नहीं होती। पदार्थ स्वयं अपने ही कारण ध्रुव रहते हैं और अपने कारण ही परिणामन करते हैं, पर के कारण नहीं।

आत्मा सदा एक रूप ही रहे, परिणामन न करे तो दुःख को नष्ट करके सुख प्रगट करना अशक्य होगा। यदि आत्मा सर्वथा परिणामनशील ही हो और ध्रुव न हो तो दुःख को नष्ट करके सुख का अनुभव करनेवाला ही नहीं रहेगा, उस स्थिति में सुख का अनुभव भी नहीं होगा। अतः आत्मा तथा प्रत्येक द्रव्य ध्रुवरूप रहकर ही परिणामन करते हैं।

आत्मा में त्रिकाली शक्तियाँ हैं और उनकी एक के बाद एक पर्यायें होती हैं। उनका कर्ता आत्मा स्वयं है। जो स्वतंत्ररूप से कार्य करता है, वही कर्ता है। आत्मा की अवस्था में जड़ का अधिकार नहीं है और जड़ की अवस्था में आत्मा का अधिकार नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं – एक त्रिकालीशक्ति और दूसरी वर्तमान अवस्थारूप शक्ति। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उसका स्वभाव है। स्वभाव का कभी नाश नहीं होता और जिसका अस्तित्व नहीं है, वह नया उत्पन्न नहीं होता। जड़ और आत्मा मिलकर पूरा जगत है। जगत कोई भिन्न वस्तु नहीं है। पदार्थ जगत में न हों हूँ ऐसा नहीं हो सकता। उसीप्रकार जगत का सर्वथा प्रलय हो जाये हूँ ऐसा भी नहीं हो सकता। जगत पहले नहीं था और फिर नया बना हूँ ऐसा भी नहीं है।

तात्पर्य यह है कि हूँ आत्मा के गुण-पर्याय आत्मा से अभेद हैं तथा जड़ के गुण-पर्याय जड़ से अभेद हैं। प्रत्येक वस्तु स्वरूप से है तथा पररूप से नहीं है हूँ ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

वस्तु में द्रव्य, गुण, पर्याय का एवं संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद है, परंतु क्षेत्र भेद नहीं है। शरीर का रूपान्तर, क्षेत्रान्तर परमाणु के कारण होता है, आत्मा के कारण नहीं। ज्ञानी तो पर का

अकर्ता है ही; परन्तु पर के कर्तृत्व का अहंकार करनेवाला अज्ञानी जीव भी पर का कुछ नहीं कर सकता। यदि आत्मा शरीर का कार्य करे तो आत्मा और शरीर दोनों मिलकर एक हो जायें, आत्मा को जड़ शरीर होना पड़े; क्योंकि यः परिणामति स कर्ता के सिद्धान्तानुसार शरीर के कर्ता को शरीररूप होना ही होगा; अन्यथा वह कर्ता नहीं हो सकेगा।

परमाणु का कार्य परमाणु के कारण और आत्मा का कार्य आत्मा के कारण होता है। द्रव्य की प्रत्येक पर्याय भी अपनी शक्तियों तथा अवस्थाओं से अभेद हैं तथा अन्य से भिन्न है। जीव की इच्छा होने पर भी कई बार बोल नहीं पाता। पक्षाघात के समय इच्छा होने पर भी शरीर नहीं चलता; क्योंकि इच्छा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जीव के कारण जड़ की अवस्था नहीं होती है, आत्मा का काम तो जानना-देखना है। अज्ञानी जीव माने या न माने, परन्तु वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही है। प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न है तथा पर से भिन्न है।

जिसतरह आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि शक्तियाँ हैं तथा उनकी वर्तमान अवस्था हीनाधिक होती रहती है। उसीप्रकार परमाणु की भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि शक्तियों की अवस्था पलटती रहती है। इसप्रकार गुणों के कायम रहते हुए अवस्था का पलटना द्रव्य का स्वरूप है। जैसे कि कुण्डल का व्यय होता है, कड़े का उत्पाद होता है और सोना चिकनाहट, वजन आदि शक्तिरूप से ध्रुव रहते हैं।

सर्वज्ञ भगवान ने जो छह पदार्थ देखे हैं, वे छहों अस्तिरूप हैं और उनमें से पाँच अस्तिकायरूप हैं। ये सभी द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों से टिके हुए हैं, किसी भी द्रव्य के गुण-पर्यायों का किसी अन्य द्रव्य के साथ कोई संबंध नहीं है। पदार्थों का अस्तित्व स्वभाव है और वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित है।

गुण शाश्वत ध्रुव है और पर्यायें क्षणिक उत्पाद-व्ययरूप हैं। ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु का अस्तित्व है। किसी अन्य की सहायता से किसी पर्याय का उत्पाद नहीं होता। वस्तु स्वयं अपनी सामर्थ्य से नयी-नयी पर्यायरूप उत्पन्न होती है।

वस्तु को सिद्ध करने के लिए द्रव्य-गुण-पर्यायों के भेद से कथन किया है, परन्तु वस्तुतः द्रव्य से उसके गुण-पर्याय सर्वथा भिन्न नहीं हैं तथा सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। यदि सर्वथा अभिन्न हों तो मात्र एक पर्याय जितना अथवा एक गुण जितना ही द्रव्य हो जायेगा। साथ ही 'यह द्रव्य और यह गुण' ऐसा भेद करके कथन भी नहीं हो सकेगा। अतः स्पष्ट है कि गुण-गुणी में कथंचित् भेद है, सर्वथा नहीं। वस्तु को समझाने के लिए गुण-पर्याय का भेद करके कथन किया है, लेकिन वस्तु तो अभेद है। इसप्रकार वस्तु को कथंचित् भेदाभेदरूप कहा है।

काया का तात्पर्य इस स्थूल पौद्गलिक शरीर से नहीं है, बल्कि प्रत्येक वस्तु के अनेक प्रदेशों का जो पिण्ड है, वही उसकी काया है।

यह शरीर आत्मा की काया नहीं है, वह तो पुद्गल की काया है। आत्मा के असंख्यात चैतन्य प्रदेश ही आत्मा की काया है। जड़काया आत्मा की नहीं है, वह तो पुद्गलास्तिकाय है। उसमें आत्मा का अस्तित्व नहीं है। इसलिए जो ऐसा मानता है, जड़ शरीर को आत्मा चलाता है वह जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय को भिन्न-भिन्न नहीं जानता।

काल को छोड़कर शेष पाँचों द्रव्यों की काया होती है, काया अर्थात् प्रदेशों का समूह, प्रदेश के सूक्ष्म अविभागी अंश हैं, उन्हें सर्वज्ञ के सिवाय कोई दूसरा जान नहीं सकता है।

जीव के जो असंख्यप्रदेश कहे हैं, वे अंशकल्पना से कहे हैं। जिसप्रकार जीव के प्रदेश कभी भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं; उसीप्रकार धर्म, अधर्म और आकाश के अंश भी भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं। पुद्गल का स्कंध होता है और भिन्न-भिन्न होकर उसके अणु भी हो जाते हैं; इसलिए पुद्गल का कायपना उपचार से कहा है।

एक द्रव्य में जो अनेक प्रदेशों की अंशकल्पना है, उसे भी पर्याय कहते हैं। अखण्ड क्षेत्र के अंश हुए इसलिए वह भी पर्याय है। एक प्रदेश अन्य प्रदेशरूप नहीं है। यदि ऐसा न हो तो एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप

हो जायेगा और वस्तु के अनेक प्रदेश ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे। आत्मा के असंख्यात प्रदेश अनादि-अनंत हैं। उसका कोई भी प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप कभी भी नहीं होता है।

जैसे श्रद्धा-ज्ञानादि भाव अर्थात् गुणों की पर्याये हैं; उसीप्रकार क्षेत्र की भी पर्यायें हैं। सभी द्रव्यों का अपने स्वरूप से एकत्व है। जैसे गुण-पर्यायों के कथंचित् भिन्न होने पर भी उनसे वस्तु भिन्न नहीं है; उसीप्रकार क्षेत्र के अंशकल्पना से भेद करने पर भी वस्तु में भेद नहीं होता है।

यद्यपि जीव, धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश अखंड अमूर्तिक द्रव्य हैं, परन्तु उनमें भी अंश कल्पना हो सकती है। जैसे आकाश एक अखंड अमूर्तिक द्रव्य होते हुए भी उसमें 'यह घटाकाश है और पटाकाश है' हू ऐसे विभाग होते हैं। अथवा दो उंगलियाँ हैं, उनमें उन दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। जो एक उंगली का क्षेत्र है वह दूसरी उंगली का नहीं है हू ऐसा कह सकते हैं। यदि आकाश में अंशकल्पना हो ही नहीं सकती तो दो उंगलियों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न कैसे कह सकते हैं।

इसप्रकार कालद्रव्य के अतिरिक्त पाँचों द्रव्यों का अस्तिकायपना है। इन पाँच द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रुवता से तीन लोक की रचना है। काल सहित इन पाँच द्रव्यों के अतिरिक्त जगत कोई अलग नहीं है। इन छह द्रव्यों का समूह ही जगत है।

जगत के पदार्थों में उत्पाद-व्यय-ध्रुव हू सब अपने-अपने कारणों से हो रहे हैं, उसमें हर्ष-विषाद का क्या काम ? ऐसा राग-द्वेष रहित ज्ञाता रहना ही पंचास्तिकाय के स्वतंत्र परिणामन के जानने का फल है।

जो पाँच अस्तिकाय हैं, उनसे तीन लोक की रचना है। उनमें आकाश, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तो ऊर्ध्व-मध्य-अधो हू तीनों लोकों में प्रतिक्षण परिणामन कर रहे हैं और अखंडपने संपूर्ण लोक में व्याप्त हैं। आकाश तो अलोकाकाश में भी व्यापक है, लेकिन यहाँ लोक का वर्णन करना है अतः यहाँ आकाश को लोकव्यापक कहा है।



जीव के असंख्यप्रदेश हैं, यही जीव का कायपना है। केवली समुद्घात के समय जीव तीनलोक में व्याप्त होता है; इसकारण भी जीव में अंशकल्पना संभव है। इसप्रकार ये पाँच अस्तिकाय स्वयंसिद्ध है, उनके उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वरूप ही यह लोक है।

संसारी जीव का जो संकोच-विस्तार होता है, वह उसके असंख्यप्रदेशी अस्तिकाय के परिणमन की योग्यता से ही होता है। नामकर्म के कारण आत्मा में संकोच-विस्तार नहीं होता। सिद्धदशा में आत्मा में वैसी संकोच-विस्तार की योग्यता नहीं है, इसलिए वहाँ संकोच-विस्तार नहीं होता। आत्मा में जो भी विकार होता है, वह अपने अस्तिकाय का परिणमन है; कर्म के कारण नहीं।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में द्रव्यों के अस्तित्व व कायत्व को सिद्ध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जिन्हें विविध गुणों के विस्तार क्रम के तथा पर्यायों के प्रवाह के अंशों के साथ अपनत्व है, वे अस्तिकाय हैं तथा उन्हीं से तीन लोक निष्पन्न हैं। ●

यों समताश्री अपने बेटे-बहू को भी, बेटे-बहू की दृष्टि से कम और आत्मार्थी के नजरिया से अधिक देखती हैं। अतः उनके लक्ष्य से प्रवचन करने पर भी अन्य सभी श्रोता हर्षित ही होते हैं। विराग की पैनी बुद्धि से उद्भूत शंकाओं के समाधानों से सभी लोग लाभान्वित भी बहुत होते हैं।

“वस्तु स्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा की स्थिति कैसे संभव है?” इस प्रश्न के समाधान के लिए विराग और चेतना आतुर हैं। वे सही-सही समाधान पाने के प्रति पूर्ण आश्वस्त हैं। उन्हें विश्वास है कि आज उनकी बहुत दिनों से उलझी पहली सुलझेगी, उन्हें उनकी शंकाओं का समाधान मिल ही जायेगा।

— नींव का पत्थर, पृष्ठ-४२

## गाथा ६

विगत गाथा में पाँच द्रव्यों के अस्तित्व और कायत्व की सिद्धि की है। तथा पञ्चास्तिकायों से त्रिलोक निष्पन्न है ह्व ऐसा कहा है। अब इस गाथा में कालद्रव्य से सहित छह द्रव्य कहे हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

तेचेव अत्थिकाया तेक्कालियभावपरिणदा णिच्चा ।

गच्छंति दवियभावं परियट्टणलिंगसंजुत्ता ॥६॥

(हरिगीत)

त्रिकालभावी परिणमित होते हुए भी नित्य जो।

वे पंच अस्तिकाय वर्तनलिंग सह षट् द्रव्य हैं ॥६॥

जो तीन काल के भावों रूप परिणमित होते हैं तथा नित्य हैं, वे पंच अस्तिकाय कालद्रव्य सहित छहों द्रव्य हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ह्व “यहाँ पाँच अस्तिकायों को और काल को द्रव्यपना कहा है।

द्रव्य वास्तव में सहभावी गुणों तथा क्रमभावी पर्यायों को अनन्यरूप से आधारभूत हैं। इसलिए जो वर्त चुके हैं, वर्त रहे हैं और भविष्य में वर्तेंगे उन भावों या पर्यायोंरूप परिणमित होने के कारण पाँच अस्तिकाय और काल ह्व ये छहों द्रव्य हैं।

भूत-वर्तमान और भावी भावों स्वरूप परिणमित होने से उन्हें अनित्य नहीं कह सकते; क्योंकि भूत, वर्तमान और भावी भावरूप अवस्थाओं में भी प्रतिनियत अर्थात् अपने-अपने निश्चितस्वरूप को नहीं छोड़ते, इसलिए वे नित्य ही हैं।

कालद्रव्य पुद्गलादि के परिवर्तन का हेतु होने से तथा पुद्गलादि के परिवर्तन द्वारा उसकी पर्यायें ज्ञात होती हैं, इसलिए कालद्रव्य को अस्तिकायों में अन्तर्भाव करने के लिए उसे परिवर्तन लिंग विशेषण नाम दिया है।”

(26)



यहाँ कालद्रव्य को 'परिवर्तन लिंग' जो नाम दिया है, इसके दो कारण हैं ह्व एक तो यह कि छहों द्रव्यों में परिवर्तन या परिणामन होता है, उसमें कालद्रव्य की निमित्तता है। जब भी किसी भी द्रव्य में जो भी परिणामन या परिवर्तन होगा; उसके अपने पाँच समवायों में निमित्त समवाय के रूप में कालद्रव्य ही होगा।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक पर्याय के परिणामन में या प्रत्येक कार्य के होने में पाँच समवाय अर्थात् पाँच कारण होते हैं ह्व स्वभाव, पुरुषार्थ, होनहार, काल और निमित्त। इनमें प्रारंभ के चार कारण तो स्वद्रव्यरूप उपादान में ही होते हैं और पाँचवाँ कारण निमित्तरूप परद्रव्य होता है। इसप्रकार कालद्रव्य छहों द्रव्यों के परिवर्तन में कारण हैं, अतः इसे परिवर्तन लिंग कहा है।

दूसरा कारण यह है कि द्रव्यों के पर्यायरूप परिणामन से ही कालद्रव्य की पहचान होती है। पुद्गलादि का परिवर्तन ही जिसका लिंग है अर्थात् जिसकी पहचान है, वह परिवर्तन लिंग है।

देखो, कालद्रव्य आँखों से दिखाई तो देता नहीं है, पुद्गलादि में जो परिवर्तन होता है, वह कार्य होता है, तो उसका कोई निमित्त कारण भी होना चाहिए ह्व इसप्रकार परिवर्तनरूप चिह्न द्वारा काल का अनुमान होता है। इसलिए काल परिवर्तन लिंग है तथा पुद्गलादि के परिवर्तन द्वारा कालद्रव्य की पर्यायें समय आदि ज्ञात होते हैं, इसलिए भी काल परिवर्तन लिंग है।

कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं :-

(दोहा)

गुन परजै करि विविध है, अस्तिकायकौ रूप।

गुन परजै सो दरव है, तातैं वस्तु अनूप॥४५॥

(सवैया तैईसा)

देवसरूप धरौ नर छाँड़िकै,चेतन एक दोऊ संग ठानै।

जाकौ विनास उदोत है ताहीकौ, सोई सदा थिर लोक प्रवानै॥

आनकै मानत आन उदै, विनसै पुनि आन रहै कोऊ आनै।

तातैं है एक ही वस्तु में अस्ति, सोई त्रिक रूप जिनेस बखानै॥४४॥

एक अस्तिकाय द्रव्य अपने गुण व पर्यायों के भेद से विविध प्रकार का है। द्रव्यगुण पर्यायवान अनुपम वस्तु है। नवभव-नरपर्याय छोड़कर देवपर्याय में गया तब चेतन रूप जीव तो नहीं है, जिसका व्यय होता है उसी का उत्पाद होता है, ध्रुव भी नहीं रहता है। अन्य मत वाले ऐसा मानते हैं कि - अन्य का उदय हुआ, विनाश किसी अन्य का हुआ और ध्रुव कोई तीसरा ही रहा, परन्तु जिनमत में तो एक ही वस्तु उत्पाद-व्यय व ध्रुव रूप से तीन रूप में रहती है।

“यद्यपि किसी भी द्रव्य की पर्याय पर के कारण न हुई है, न हो रही है और न होगी। आत्मा जो विकाररूप परिणामा है, वह भी अपना गुण-पर्यायों से ही परिणामा है, पर के कारण नहीं। अर्थ समय का ऐसा ही स्वभाव है। जैसा अर्थ समय का स्वभाव है, वैसा ही ज्ञान समय उसे जानता है और वैसा ही वाणी में आता है।.....

यदि कोई द्रव्य काल के कारण परिणामें तो उस द्रव्य का द्रव्यपना ही कहाँ रहा ? कर्म के कारण विकार नहीं होता और कालद्रव्य के कारण सिद्ध भगवान को नहीं परिणामना पड़ता, द्रव्य स्वयं ही तीनों काल अपनी अवस्थारूप से परिणामता है.....।”

यहाँ इस गाथा का और तदनुसार गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी का अभिप्राय यह है कि सभी द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलंबी हैं। परद्रव्य के कारण परिणामन नहीं होता। हाँ, जो भी किसी भी द्रव्य में स्वभावतः अपने में स्वचतुष्टय रूप से परिणामन होता है, उसमें पाँचों समवाय सहज स्वतः होते ही हैं; निमित्त समवाय के रूप में कालद्रव्य का अस्तित्व भी वहाँ होता ही है।

( 27 )

## गाथा ७

विगत गाथा में छह द्रव्यों के अस्तित्व की चर्चा की। अब प्रस्तुत गाथा में छह द्रव्यों के स्वरूप की चर्चा है। मूलगाथा इसप्रकार है ह

अण्णोण्णं पविसंता देता ओगासमण्णमण्णस्स ।  
मेलंता वि य णिच्चं संग सभावं ण विजहंति ॥७॥

(हरिगीत)

परस्पर मिलते रहें अरु, परस्पर अवकाश दें।

परस्पर मिलते हुए भी, छोड़ें न स्व-स्वभाव को ॥७॥

यद्यपि वे द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर एक-दूसरे को अवकाश देते हैं, परस्पर मिलते हैं; तथापि सदा अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं ह

“यहाँ छह द्रव्यों का परस्पर अत्यन्त संकर होने पर भी अर्थात् मिलाप होने पर भी वे अपने-अपने निश्चितस्वरूप से च्युत नहीं होते। इसलिए परिणामवाले होने पर भी वे नित्य हैं। ऐसा पहले (छठवीं गाथा में) कहा था और इसीलिए वे एकत्व को प्राप्त नहीं होते; और यद्यपि जीव तथा कर्म को व्यवहारनय के कथन से एकत्व है तथापि वे (जीव तथा कर्म) एक दूसरे के स्वरूप को ग्रहण नहीं करते।”

कवि श्री हीराचन्द्रजी इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं ह

(सोरठा)

जीव दरब चिद्रूप, जदपि करमसौं मिलि रहै ।

तदपि न तजै स्वरूप, निहचै नय अवलोकतैं ॥६०॥

यद्यपि चैतन्यस्वरूपी जीवद्रव्य संसार अवस्था में कर्मों से मिल रहे हैं, तथापि निश्चयनय से वे अपना-अपना स्वरूप नहीं छोड़ते। ●

नोट : इस गाथा के विषय में गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा लिखा हुआ नहीं मिला।

## गाथा ८

विगत गाथा में यह कह आये हैं कि ह यद्यपि छहों द्रव्य क्षीरनीर के समान एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, तथापि अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। अब इस गाथा में सत्ता (अस्तित्व) का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

मूलगाथा इसप्रकार है ह

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।

भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥८॥

(हरिगीत)

सत्ता जनम-लय-ध्रौव्यमय अर एक सप्रतिपक्ष है।

सर्वार्थ थित सविश्वरूप-रु अनन्त पर्ययवंत है ॥८॥

सत्ता, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, एक, सर्वपदार्थस्थित, सविश्वरूप, अनन्तपर्यायमय और सप्रतिपक्ष है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में स्पष्टीकरण करते हैं कि “यहाँ अस्तित्व का स्वरूप कहा है। अस्तित्व अर्थात् सत्ता नामक सत् का भाव सत्त्व। यहाँ सत्त्व का अर्थ है सत्पना, अस्तित्वपना या विद्यमानपना।

विद्यमान वस्तु अर्थात् सत् स्वरूप वस्तु न तो सर्वथा नित्य ही होती है और न सर्वथा क्षणिक ही। यदि सर्वथा नित्य माना जाय तो सर्वथा नित्य वस्तु को क्रमभावी भावों का अभाव होने से अर्थात् परिणमन न होने से विकार कैसे होगा, परिवर्तन कहाँ से होगा ? और सर्वथा क्षणिक मानने से क्षणिक वस्तु में वास्तव में प्रत्यभिज्ञान का अभाव होने से एक प्रवाहपना नहीं रह सकेगा। वस्तु सर्वथा क्षणिक हो तो ‘यह वही वस्तु है, जिसे पहले देखा था’ ह ऐसा ज्ञान कैसे होगा ?

इसलिए प्रत्यभिज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष व परोक्ष का जोड़रूप ज्ञान के हेतुभूत किसी एक स्वरूप से ध्रुव रहती हुई और किन्हीं दो क्रमवर्ती स्वरूपों से नष्ट होती हुई तथा उत्पन्न होती हुई एक ही काल में उत्पाद-व्यय-ध्रुव ह्व इन तीन अंशवाली अवस्था को धारण करती हुई वस्तु को सत् कहते हैं। इसीलिए सत्ता भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है; क्योंकि भाव और भाववान अर्थात् सत्ता और वस्तु का कथंचित् एक स्वरूप होता है।

वह सत्ता एकरूप इसलिए है; क्योंकि वह त्रि-लक्षणवाले समस्त वस्तु विस्तार का सादृश्य सूचित करती है। तथा वह सत्ता सर्व पदार्थों में स्थित इसकारण है; क्योंकि उसके कारण ही सर्व पदार्थों में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप त्रिलक्षण की तथा सत् की प्रतीति होती है। वह सत्ता सविश्वरूप है; क्योंकि वह विश्व के रूपों सहित अर्थात् समस्त वस्तुविस्तार के त्रिलक्षणवाले स्वभाव सहित है। वह सत्ता अनन्त पर्यायमय भी है, क्योंकि वह त्रिलक्षणवाली अनन्त द्रव्य-पर्यायरूप व्यक्तियों से व्याप्त है।

सत्ता का स्वरूप ऐसा होने पर भी वह वस्तुतः निरंकुश नहीं है अर्थात् निःप्रतिपक्ष नहीं है, विरुद्ध पक्ष रहित नहीं है। सप्रतिपक्ष है, प्रतिपक्ष सहित है। सामान्य-विशेष सत्ता का जो ऊपर वर्णन किया है, वैसी होने पर भी 'सर्वथा' वैसी नहीं है, एकान्त पक्ष वाली नहीं है, उसका दूसरा पक्ष भी है।

(१) सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है, (२) त्रिलक्षण का प्रतिपक्ष अत्रिलक्षण है, (३) एक का प्रतिपक्ष अनेकपना है, (४) सर्व पदार्थ स्थित का प्रतिपक्ष एक पदार्थ स्थितपना है, (५) सविश्वरूप का प्रतिपक्ष एकरूपपना है, (६) अनन्त पर्यायमयता का प्रतिपक्ष एक पर्यायपना है।

सत्ता दो प्रकार की है ह्व एक महासत्ता और दूसरी अवान्तरसत्ता।

सर्व पदार्थ समूह में व्याप्त होनेवाली, सादृश्य अस्तित्व को सूचित करने वाली सामान्यसत्ता ही महासत्ता है तथा एक-एक निश्चित वस्तु में

रहनेवाली, स्वरूप अस्तित्व को सूचित करनेवाली अवान्तरसत्ता है। इसे विशेष सत्ता भी कहते हैं।

ध्यान रहे, महासत्ता अवान्तरसत्तारूप से असत्ता है और अवान्तरसत्ता महासत्तारूप से असत्ता है। इसप्रकार दोनों सत्ताओं में असत्तापना घटित होता है। इसीप्रकार अन्यत्र छहों बोलों में घटित किया जा सकता है।

इसप्रकार अपेक्षा समझने पर सभी कथन निर्दोष हैं; क्योंकि सत्तास्वरूप वस्तु का कथन सामान्य और विशेष की अपेक्षा दो नयों के आधीन है।

उपर्युक्त कथन के स्पष्टीकरण में उसी महासत्ता में त्रिलक्षण एवं अत्रिलक्षणा धर्म घटित करते हुए कहा है कि ह्व "महासत्ता उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य ह्व ऐसे तीन लक्षणवाली है, इसलिए वह त्रिलक्षणा है तथा वस्तु उत्पन्न होनेवाले स्वरूप का अकेला उत्पाद ही एक लक्षण है, नष्ट होनेवाले स्वरूप का अकेला व्यय ही एक लक्षण है और ध्रुव रहनेवाले स्वरूप का अकेला ध्रुव ही एक लक्षण है; इसलिए उन तीन स्वरूपों में से प्रत्येक की अवान्तर सत्ता एक-एक लक्षणवाली ही होने से 'अत्रिलक्षणा' है।

इसीप्रकार महासत्ता लोक के समस्त पदार्थों में सत्-सत्-सत् ह्व ऐसा समानपना दर्शाती है; इसलिए वह एक है तथा एक वस्तु की स्वरूपसत्ता अन्य किसी वस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं है; इसलिए जितनी वस्तुएँ उतनी स्वरूप सत्तायें हैं। ऐसी स्वरूप सत्तायें अर्थात् अवान्तरसत्तायें अनेक हैं।

इसप्रकार सामान्य-विशेषात्मक सत्ता के ये पक्ष हैं ह्व एक महासत्तारूप तथा दूसरा अवान्तरसत्ता रूप होने से (१) सत्ता भी है और असत्ता भी है। (२) त्रिलक्षणा भी है और अत्रिलक्षणा भी है। (३) एक भी है और अनेक भी है। (४) सर्व पदार्थ स्थित भी है और एक पदार्थ स्थित भी है। (५) सविश्वरूप भी है और अविश्वरूप भी है (६) अनन्त पर्यायमय भी है

और एक पर्यायमय भी है। (७) अनन्त पर्यायमय भी है और (८) एक पर्यायमय भी हैं।

अब कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह  
(अडिल्ल)

सरव पदारथ विषै सरूप अनेक है।  
उपजै विनसै अचल महासत एक है ॥  
एकरूप प्रतिपच्छ सु एक सुपच्छ हैं।  
परजै विविध प्रकार सु सत्ता लच्छ है ॥६२॥  
(सवैया इकतीसा)

अपनै चतुष्टयसौं सबै वस्तु पुष्ट लसै,  
उपजै विनसि रहै सत्ता तामैं सार है।  
जैसैं हेम अस्ति मुद्रा कुंडल कटक विषै,  
तैसैं वस्तु वर्तनामैं सत्ता अनिवार है ॥  
सत्तामैं अनंत परजायकौ सरूप लसै,  
सत्ता एकरूप सत्ता नाना परकार है।  
सत्ता प्रतिपच्छ गहै सत्ता सबै रूप वहै,  
ऐसी सुद्ध सत्ताभूमि द्रव्यकौ विचार ॥६२॥

सभी वस्तुयें अपने-अपने चतुष्टय से स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव से रहते हुए अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव में वर्तते हैं। जैसे स्वर्ण-स्वर्णपने रहते हुए भी कुण्डल आदि के रूप में परिणामन करता है; वैसे ही सभी वस्तुयें वर्तना कहते हुए स्थिर रहती हैं।

पदार्थों के अस्तित्व का नाम सत्ता है। ये सत्तायें दो प्रकार की हैं -  
१. महासत्ता और २. आवान्तर सत्ता। लोक से सभी पदार्थों का एक नाम महासत्ता है। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से एक अस्तित्व में हैं तथा आवान्तर सत्ता अर्थात् सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप अस्तित्व में हैं।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि -

“पदार्थ के अस्तित्व का नाम ही सत्ता है और वह महासत्तारूप से लोक के सभी पदार्थों के अस्तित्व रूप से है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सभी स्वरूप मिलकर एक हैं। महासत्ता अर्थात् सब अपने-अपने स्वरूप अस्तित्व में हैं। सब हैं अर्थात् निगोदिया भी हैं और सिद्ध भी हैं, चेतन भी हैं और जड़ भी हैं। सब अपने-अपने स्व-चतुष्टय से पूर्णतया स्वतंत्र अस्तित्व में हैं हू ऐसा ज्ञान होते ही आत्मा अकेला ज्ञाता रह जाता है। सब अपने-अपने अस्तित्व में हैं हू ऐसा जानने से स्वतः वीतरागभाव आता है।

प्रतिपक्षसहित का खुलासा करते हुए कहा है कि हू महासत्तारूप से महासत्ता सत् है; परन्तु अवान्तरसत्तारूप से महासत्ता नहीं है, क्योंकि महासत्ता में भेद नहीं पड़ते। महासत्ता प्रतिपक्ष सहित है।

जैसे कि हू १. महासत्ता एक है, अवान्तरसत्तायें अनेक हैं। २. महासत्ता सामान्य अस्तित्व रूप से समस्त पदार्थों में व्यापक है, अवान्तर सत्ता एक पदार्थ में व्यापक है। ३. महासत्ता अनेक स्वरूप है, अवान्तरसत्ता एक स्वरूप है। ४. लोकालोक यदि महासत्ता है तो एक-एक द्रव्य अवान्तरसत्ता है। वस्तुतः छहों द्रव्यों के संग्रह का नाम ही महासत्ता है। ५. यदि एक द्रव्य को महासत्ता कहें तो उसके अन्तर्गत भेद अवान्तरसत्ता हैं।

महासत्ता का अर्थ यह नहीं कि सभी पदार्थों के बीच महासत्ता का अलग डोरा पिरोया हुआ है अथवा सभी पदार्थों का वह एक अधिष्ठान है। यहाँ महासत्ता का अर्थ तो इतना ही है कि सभी पदार्थों में अस्तित्व है। सभी पदार्थों के सामान्य अस्तित्व को एकसाथ कहने का नाम ही महासत्ता है। पहले ‘सब हैं’ ऐसी महासत्ता स्थापित करके फिर उसमें अवान्तरसत्तारूप विशेष भेद पड़ते हैं कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं।

निष्कर्ष यह है कि ह्व अवान्तरसत्ता और महासत्ता की सिद्धि करके आचार्यदेव ने श्रुतज्ञान में अनन्त केवलज्ञान को समा दिया है। “देखो, श्रुतज्ञान महासत्ता और अवान्तरसत्ता ह्व दोनों को जानता है और महासत्ता के अन्तर्गत अनन्त केवली और केवलज्ञान का सम्पूर्ण विषय अर्थसमय के रूप में आ जाता है तथा अवान्तरसत्ता में वे अनन्त केवली और उनके केवलज्ञान के विषयभूत पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं ह्व ऐसा भी श्रुतज्ञान जान लेता है।

ऐसे सम्यक् श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञानी जीवों की परिणति स्वतः स्वभाव-सन्मुख होकर वीतरागभावरूप होने लगती है; क्योंकि सम्यक् श्रुतज्ञान से ऐसे स्वतंत्र वस्तुस्वरूप के यथार्थ निर्णय से ज्ञानी जीवों का कर्तृत्व-भोक्तृत्व समाप्त हो जाता है। वे जगत के ज्ञाता-दृष्टा रह जाते हैं।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक बताते हुए महासत्ता एवं आवान्तर सत्ता के स्वरूप को विस्तार से समझाया है।

यद्यपि जीवराज कर्मकिशोर का जनम-जनम का साथी है, दोनों में अत्यन्त घनिष्ठता है; परन्तु जीवराज यदि कोई अपराध (पाप) करता है तो कर्मकिशोर स्वभाव के अनुसार उसे दण्ड देने से भी नहीं चूकता और यदि वह भले काम करता है तो उसे पुरस्कृत भी करता और उसे लौकिक सुखद सामग्री दिलाने में कभी पीछे नहीं रहता।

कोई कितना भी छुपकर गुप्त पाप करे अथवा भले काम करते हुए उनका बिल्कुल भी प्रदर्शन न करे तो भी कर्मकिशोर को पता चल ही जाता है। कहने को वह जड़ है; पर पता नहीं, उसे कैसे पता चल जाता है, उसके पास ऐसी कौनसी सी.आई.डी. की व्यवस्था है, कौनसा गुप्तचर विभाग सक्रिय रहता है, जो उसे जीव के सब अच्छे-बुरे कार्यों की जानकारी दे देता है?

- नींव का पत्थर, पृष्ठ-९

## गाथा ९

पिछली गाथा में उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक, एक, सर्वपदार्थ स्थित, सविश्वरूप और अनन्त पर्यायमय सत्ता का स्वरूप कहा और अब नवीं गाथा में द्रव्य का स्वरूप बताते हैं। मूलगाथा इसप्रकार है।

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।

दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥९॥

(हरिगीत)

जो द्रवित हो अर प्राप्त हो सद्भाव पर्ययरूप में।

अनन्य सत्ता से सदा ही वस्तुतः वह द्रव्य है ॥९॥

“उन-उन सद्भाव पर्यायों रूप जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं, जो कि सत्ता से अनन्य हैं।”

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि “यहाँ सत्ता को और द्रव्य को अर्थान्तरपना होने का खण्डन है; भिन्न पदार्थपने का खण्डन है।”

जो उन-उन क्रमभावी और सहभावी स्वभाव पर्यायों को द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं।

“जो सामान्यरूप से स्वरूप से व्याप्त होता है तथा क्रमभावी और सहभावी सद्भाव पर्यायों को प्राप्त होता है अर्थात् स्वभाव विशेषों को जो द्रवित होता है ह्व प्राप्त होता है, वह द्रव्य है।”

“यद्यपि लक्ष्य-लक्षण के भेद द्वारा द्रव्य को सत्ता से कथंचित् भेद है, अन्यपना है; तथापि वस्तुतः परमार्थतः द्रव्य सत्ता से अभेद अर्थात् अपृथक् ही है।”

इसलिए पहले<sup>१</sup> सत्ता को जो सत्पना-असत्पना, त्रिलक्षणपना-अत्रिलक्षणपना, एकपना-अनेकपना सर्व पदार्थ स्थितपना -एकपदार्थ स्थितपना, विश्वरूपपना-एकरूपपना, अनन्तपर्यायमयपना-

( 31 )



एकपर्यायमयपना कहा गया है, वह सब द्रव्य की सत्ता से अभिन्न अनन्य देखने के लिए कहा है; इसलिए इनमें कोई ऐसी सत्ताविशेष शेष नहीं रहती, जो कि सत्ता को वस्तुतः द्रव्य से पृथक् स्थापित करे।”

जयसेनाचार्य की टीका में भी अमृतचन्द्राचार्य की भांति ही द्रवति गच्छति का एक अर्थ तो ‘द्रवित होता है, प्राप्त होता है’ ऐसा ही किया है; परन्तु दूसरा अर्थ ऐसा भी किया है कि ‘द्रवति’ अर्थात् स्वभाव पर्यायों को द्रवित होता है और गच्छति अर्थात् विभावपर्यायों को प्राप्त होता है। यद्यपि इस कथन से मूल अर्थ में कोई सैद्धान्तिक फर्क नहीं पड़ता; परन्तु उसी सामान्य कथन का स्पष्टीकरण किया है।

यहाँ कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह

(दोहा)

जो परजायसरूप धरि, नानारूपी होइ।

द्रव्य नाम ताकौ कहैं, सत्ता है पुनि सोइ॥४७॥

सिवगामी जे जीव हैं, काल लबधिकौं पाइ।

सत्ता द्रव्य स्वरूपकौं, लखैं जथावत भाइ॥७६॥

जो वस्तु नाना रूपों में पर्यायरूप से परिणामन करती है, उसे द्रव्य कहते हैं उसी को सत्ता कहते हैं तथा जो जीव मुक्तिगामी हैं, वे काललब्धि को प्राप्त कर सत्ता स्वरूप को यथार्थ देखते हैं।

इस गाथा के स्पष्टीकरण में गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्रव्य के व्युत्पत्ति-परक अर्थ की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए पर्याय की स्वतंत्रता बताकर पाठकों को स्वरूपसन्मुख होने की प्रेरणा देते हैं। वे कहते हैं कि ह

“पर्याय किसी निमित्त के कारण नहीं होती; किन्तु द्रव्य स्वयं ही अपनी पर्यायरूप द्रवित होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय को कौन द्रवित करता है? द्रव्य स्वयं ही उन पर्यायों रूप द्रवित होता है। अतः सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवालों को मात्र द्रव्य सम्मुख देखना ही रहा; द्रव्य और पर्याय में कुछ करना-धरना तो है ही नहीं।

निगोद का जीवद्रव्य अपनी तत्समय की योग्यता से स्वयं ही अपनी विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है। सिद्ध की पर्यायरूप भी उनका

द्रव्य स्वयं परिणामित होता है, किसी निमित्त के कारण वे पर्यायें द्रवित नहीं होतीं। स्वभावपर्यायरूप परिणामे या विभावपर्यायरूप परिणामे, उसरूप द्रव्य ही परिणामित होता है।

द्रव्य की सत्ता स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप है। सामान्यरूप से सब सत् होने पर भी प्रत्येक की विशेषसत्ता भिन्न-भिन्न है। सभी द्रव्य सत् होने पर भी कोई परमानन्दमय है, कोई दुःखी है, कोई जड़ है, कोई चेतन है, कोई अल्पज्ञ है तो कोई सर्वज्ञ है ह इसप्रकार प्रत्येक की अवान्तर सत्ता भिन्न-भिन्न है; परन्तु ये सब महासत्ता में समा जाते हैं। सत्ता का यथार्थ स्वरूप श्रद्धापूर्वक जाननेवाले को सम्यग्ज्ञान होकर केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता।”

उपर्युक्त गाथा में तो मात्र द्रव्य का स्वरूप ही समझाया है, परन्तु टीका में एवं स्वामीजी के प्रवचन में सहभावी स्वभावगुण पर्यायों एवं क्रमभावी स्वभाव-विभाव पर्यायों की चर्चा करके सत्ता का यथार्थ स्वरूप जानने वालों को शीघ्र मुक्ति की प्राप्ति होती है ह ऐसा भाव दर्शाया है।

तात्पर्य यह है कि जिसने ऐसा निर्णय किया कि ह ‘अपने में जो भी किसी के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, अपने में सुख-दुख की पर्याय उत्पन्न होती है, वह अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण हुई; अनुकूल-प्रतिकूल परद्रव्य के कारण नहीं हुई।’ ह ऐसी श्रद्धावाला मात्र ज्ञाता रह जाता है; उसे पर के प्रति राग-द्वेष नहीं रहते। अस्थिरता का जो अल्प राग-द्वेष होता है, वह अनन्त संसार का कारण नहीं बनता।

यद्यपि यहाँ महासत्ता-अवान्तरसत्ता की व्याख्या करके ज्ञान प्रधानता की बात ही की है; परन्तु वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा एवं सम्यग्ज्ञान से आंशिक चारित्र भी आ ही जाता है। गुरुदेवश्री ने श्रद्धा और चारित्र की चर्चा करके अध्यात्म की गहराइयों में पहुँचाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। वे कहते हैं कि चारित्र की पूर्णता में भले ही थोड़ी देर हो, पर अनन्त संसार नहीं रहता। वे अल्पकाल में ही मुक्त हो जाते हैं। ●

(32)

## गाथा १०

पिछली गाथा में यह कहा है कि जो अपने मूल स्वरूप को न छोड़कर सत्ता से अनन्य रहकर पर्यायरूप परिणमित होता है, वह द्रव्य है।

अब कहते हैं कि ह्व जो सत् लक्षण वाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है एवं गुणपर्यायवान है वह द्रव्य है। मूलगाथा इसप्रकार है ह्व

**दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।**

**गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥**

(हरिगीत)

सद् द्रव्य का लक्षण कहा उत्पाद व्यय ध्रुव रूप वह।

वही आश्रय कहा है जिन गुणों अर पर्याय का ॥१०॥

जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है और जो गुण-पर्यायों का आश्रयभूत है, उसे सर्वज्ञदेव द्रव्य कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में तीन प्रकार से द्रव्य का लक्षण कहते हैं। प्रथम ह्व द्रव्य का लक्षण सत् है। उक्त सत्ता से द्रव्य अभिन्न होने के कारण सत् स्वरूप ही द्रव्य का लक्षण है; परन्तु अनेकान्तात्मक द्रव्य का 'सत्' मात्र ही स्वरूप नहीं है कि जिससे लक्ष्य-लक्षण के विभाग का अभाव हो। लक्ष्य-लक्षण का विभाग भी है।

यहाँ प्रश्न होता है कि ह्व यदि सत्ता से द्रव्य अभिन्न है तो सत्ता लक्षण व द्रव्य लक्ष्य ऐसे विभाव को घटित होता है?

उत्तर :- अनेकान्तात्मक द्रव्य के अनन्त स्वरूप है, उनमें सत्ता भी उनका एक स्वरूप है। इसलिए अनन्त स्वरूप वाला द्रव्य लक्ष्यी है और उसका सत्ता लक्षण है ह्व ऐसा लक्ष्य-लक्षण विभाव अवश्य घटित होता है। उत्पाद-व्यय होते हुए भी द्रव्य का ध्रौव्यपना कायम रहता है। वे तीनों सामान्य कथन से अभिन्न ही हैं।

'गुण-पर्याय' द्रव्य का तीसरा लक्षण है ह्व ऐसा जो कहा है। इस लक्षण में अनेकान्तात्मक वस्तु के अन्वयी विशेष गुण हैं और व्यतिरेकी

विशेष पर्यायें हैं। अन्वयी अर्थात् एकरूप, सदृशता। गुणों में सदैव एकरूपता ही रहती है, इसलिए उनमें सदैव अन्वय है तथा व्यतिरेक अर्थात् एक पर्याय का दूसरे रूप न होना। एक पर्याय दूसरे रूप न होने से पर्यायों में परस्पर व्यतिरेक है; इसलिए पर्यायें द्रव्य के व्यतिरेकी विशेष हैं; इसप्रकार एक ही साथ रहनेवाले गुण एवं क्रमशः प्रवर्तनेवाली पर्यायें द्रव्य से कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न हैं तथा स्वभावभूत हैं; अतः द्रव्य के लक्षण हैं।

द्रव्य के इन उपर्युक्त तीनों लक्षणों से एक का कथन करने पर शेष दोनों बिना कथन किए अर्थ से ही आ जाते हैं। यदि द्रव्य सत् हो तो वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला और गुण-पर्यायवाला होगा ही। यदि वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला हो तो वह सत् और गुण-पर्यायवाला भी होगा ही और यदि गुण-पर्यायवाला हो तो वह सत् एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला भी होगा ही।

इसप्रकार सत् नित्यानित्यस्वभाववाला होने से ध्रौव्य को और उत्पाद-व्ययात्मकता को प्रगट करता है तथा ध्रौव्यात्मक गुणों और उत्पाद-व्ययात्मक पर्यायों के साथ एकत्व दर्शाता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नित्यानित्यात्मक पारमार्थिक सत् को बतलाते हैं। उत्पाद-व्यय अनित्यता को और ध्रौव्य नित्यता को बतलाता है। इसप्रकार 'द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' लक्षणवाला है ह्व ऐसा कहने से 'वह सत् है' ह्व ऐसा बिना कहे ही आ जाता है तथा अपने स्वरूप की प्राप्ति के कारणभूत गुण-पर्यायों को प्रगट करते हैं।

इसीप्रकार गुण-पर्यायें अन्वय व व्यतिरेकवाले होने से ध्रौव्य को और उत्पाद-व्यय को सूचित करते हैं एवं नित्यानित्यस्वभाववाले पारमार्थिक सत् को बतलाते हैं।”

इसी भाव को कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह्व

(दोहा)

उपजन विनसन ध्रुवत जुत, सत लच्छिन करि दच्छ।

गुण परजै जामै लसै, सो है दरव सुलच्छ ॥७७॥

तीनों लच्छिन दरवकै, अविनाभाव पिछान।

नित्य अनित्य समस्त जग, जगै जथावत ग्यान ॥७९॥

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप सत् लक्षण के साथ जिसमें गुण-पर्याय होते हैं, उसे द्रव्य कहते हैं। जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं, उनमें नित्यानित्यपना भी आ जाता है। इसप्रकार उक्त लक्षण में तीनों लक्षण घट जाते हैं।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने कहा है कि ह “द्रव्य और गुण-पर्याय में सर्वथा भेद नहीं है और सर्वथा अभेद भी नहीं है। यदि सर्वथा भेद होवे तो गुण और पर्याय अन्य-अन्य हो जाएँ और सर्वथा अभेद होवे तो गुण ही द्रव्य हो जाएँ अथवा पर्याय ही द्रव्य हो जाए; परन्तु ऐसा नहीं है।”

प्रश्न : वस्तु तो त्रिकाल है और स्वतंत्र है; परन्तु उसकी पर्यायें पराधीन हैं, वे पर के कारण होती हैं ह यह माने तो इसमें क्या दोष है ?

उत्तर : पर्यायों में पर की निमित्तता है; परन्तु जब वे स्वयं स्वतंत्रपने परणमती हैं, तब पर की निमित्तता कही जाती है। द्रव्य के एक सत् लक्षण में ‘उत्पाद-व्यय-ध्रुव और गुण-पर्याय’ दोनों लक्षण भी गर्भित हैं। इसप्रकार एक लक्षण में तीनों लक्षण समा जाते हैं; क्योंकि जो ‘सत्’ है वह नित्य और अनित्यस्वरूप है। नित्यस्वभाव में ध्रुवता और अनित्यस्वभाव में उत्पाद-व्यय आ जाते हैं इसप्रकार सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहा जाए तो उसमें गुण-पर्याय लक्षण भी आ जाता है। गुण कहने पर ध्रुवता और पर्याय कहने पर उत्पाद-व्यय आ जाते हैं। इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षण कहने से सत् लक्षण और गुण-पर्याय लक्षण भी आ जाता है और गुण-पर्याय लक्षण कहने से सत् लक्षण आ जाता है और उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षण भी आता है; क्योंकि द्रव्य नित्यानित्य है। इसप्रकार द्रव्य के तीनों लक्षणों में सामान्य-विशेषता से भेद है; परन्तु वास्तव में वस्तु भेद नहीं है।”

प्रस्तुत गाथा में वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला तो बतलाया ही है तथा गुण-पर्याय भी कहा है। टीका में वस्तुयें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होने से लक्ष्य-लक्षण भी घटाया है।

श्री हीरानन्द ने तथा श्री कानजीस्वामी ने भी मूलगाथा एवं टीका का समर्थन करते हुए वस्तु को त्रिकाल सत्, स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी कहा है। ●

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. .... दिनांक ....., पृष्ठ .....

## गाथा ११

पिछली गाथा में कह आये हैं कि ह द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त सत् है तथा वह द्रव्य गुणपर्यायवान है तथा नित्यानित्यात्मक है। अब कहते हैं कि ह द्रव्य उत्पाद-व्यय से रहित केवल सत् स्वभावी हैं। हाँ, उसकी पर्यायें उत्पाद विनाश एवं ध्रुवता को धारण करती हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

उत्पत्ती व विसाणो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो ।

विगमुप्पदध्रुवत्तं करेति तस्सेव पज्जाया ॥११॥

(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय से रहित केवल सत् स्वभावी द्रव्य है।

द्रव्य की पर्याय ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवता धरे ॥११॥

द्रव्य का कभी उत्पाद या विनाश नहीं होता ह सदा सद्भाव ही रहता है। हाँ, उसकी पर्यायें विनाश, उत्पाद और ध्रुवता धारण करती हैं।

समयव्याख्या टीका में आचार्य अमृतचन्द्र नयों द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं कि ह “यहाँ नयों द्वारा द्रव्य का लक्षण कहा गया है, इन दोनों की अपेक्षा से द्रव्य के लक्षण के दो विभाग किए हैं।

सहवर्ती गुणों और क्रमवर्ती पर्यायों के सद्भावरूप, त्रिकाल स्थित रहनेवाले, अनादि-अनन्त द्रव्य के विनाश और उत्पाद उचित नहीं है; परन्तु उसकी पर्यायों के (सहवर्ती कुछ पर्यायों के) ध्रौव्य होने पर भी अन्य क्रमवर्ती पर्यायों के विनाश और उत्पाद होना घटित होता है। इसलिए द्रव्य द्रव्यार्थिकनय के कथन से उत्पाद रहित, विनाश रहित, सत् स्वभाववाला ही होता है और वही द्रव्य पर्यायार्थिकनय के कथन से उत्पाद और विनाशवाला होता है। यह सब कथन निर्दोष एवं निर्बाध है; क्योंकि द्रव्य और पर्यायों में अभिन्नपना है।

द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य के उत्पाद-व्यय नहीं है, वह तो सदैव सत् भावरूप से ही रहता है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव तो पर्यायार्थिकनय से कहे हैं।”

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं कि ह

(दोहा)

व्यय उत्पाद न दरवकै, लसत सदा सद्भाव ।

व्यय उत्पाद ध्रुवत्ताविधि, पर्ययदृष्टि लखाव।।८१।।

(सवैया इकतीसा)

गुन और परजाय दौनों अस्तिरूप जामै,

तीन काल एक सोई द्रव्य नाम कहिए ।

क्रमभावी-पर्जय सो उपजै विनास होई,

सहभावी ध्रौव्यरूप परजाय लहिए।।

दरव परजायमें वस्तुरूप बसै सदा,

तातैं नयकौ विलास तिहूँ काल चहिए ।

दरव परजायकै अर्थ नय भेद त्यागि,

मध्यपाती जीव के अभेद अंग गहिए।।८१।।

द्रव्य का उत्पाद व विनाश नहीं होता; द्रव्य का सदा सद्भाव ही रहता है। उत्पाद-व्यय एवं ध्रुवता हूँ ये तीनों पर्यायदृष्टि कहे जाते हैं। हाँ, द्रव्य की पर्यायें उत्पाद विनाश एवं ध्रुवता को धारण करती हैं।

जिसमें गुण व पर्यायें दोनों अस्तिरूप से हैं। ये जो तीनों कालों में एक रूप रहती हैं, वह द्रव्य है तथा इनका जो क्रम से उपजना व विनाशना एवं ध्रुवरूप रहना है, वे सब गुण पर्यायों के भेद हैं।

उक्त द्रव्य व पर्यायों में वस्तुस्वरूप सदा एकरूप रहता है, इसलिए तीनों कालों में नयों की सापेक्षता होती है। मूलवस्तु के अनुभव में द्रव्य-पर्याय के नय भेदों को त्याग कर जीव अपने अभेदरूप को प्राप्त होता है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि हूँ अनादिनिधन त्रिकाल

अविनाशी गुण पर्यायस्वरूप द्रव्य का उत्पाद एवं विनाश नहीं होता। द्रव्य का स्वरूप सत्ता मात्र है। वह सत्तामात्र द्रव्य नित्य-अनित्य परिणाम रूप से उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमता है। किसी द्रव्य का चाहे वह आत्मा हो या परमाणु किसी का भी नाश नहीं होता। द्रव्य अनादि-अनंत है। अविनाशी है। उस द्रव्य का अस्तित्व मात्र स्वरूप है। उसका नित्यपना ध्रुव है तथा अनित्यपना उत्पाद-व्ययरूप है। वह उत्पाद-व्यय पर के कारण नहीं होता।

**भावार्थ** यह है कि हूँ अनादि अनंत अविनाशी टंकोत्कीर्ण गुणपर्याय रूप (अपेक्षा से) अविनाशी है और किसी परिणाम (अपेक्षा) से विनाशीक है। इस कारण से यह बात सिद्ध होती है कि द्रव्यार्थिकनय से तो द्रव्य ध्रुव स्वरूप है और पर्यायार्थिकनय से उत्पत्तिविनाशरूप है।

छहों द्रव्यों में गुण और पर्यायें हैं, उनमें त्रिकाल सहवर्ती परिणाम गुण और प्रतिसमय होनेवाली उत्पाद-व्यय पर्यायें हैं। अतः यह बात सिद्ध हुई कि प्रत्येक द्रव्य कायम रहने की अपेक्षा से नित्य है तथा पर्याय दृष्टि से अनित्य और नाशवान है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि हूँ द्रव्यदृष्टि से आत्मा ध्रुव है इसलिए उसकी पर्याय अलग रह जाती हो हूँ ऐसा नहीं है; परन्तु पर्याय दृष्टि से वही द्रव्य ध्रुव रहकर बदलता है। जैसे हाथ चक्की का निचला पाट स्थिर रहता है और ऊपर का पाट फिरता है, घूमता है, इसीप्रकार गुण त्रिकाल स्थिर रहते हैं और पर्यायें बदलती हैं। नित्यता का संबंध रखे बिना अनित्यता भिन्न ही रहती है हूँ ऐसा नहीं है। द्रव्यार्थिकनय से नित्य होने पर भी पर्यायार्थिकनय से वही द्रव्य अनित्यरूप होता है।

पूर्व पर्याय के व्यय और नई पर्याय के उत्पाद की अपेक्षा से विसदृशपना है और ध्रुवपने की अपेक्षा से सदृशतापना है। जैसे कुण्डल, कड़ा आदि अवस्थाएँ स्वर्ण से अत्यन्त पृथक् नहीं होती हैं। सुवर्ण ही पीलापन, चिकनापन आदि ध्रुवरूप रहकर कुण्डल, कड़ा इत्यादि पर्याय रूप होता है। इसीप्रकार आत्मद्रव्य सदृश रूप रहकर मिथ्यात्व-

सम्यक्त्वरूप होता है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक समय में पूरा द्रव्य आ जाता है। इसप्रकार समझकर पर का लक्ष्य छोड़कर स्वसन्मुख झुके तो स्वभाव की दृष्टि होती है।

जिसको धर्म करना हो उसको सर्वप्रथम आत्मा का स्वरूप समझना चाहिए। इसीलिए यहाँ आत्मा के तीन लक्षणों का वर्णन किया गया है। वस्तु सत् है अर्थात् सत् गुण है और वस्तु गुणी है। दूसरा लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहा था। सत्ता सामान्य लक्षण है और उत्पाद-व्यय-ध्रुव विशेष लक्षण है। द्रव्य का तीसरा लक्षण गुण-पर्याय है। द्रव्यार्थिकनय से नित्य दृष्टि की अपेक्षा द्रव्य नित्य है और पर्यायार्थिकनय से पलटने की अपेक्षा अनित्य है। इन दो नयों के पहलुओं से वस्तु की निर्बाध सिद्धि होती है।”

इस गाथा में एक बात तो यह उभरकर आयी है कि ह्र द्रव्य व गुणों के पलटने का नाम ही पर्याय है, द्रव्य व गुण त्रिकाल स्थिर रहे हैं और पर्यायें पलटती हैं ह्र ऐसा नहीं है; क्योंकि द्रव्य व गुणों से पृथक् पर्याय नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। गुरुदेव कहते हैं कि ह्र “द्रव्यदृष्टि से आत्मा ध्रुव है; इसलिए उसकी पर्याय अलग रह जाती है ह्र ऐसा नहीं है; परन्तु पर्यायदृष्टि से वही द्रव्य ध्रुव रहकर बदलता है।”

दूसरी बात यह आई है कि यदि परद्रव्य के कारण द्रव्य की अवस्था को होना माने तो द्रव्य का प्रतिसमय पलटने के स्वभाव का ही नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा, जबकि प्रतिसमय पलटना तो वस्तु का स्वभाव है। हाँ, जब द्रव्य अपने स्व-चतुष्टय से स्वतः पलटता है तो उस काल कार्य-कारण के अविनाभावी स्वभाव से पाँच समवाय भी स्वतः होते ही हैं।

प्रस्तुत गाथा का मर्म यह है कि इस वस्तुव्यवस्था की सच्ची समझ और यथार्थ श्रद्धा से जीव पर के कर्तृत्व के भार से निर्भर होकर स्वतः ही स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ जाग्रत करके मोक्षमार्ग में अग्रसर होता है।

## गाथा १२

पिछली गाथा में कह आये हैं कि ह्र द्रव्य में उत्पत्ति व विनाश नहीं है, सद्भाव है। उसकी पर्यायें उत्पत्ति विनाश एवं ध्रुवता करती हैं।

अब कहते हैं कि ह्र पर्यायों से रहित द्रव्य एवं द्रव्य बिना पर्यायें नहीं होती। दोनों अनन्य हैं। मूलगाथा इसप्रकार हैं ह्र

**पज्यविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।**

**दोणहं अणणभूदं भावं समणा परूवेत्ति ॥१२॥**

(हरिगीत)

पर्याय विरहित द्रव्य नहीं नहिं द्रव्य बिन पर्याय है।

श्रमणजन यह कहें कि दोनों अनन्य-अभिन्न हैं ॥१२॥

पर्यायों रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्यायें नहीं होतीं। दोनों अनन्य हैं, अभिन्न हैं।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव टीका में कहते हैं कि ह्र “यहाँ द्रव्य और पर्यायों का अभेद दर्शाया है। जिसप्रकार दूध, दही, मक्खन, घी आदि से रहित गोरस नहीं होता, उसीप्रकार पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता तथा जिसप्रकार गोरस से रहित दूध, दही, मक्खन, घी नहीं होते, उसीप्रकार द्रव्य से रहित पर्यायें नहीं होतीं।

इसलिए यद्यपि द्रव्य और पर्यायों का कथनवश कथंचित भेद है; तथापि वे एक अस्तित्व में होने के कारण अन्योन्य वृत्ति नहीं छोड़ते, एक-दूसरे का आश्रय नहीं छोड़ते अर्थात् परस्पर कार्य-कारण संबंध से भी एकत्व ही बना रहता है। इसलिए वस्तुरूप से उनका अभेद है।”

इसी भाव को कविवर हीरानन्द ने इसप्रकार लिखा है ह्र



( दोहा )

परजय-विजुद न दरव है, दरव बिन न परजाय ।  
अजुतरूप दोनों लसै, कहत सिरी जिनराय ॥८५॥

( सवैया )

दूध दही घीव छाँछि बिना ज्यों गोरस नाहैं ।  
तैसेँ परजाय बिना द्रव्यकों न गावैं हैं ॥  
गोरस बिना ज्यों दूध दही घीव छाँछि नाहैं ।  
द्रव्य बिना तैसेँ परजाय न कहावै है ॥  
तातैं द्रव्य परजाय कहने में भेद सधै ।  
वस्तुतैं सरूप एक भेद नाहीं भावै है ॥  
स्याद्वादवादी ह्वै कै द्रव्य परजाय जानै ।  
केवल सरूप भायै मोखरूप पावै है ॥८६॥

( दोहा )

दरव और परजाय मैं, कथनमात्र करि भेद ।  
अस्तिरूप परदेस करि, वस्तु सदा निरभेद ॥८७॥

पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता तथा द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होती । यद्यपि कथन में भेद से कहा जाता है, तथापि वस्तु स्वरूप अभेद है, एक है । स्याद्वादी इस बात को भलीभाँति जानते हैं । ऐसा वस्तुस्वरूप समझने वाले मोक्षप्राप्त करते हैं ।

जिसतरह दूध-दही छाँछ और घी के सिवाय गोरस और कुछ नहीं है; उसीतरह पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता तथा गोरस के बिना और दूध, दही, छाँछ एवं घी नहीं होता; वैसा ही द्रव्य के बिना पर्यायों नहीं होती; इसलिए यह सिद्ध है कि द्रव्य पर्याय के कहने से भेद सिद्ध होता तथा मूलतः वस्तु अभेद है ।

इसी बात को गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अनेक उदाहरणों से पञ्चास्तिकाय प्रवचन में जो खुलासा किया है, उसका संक्षेप सार यह है ह

“द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय से वस्तु में भेद होने पर भी वस्तुतः अभेद है । प्रत्येक वस्तु का ऐसा स्वतंत्र स्वरूप है कि प्रतिक्षण पर्याय बदलती है और मूलवस्तु ज्यों की त्यों कायम रहती है । वस्तु का स्वरूप ऐसे दो भेदवाला होने पर भी वस्तु अभेद है ।

देखो, यह पञ्चास्तिकाय का अधिकार है । यदि पदार्थ पर के कारण हो तब तो पाँच का अस्तिपना ही नहीं ठहरता तथा पदार्थ का अस्तिपना है और उसके दो अंश हैं । एक त्रिकाल अंश और दूसरा वर्तमान अंश है ह्व द्रव्य स्वयं से है, इस अपेक्षा द्रव्य और पर्याय की एकता है । ऐसा होने पर भी कथन की अपेक्षा समझाने के लिए भेद किया जाता है; परन्तु वस्तु के स्वरूप का विचार करने पर भेद नहीं है । संज्ञा, संख्या, लक्षणादि से भेद होने पर भी वस्तु में भेद नहीं है ।

यदि कोई ऐसा माने कि अवस्था का परिवर्तन संसारदशा में होता है, सिद्धदशा में नहीं तो द्रव्य सिद्धदशा में पर्याय रहित ठहरता है; परन्तु वहाँ भी द्रव्य पर्यायरहित नहीं रहता; क्योंकि पर्याय और द्रव्य का परस्पर एक अस्तित्व है तथा सिद्धदशा स्वयं जीव की निर्मल पर्याय है ।

यहाँ आत्मा और परमाणु आदि समस्त द्रव्यों की बात है । एक आत्मा दूसरे आत्मा के कारण नहीं है, एक पुद्गल दूसरे पुद्गल के कारण नहीं है, प्रत्येक का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है । प्रत्येक के अस्तित्व में एक द्रव्य तथा दूसरा पर्याय अंश है ह्व इसप्रकार दो अंश हैं, वे दोनों अंश अभिन्न हैं ।”

सार यह है कि सम्यग्ज्ञान नेत्र से देखने पर वस्तु मूलतः निर्भेद है । जैसे कि कुण्डल-कड़े आदि पर्यायों के भेद होने पर भी स्वर्ण दोनों में एक ही होता है । जो स्याद्वादीजन ऐसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझ कर श्रद्धा करते हैं, वे वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को समझकर समताभावपूर्वक स्वरूप में स्थिर होकर शीघ्र निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं ।

( 37 )

### गाथा १३

विगत गाथा में कहा गया है कि द्रव्य के बिना पर्याय एवं पर्याय के बिना द्रव्य नहीं है। द्रव्य व पर्याय दोनों का अनन्यपना ही द्रव्य है। वस्तु मूलतः निर्भेद ही है। कड़े और कुण्डल दो दिखने पर भी दोनों में स्वर्ण एक ही है।

अब कहते हैं कि ह द्रव्य के बिना गुण नहीं एवं गुण के बिना द्रव्य नहीं होते। अतः दोनों अभिन्न हैं।

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।

अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥१३॥

(हरिगीत)

द्रव्य बिन गुण नहीं एवं द्रव्य भी गुण बिन नहीं।

वे सदा अव्यतिरिक्त हैं यह बात जिनवर ने कही ॥१३॥

द्रव्य के बिना गुण नहीं होते तथा गुणों के बिना द्रव्य भी नहीं होते; इसलिए द्रव्य और गुणों में अभिन्नपना है, अभेदपना है।

टीकाकार अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं “यहाँ द्रव्य और गुणों का अभेद दर्शाया है।

जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य से पृथक् स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण नहीं होते, उसीप्रकार द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और जिसप्रकार स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण से पृथक् पुद्गल द्रव्य नहीं होता; उसीप्रकार गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। इसलिए यद्यपि द्रव्य और गुणों का आदेशवशात् कथंचित् भेद है; तथापि वे एक अस्तित्व में नियत होने के कारण परस्पर का एकपना नहीं छोड़ते, इसलिए वस्तुरूप से उनका भी अभेद है अर्थात् द्रव्य व पर्यायों की भाँति द्रव्य और गुणों का भी अभेद है।”

इसी बात की पुष्टि में हीरानंदजी के निम्नांकित पद्य द्रष्टव्य हैं ह

(दोहा)

दरव बिना गुण नहिं रहैं गुण बिन दरव न होई ।

अजुत भाव तातैं लसे, दरव-गुनन में सोई ॥८९॥

द्रव्य के बिना गुण नहीं रहते तथा गुणों के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं होता; इसलिए दोनों में एकत्व है, अभेद है।

अगले पद्य में कहा है कि ह द्रव्य और गुणों में संज्ञा, संख्या एवं लक्षण की अपेक्षा भेद कथन भी है; परन्तु उनमें प्रदेशभेद नहीं है।

(दोहा)

दरव और गुन और यौं, जुदा करत आदेश ।

वस्तु एक बरतै दुविधि जुदा न है परदेस ॥९१॥

अनेकान्त विधि वस्तु है, जानै सम्यक् नैन ।

एक पच्छ लहि गहि रहैं, मूढ़ न पावैं चैन ॥९२॥

द्रव्य अन्य है, गुण अन्य हैं ह ऐसे भेद कथन से वस्तु के दो प्रकार होते हुए भी वस्तु मूलतः एक ही है; क्योंकि द्रव्य और गुण में प्रदेश भेद नहीं है। सम्यक्दृष्टि तो वस्तु के ऐसे अनेकान्त स्वरूप को जानते हैं, किन्तु अज्ञानी उसके एक पक्ष को ही ग्रहण करते हैं, अतः उन्हें निराकुल सुख की प्राप्ति नहीं होती।

इस गाथा का स्पष्टीकरण करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपने प्रवचन में कहते हैं कि ह कोई भी वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रुव बिना नहीं होती। अर्थात् द्रव्य अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न हैं। संज्ञा, संख्या लक्षण और प्रयोजन आदि की अपेक्षा से गुण व द्रव्य भिन्न कहे जाते हैं; परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। ज्ञान-दर्शन आदि न हों और आत्मा हो ह ऐसा कभी भी बनता नहीं है।

सत्तामात्र वस्तु के बिना सहभूतलक्षणरूप गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। इसकारण द्रव्य व गुण पृथक् नहीं है ह्व ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। जैसे ह्व पुद्गल द्रव्य से स्पर्श, रस, गंध एवं वर्णादि गुण पृथक् नहीं हैं, आम, नीम, नीबू आदि से उसका पीलापन, मीठापन, कड़वापन या खट्टापन आदि पृथक् नहीं होते, उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य के गुण द्रव्य से अपृथक् ही होते हैं, कभी भी पृथक् नहीं होते।

‘द्रव्य से गुण पृथक् हैं’ ह्व ऐसा मानने पर भी इस विषय को इतना विस्तार से स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता क्यों अनुभव की गई ?

उत्तर ह्व अरे भाई ! बौद्ध मतानुयायी तो ज्ञेय से ही ज्ञान का होना मानते हैं। वे कहते हैं जैसा ज्ञेय जानने में आया वैसा ही ज्ञान होता है। जो जैन ऐसा मानते हैं कि शास्त्र पढ़ने से या उपदेश सुनने से ज्ञान की अवस्था में वृद्धि हुई तो वे भी प्रच्छन्न बौद्ध ही हैं; क्योंकि वे आत्मा को और ज्ञान गुण को अभिन्न नहीं मानकर ज्ञेयों से ज्ञान का होना मानते हैं।

आचार्य उन जीवों पर करुणा करके कहते हैं कि ह्व अरे भाई ! तुम्हारे गुण तुमसे अलग नहीं हैं। जहाँ से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आत्मा के गुण हैं। यदि तुझे वे निर्मल पर्यायें प्रगट करनी हों तो अन्तर्मुख होने से वे प्रगट होंगी। वे पर्यायें देव-शास्त्र-गुरु में से नहीं आयेंगी। हाँ, जब आत्मा में वे निर्मल पर्यायें प्रगट होंगी, तब देव-शास्त्र-गुरु निमित्तरूप अवश्य होंगे।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में द्रव्य और गुण का अभेद दर्शाया गया है।

●

( 39 )

## गाथा १४

पिछली गाथा में प्रदेशभेद न होने से द्रव्य व गुणों को अभेद दर्शाया है। अब इस गाथा में स्याद्वाद शैली से वस्तु के ७ भंग कहते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।

दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१४॥

(हरिगीत)

स्यात् अस्ति-नास्ति-उभय अर अवक्तव्य वस्तु धर्म हैं।

अस्ति-अवक्तव्यादि त्रय सापेक्ष सातों भंग हैं ॥१४॥

वस्तुतः द्रव्य-कथन की अपेक्षा से स्यात् अस्तिरूप, स्यात् नास्तिरूप, स्यात् अस्ति-नास्ति (उभय) रूप है। तीनों धर्म एकसाथ कथन में न आने से वही वस्तु अवक्तव्य है। इसप्रकार वस्तु के चार भंग हुए। अवक्तव्य के साथ अस्ति, नास्ति तथा अस्ति-नास्ति लगाने से तीन भंग और हो जाते हैं। जो इसप्रकार हैं ह्व स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य तथा स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। इसप्रकार वस्तु का कथन सात भंगरूप होता है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि यहाँ द्रव्य के आदेश (कथन) के वश से वस्तु को उपर्युक्त रूप से सात भंगों में कहा गया है। यहाँ सप्तभंगी में सर्वथापने अर्थात् एकान्त का निषेधक एवं अनेकान्त का द्योतक ‘स्यात्’ शब्द कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा के अर्थ में अव्यय रूप से प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि ह्व द्रव्य ‘स्यात् अस्ति’ रूप से है, द्रव्य ‘स्यात् नास्ति’ रूप से है, द्रव्य ‘स्यात् अस्ति और नास्ति’ है। द्रव्य ‘स्यात्’ अवक्तव्य है, द्रव्य ‘स्यात् अस्ति और अवक्तव्य’ है, द्रव्य स्यात् नास्ति और अवक्तव्य है तथा द्रव्य ‘स्यात् अस्ति नास्ति और अवक्तव्य रूप से है।

यहाँ (सप्तभंगी में) सर्वथापने का निषेधक एवं अनेकान्त का द्योतक 'कथंचित्' अर्थ में 'स्यात्' शब्द अव्ययरूप से प्रयुक्त हुआ है।

भावार्थ यह है कि ह्र (१) द्रव्य स्वचतुष्टय<sup>१</sup> की अपेक्षा से हैं। (२) परचतुष्टय की अपेक्षा से 'नहीं है।' (३) द्रव्य क्रमशः स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से है और नहीं है। (४) द्रव्य युगवत् स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से 'अवक्तव्य' है। (५) द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा और युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से है और अवक्तव्य है। (६) द्रव्य परचतुष्टय की अपेक्षा और युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं है और अवक्तव्य है। (७) द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा, परचतुष्टय की अपेक्षा और युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से है, नहीं है और अवक्तव्य है' - इसप्रकार यह सप्तभंगी कही गई है।”

भावार्थ यह है कि ह्र १. द्रव्य स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव) की अपेक्षा से है। २. द्रव्य परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं है। ३. द्रव्य क्रमशः स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से 'है और नहीं' है। ४. द्रव्य युगपद् स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा 'अवक्तव्य' है। ५. द्रव्य स्वचतुष्टय की और युगपद् ह्र स्व-पर चतुष्टय की अपेक्षा से 'है और अवक्तव्य है।' ६. द्रव्य परचतुष्टय और युगपद् स्व-परचतुष्टय की अपेक्षा से 'नहीं है और अवक्तव्य है।' ७. द्रव्य स्वचतुष्टय, परचतुष्टय और युगपत् स्व-परचतुष्टय की अपेक्षा से 'है, नहीं है और अवक्तव्य है।' ह्र इसप्रकार यहाँ सप्तभंगी कही गई है।

ज्ञातव्य है कि सप्तभंगी का कथन दो प्रकार से होता है। नय सप्तभंगी और प्रमाण सप्तभंगी।

१. स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव। स्वद्रव्य अर्थात् निज गुण पर्यायों की आधारभूत वस्तुस्वयं, + स्वक्षेत्र अर्थात् वस्तु का निज विस्तार, स्वकाल अर्थात् वस्तु की अपनी वर्तमान पर्याय तथा स्वभाव अर्थात् निजगुण स्वशक्ति।

एक धर्म के द्वारा एक धर्म को ही देखना नय सप्तभंगी है और एक धर्म के द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य को देखना प्रमाण सप्तभंगी है।

इस संदर्भ में कविवर हीरानन्दजी का निम्नांकित पद्य द्रष्टव्य है ह्र  
( सवैया इकतीसा )

अपनै चतुष्टयसौं अस्ति द्रव्य सदाकाल,  
परकै चतुष्टयसौं नासति विसेखिए ।  
अस्ति नास्ति दौनौरूप क्रम परिपाटी विषैं,  
समकाल दौनों तातैं अवाचीक लेखिए ॥  
अस्तिक्रम अवाचीक दौनों एक भंग लसै,  
नास्तिक्रम अवाचीक छट्टा भंग पेखिए ।  
अस्तिक्रम नास्तिक्रम अवाचीक एक तीनों,  
भंग सात सेती वानी जैनग्रन्थ देखिए ॥

द्रव्य सदाकाल अपने चतुष्टय से अस्तिरूप है तथा परचतुष्टय से नास्तिरूप है। क्रम परिपाटी से देखें तो अस्ति-नास्तिरूप है। दोनों समकाल होने से अवक्तव्य है। स्व की अपेक्षा वस्तु है, पर एक कथन नहीं कर सकते, अस्ति अवक्तव्य है तथा पर की अपेक्षा वस्तु में पर की नास्ति है, अतः नास्ति अवक्तव्य है और स्व की अपेक्षा अस्ति एवं पर की अपेक्षा नास्ति ह्र इन दोनों को एक साथ नहीं कह सकते अतः वस्तु अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्र “इस गाथा में सप्तभंगी का स्वरूप कहा है। यहाँ पञ्चास्तिकाय में प्रमाण सप्तभंगी है और प्रवचनसार में नय सप्तभंगी की बात की है।

अनेकान्त का स्वरूप पदार्थविवक्षावश से सात प्रकार का है। वे सात भंग निम्नप्रकार हैं ह्र १. किसी एक अपेक्षा से द्रव्य अस्तिरूप है। २. किसी दूसरे धर्म की अपेक्षा से वही द्रव्य नास्तिरूप है। ३. किसी तीसरी

अन्य धर्म की अपेक्षा से अस्ति-नास्तिरूप है। ४. किसी चौथी अपेक्षा से वचनगोचर नहीं है, अतः अवक्तव्य है। ५. किसी पाँचवीं अपेक्षा से अस्तिरूप अवक्तव्य है। ६. किसी छठवीं अपेक्षा से नास्तिरूप अवक्तव्य है और ७. किसी सातवीं अपेक्षा से अस्ति-नास्तिरूप अवक्तव्य है।

वीतरागदेव ने अनन्तधर्मात्मक द्रव्य के स्वरूप को बतलाने के लिए सप्तभंगी का यह स्वरूप कहा है।”

इसप्रकार न केवल जन साधारण में बल्कि जैनेतर दार्शनिकों में भी जैनदर्शन के इस अद्वितीय, वस्तुस्वरूप के यथार्थ प्रतिपादक अनेकान्त सिद्धान्त और स्याद्वाद शैली के संबंध में बहुत भारी भ्रान्ति है।

अधिकांश समाज सुधारक राष्ट्रीय एकता के पक्षधर व्यक्ति अनेकान्त और स्याद्वाद की व्याख्या समन्वयवाद के रूप में करते हैं, जो कहने-सुनने में तो अच्छी लगती है; परन्तु अनेकान्त और स्याद्वाद दर्शन वस्तुतः दो परस्पर विरोधी विचारों में समझौता करानेवाला दर्शन नहीं है; क्योंकि समझौते में सौदेबाजी होती है, उसमें दोनों पक्षों को झुकना पड़ता है, अपने-अपने विचारों से थोड़ा-बहुत हटना पड़ता है; जबकि अनेकान्त और स्याद्वाद एक दर्शन है, इसमें यह सब संभव नहीं है।

उदाहरण के लिए हम स्याद्वाद के दृष्टिकोण से अथवा नय के दृष्टिकोण से देखें कि ह्व एक व्यक्ति अपनी पत्नी का पति ही है, भाई आदि अन्य कुछ भी नहीं। वही अपनी बहिन का भाई ही है, पिता का पुत्र ही है, मामा का भानजा ही है, अन्य कुछ भी नहीं। अतः इसमें सही समझ की ही जरूरत है, समझौते की नहीं।



## गाथा १५

१४वीं गाथा में यह कहा कि ह्व भाव का कभी नाश नहीं होता। अब १५वीं गाथा में कहते हैं कि सत् का कभी नाश तथा असत् का उत्पाद नहीं होता। मूल गाथा इसप्रकार हैं ह्व

**भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।**

**गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥१५॥**

(हरिगीत)

सत्द्रव्य का नहीं नाश हो अरु असत् का उत्पाद ना।

उत्पाद-व्यय होते सतत सब द्रव्य-गुणपर्याय में ॥१५॥

भाव का कभी नाश नहीं होता तथा असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। सत् द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों से उत्पाद-व्यय करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुये टीका में कहते हैं ‘यहाँ उत्पाद में असत् के प्रादुर्भाव का और व्यय में सत् के विनाश का निषेध किया है।

भाव का अर्थात् सत्द्रव्य का द्रव्यरूप से विनाश नहीं है। अभाव का अर्थात् असत् का-अन्यद्रव्य का अन्यद्रव्य रूप से उत्पाद नहीं है; सत्द्रव्यों के विनाश एवं असत् द्रव्यों के उत्पाद हुए बिना ही द्रव्य अपने गुण-पर्यायों में परिवर्तनरूप से विनाश व उत्पाद करते हैं।”

उत्पाद किए बिना ही पूर्व अवस्था से विनाश को प्राप्त होनेवाले और उत्तर अवस्था से उत्पन्न होनेवाले स्पर्श, रस, गंध वर्णादि जैसे कि ह्व घृत की उत्पत्ति में गोरस के अस्तित्व का विनाश नहीं होता तथा गोरस के अतिरिक्त अन्य किसी असत् का उत्पाद नहीं होता; किन्तु गोरस को ही सत् का विनाश और असत् का उत्पाद किए बिना ही पूर्व अवस्था से विनाश को प्राप्त होने वाले और उत्तर अवस्था से उत्पन्न होने वाले स्पर्श रस गंध वर्णादि परिणामी गुणों में मक्खन पर्याय विनाश को प्राप्त होती है।



कवि हीराचन्दजी ने भी पद्य में यही कहा है ह  
(दोहा)

दरब वस्तु का नास नहीं, नहीं अदरब उत्पाद ।

गुण-परजै करि दरब कै, व्यय-उत्पाद विवाद ॥१०२॥

नवीन पर्यायों की उत्पत्ति में सत् (द्रव्य) का नाश नहीं होता तथा असत् का उत्पाद नहीं होता । यदि असत् द्रव्य से पर्यायों की उत्पत्ति हो तो गधे के सींग जैसा असत् के उत्पाद का प्रसंग प्राप्त होगा ।

सवैया में अब यह कहते हैं कि ह असत् के उत्पाद से और सत् के विनाश से क्या दोष उत्पन्न होगा ।

( सवैया इकतीसा )

जैसैं घी उपजै तै गोरस बिना न उपजै,

दही के विनसै नाहिं गोरस विनासा है ।

एक परजाय होइ नासै परजाय एक,

गोरस सदैव सुद्ध भेद कै विकासा है ॥

तैसैं द्रव्य नासै नाहिं होइ द्रव्य नवा कछू,

पर्जयकै लोक माहिं नानाभेद भासा है ।

स्याद्वाद अंग सरवंग वस्तु साधि साधि,

सिवगामी जीवहूँ नै आतमा निकासा है ॥१०३॥

(दोहा)

असत् दरबकै उपजतैं, उपजै दरब अनंत ।

सत् विनासतैं दरब सब, जुगपत् नास करंत ॥१०४॥

तातैं परजैमें सधै, उपज-विनास अनेक ।

दरवरूप सासुत अचल, गुन परजय की टेक ॥१०५॥

जैसे - घी रूप पर्याय की उत्पत्ति गोरस रूप द्रव्य के बिना नहीं होती, दही के नाश होने पर भी गोरस का नाश भी नहीं होता । एक वर्तमान पर्याय के उत्पन्न होने से पूर्व की एक पर्याय नष्ट होती है । गोरस का विनाश नहीं होता । उसीप्रकार पर्याय की उत्पत्ति में द्रव्य का नाश नहीं होता ।

असत् द्रव्य के उत्पन्न होने से अनन्त द्रव्यों की उत्पत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होगा तथा सत् द्रव्य के नाश से सब द्रव्यों के एक साथ नाश का प्रसंग प्राप्त होगा । इसलिए पर्याय में ही अनेक प्रकार से उत्पत्ति और विनाश होता है । वस्तु द्रव्य रूप से तो सदा शाश्वत रहती है ।

इसी बात को गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ने अपने व्याख्यान में कहा है ह “जो वस्तु है, उसका कभी नाश नहीं होता और जो वस्तु नहीं है; उसका कभी उत्पाद नहीं होता । इसकारण द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य का नाश तथा उत्पाद नहीं होता । जो भी जीव सिद्धपद को प्राप्त हुए है, उनका नाश नहीं होता हैं, मात्र उनकी पर्यायें पलटती हैं ।

लकड़ी जलकर खाक हो जाने से परमाणुओं का नाश नहीं होता, मात्र परमाणुओं का रूपान्तरण होता है ।

निश्चय से जगत में जो वस्तु नहीं है, वह नयी नहीं होती । गधे के सींग नहीं हैं तो नये उत्पन्न नहीं होते । खेत में जो नया धान्य पकता है, उस धान्य के भी जगत में परमाणु सूक्ष्मरूप में थे, वे ही स्थूलरूप से परिणामन करते हैं; परमाणु नये नहीं होते ।”

सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि ह जैसे दही के विनाश और घी के उत्पाद से गोरस का विनाश नहीं होता तथा घी गोरस से ही उत्पन्न होता है, अन्य द्रव्य से नहीं । एक पर्याय उत्पन्न होती है, एक पर्याय का नाश होता है, गोरसरूप द्रव्य दोनों में सदैव विद्यमान रहता है ।

इस गाथा को समझने से हमारी यह श्रद्धा अत्यन्त दृढ़ हो जाती है कि मेरा कभी नाश नहीं होता, मात्र पर्याय पलटती है । पर्याय का पलटना भी हमारे हित में ही है; क्योंकि इसके बिना जीव को वर्तमान आकुलतामय दुःख से मुक्त होकर निराकुल सुख की प्राप्ति संभव ही नहीं है ।

## गाथा-१६

विगत गाथा में यह कह आये हैं कि ह यद्यपि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। तथापि सत् द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों से उत्पाद-व्यय करते रहते हैं। ऐसा ही वस्तु का सहजस्वभाव है।

अब प्रस्तुत गाथा में जीव के गुण-पर्यायों का कथन करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार हैं ह

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो ।

सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा ॥१६॥

(हरिगीत)

जीवादि ये सब भाव हैं जिय चेतना उपयोगमय ।

देव-नारक-मनुज-तिर्यक् जीव की पर्याय हैं ॥१६॥

जीवादि छह द्रव्य भाव हैं, पदार्थ हैं तथा जीव चेतनामय है, अर्थात् ज्ञान-दर्शन उपयोगमय है और जीव की पर्यायें देव-मनुष्य-नारक-तिर्यकरूप अनेक पर्यायें हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह 'यहाँ इस गाथा में भावों का अर्थात् द्रव्यों, गुणों और पर्यायों का कथन किया गया है। यद्यपि उनके गुण व पर्यायें प्रसिद्ध हैं, तथापि अगली गाथा में जीव की बात उदाहरण के रूप में लेना है, इसलिए उस उदाहरण को प्रसिद्ध करने के लिए यहाँ जीव के गुणों और पर्यायों का कथन किया है।

जीव की दो चेतनाएँ हैं ह एक ह ज्ञान की अनुभूतिस्वरूप शुद्धचेतना तथा दूसरी ह कार्यानुभूतिस्वरूप एवं कर्मफलानुभूतिस्वरूप अशुद्धचेतना है। उन दोनों भेदरूप चैतन्य का अनुसरण करनेवाला जो आत्मा का परिणाम उपयोग है, वह उपयोग भी शुद्धाशुद्धरूप है, सविकल्प-निर्विकल्प स्वरूप है।

जीव की पर्यायें भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की हैं। अगुरुलघुगुण की हानि-वृद्धि से उत्पन्न होनेवाली पर्यायें शुद्ध हैं और गाथा में कही गई देव-नारक-तिर्यक्-मनुष्य पर्यायें परद्रव्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं, इसकारण अशुद्ध हैं।

कवि हीरानन्दजी भी इसी बात को पद्य में कहते हैं ह

(दोहा)

जीव आदि भावहु विषै, गुन चेतन उपयोग ।

सुर-नर-नारक-पसु विविध, परजै जीव संजोग ॥१०६॥

(सवैया इकतीसा)

ग्यान अनुभूति सोई ग्यान सुद्ध चेतना है,

कर्म कर्मफलरूप प्रनमें असुद्ध है।

चेतनानुगामी परनाम सुद्धासुद्धरूप,

भेद निरभेदवान उपयोग लुब्ध है ॥

देव-नर-नारक-पसु विभाव परजाय,

सुद्ध दसा सुद्ध परजाय परबुद्ध है।

ऐसैं जीव भाव-परभाव सौं जुदा न आप,

कालजोग पाय पाय आपही में सुद्ध है ॥१०७॥

(चौपाई )

भावनाम ताहीकौं कहिए, जहँ सामानिविसेस हु लहिए।

सहभावी सामानि बखाना, अनुगत सहजभाव परमाना ॥१०८॥

कादाचित्क जु है परिणामा, सौं परजायविसेस विरामा।

जिनमें गुन परजाय जताये, सदाकाल ते दरब बताये ॥१०९॥

हीरानन्दजी उपर्युक्त दोहा १०६ में कहते हैं कि - जीव द्रव्य में तो ज्ञान-दर्शन उपयोग है, परन्तु विविध पर्यायों के भेद से संसारी जीव देव-मनुष्य-नारकी और पशु के रूप होते हैं।

आगे सवैया १०७ में कहा है कि - ज्ञान की अनुभूति ही शुद्ध ज्ञान चेतना है तथा जीव का अशुद्धरूप से कर्म व कर्मफल चेतना के रूप में परिणमन होता है।

आगे १०८, १०९ चौपाईयों में कहा है कि जिसमें सामान्य-विशेष हों, उसे भाव या द्रव्य कहते हैं। गुण सहभावी होते हैं तथा पर्याय क्रमभावी होती हैं। जिनमें गुण पर्याय होते हैं वे द्रव्य हैं।

प्रस्तुत गाथा १६ पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि - “यहाँ चेतना और उपयोग को जीव का गुण कहा है, क्योंकि वे पर्याय होते हुए भी गुणों की हैं, इस अपेक्षा गुण कहा है तथा नारकी, देव, मनुष्य व तिर्यच की व्यंजन पर्यायों को यहाँ पर्याय रूप से वर्णन किया है।

समयसार में दृष्टि प्रधान कथन है और यहाँ ज्ञान प्रधान कथन है।

वैसे द्रव्य-गुण-पर्याय हूँ तीनों को भाव कहते हैं; परन्तु यहाँ तो द्रव्य को ही भाव शब्द से सम्बोधित किया है। इन द्रव्यों में जीव द्रव्य प्रधान है, उसका स्वरूप बताने के लिए यहाँ जीव का असाधारण लक्षण कहते हैं।

जीवद्रव्य का निज लक्षण तो ज्ञान चेतना ही है; परन्तु यहाँ चेतना के तीन भेद किये हैं हूँ १. ज्ञानचेतना, २. कर्मचेतना, ३. कर्मफलचेतना।

दूसरा लक्षण शुद्धाशुद्ध चैतन्यपरिणतिरूप उपयोग है।

तीसरा लक्षण हूँ जीव की जो अलग-अलग प्रकार देव-नारकी-मनुष्य और तिर्यच-अशुद्ध व्यंजन पर्यायें हैं, वे भी जीव के लक्षण हैं।

कर्म का वेदन कर्मचेतना है। राग-द्वेष-कर्म हैं, वे आत्मा के कार्य हैं। राग-द्वेषरूप विकार का वेदन करने से भी आत्मा जाना जा सकता है। इसकारण विकार का वेदन भी आत्मा का लक्षण है। उस रागादि विकार से ही यह नक्की होता है कि यह जीव है। राग-द्वेष में जीव ही एकाग्र होता है, जड़ नहीं। इसप्रकार राग-द्वेष जीव की पहचान कराते हैं। वैसे भी राग-द्वेष जीव के चारित्रगुण की ही विकारी पर्यायें हैं।

जिसके द्वारा वस्तु लक्षित हो, उसे लक्षण कहते हैं। यहाँ राग के द्वारा जीव लक्षित होता है, इसलिए राग को जीव का लक्षण कहा है। समयसार में जहाँ राग को पुद्गल का कहा है, वह राग को टालने की अपेक्षा कहा है; परन्तु यहाँ राग-द्वेष की पर्याय जीव के अस्तित्व को बतलाती है; क्योंकि वह जीव में होती है, पुद्गल में नहीं; इसकारण राग-द्वेष को जीव का लक्षण कहा है।

यहाँ चेतना और उपयोग को गुण कहा है और नारकी, देव, मनुष्य, तिर्यच की व्यंजनपर्यायों को पर्याय कहा है। समयसार में दृष्टिप्रधान कथन है और यहाँ पञ्चास्तिकाय में ज्ञानप्रधान कथन है।

चेतना तीन प्रकार की है हूँ पहली ज्ञानभावरूप रहना 'ज्ञानचेतना' है। दूसरी कर्म का वेदन करना वह 'कर्मचेतना' है। जो दया, दान, काम-क्रोधादि भाव आत्मा में होते हैं, जीव उनका अनुभव करता है, अतः उनका वेदन करना जीव का लक्षण है। जगत के कोई पदार्थ आत्मा को राग नहीं कराते, राग करने की जीव की अपनी योग्यता है।

तीसरी कर्मफल का वेदन करना 'कर्मफलचेतना है।' जो हर्ष-शोक आत्मा के द्वारा होता है, वह चैतन्य की सत्ता को बतलाता है, इसकारण हर्ष-शोक को आत्मा का गुण कहा है और वह आत्मा का लक्षण है; क्योंकि उसे आत्मा स्वयं करता है; कर्म उसे नहीं कराता; क्योंकि वह कर्म का गुण नहीं है। वह आत्मा की क्षणिक पर्याय में होता है; आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। आत्मा में होनेवाले हर्ष-शोक कर्म के कारण से नहीं होते; परन्तु जब आत्मा हर्ष-शोकरूप परिणमता है तो बाहर में कर्म का उदय अवश्य होता है। हर्ष-शोक होते तो आत्मा में ही हैं; अतः उनका होना आत्मा के अस्तित्व को बताता है। इसप्रकार चेतना के ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफल चेतना हूँ ये तीनप्रकार कहे।

प्रवचनसार में जो राग-द्वेषादि के परिणाम जीव के कहे हैं, वह वर्तमान स्वज्ञेय कैसा है हूँ यह बतलाने के लिए कहे हैं।

यहाँ पञ्चास्तिकाय में जीव स्वयं कैसा है ह यह बतलाते हैं। चैतन्य की अस्ति में राग-द्वेष, हर्ष-शोक के परिणाम होते हैं, इसलिए वे जीवास्तिकाय के अस्तित्व को बतलाते हैं। कर्म रागादि करते हैं या निमित्त के कारण रागादि होते हैं, ऐसा माननेवाले को पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभाव दृष्टि करने का अवसर नहीं रहता।

यह शुद्ध-अशुद्ध जीव का सामान्य लक्षण हुआ। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना अशुद्ध जीव का लक्षण है और ज्ञानचेतना शुद्ध जीव का लक्षण है। यहाँ अस्तिकाय का वर्णन है। अतः यदि कर्मरूप पुद्गलास्तिकाय के कारण जीवास्तिकाय में शुद्ध या अशुद्ध परिणमन माना जाए तो जीवास्तिकाय का अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए ऐसा माननेवाला जीवास्तिकाय को नहीं पहिचानता। ज्ञान में एकाग्र होना, राग में एकाग्र होना अथवा हर्ष-शोक में एकाग्र होना स्वयं के कारण जीवास्तिकाय में होता है, चारित्रमोह के कारण नहीं। उसे चारित्रमोह के कारण होता है ह ऐसा माननेवाले को जीवास्तिकाय की यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

ज्ञानावरणी कर्म के कारण जीव में अल्पज्ञान होता है ह ऐसा है ही नहीं। ज्ञान की हीनता स्वयं के कारण होती है ह ऐसा जाने तो 'आत्मा पर से भिन्न है और पर्याय में जो रागादि होते हैं, वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं' ह ऐसी द्रव्यदृष्टि होती है।

अब उपयोग लक्षण कहते हैं। जो चैतन्यभाव की परिणतिरूप प्रवर्ते वह उपयोग है। वह उपयोग आत्मा का गुण है; क्योंकि वह आत्मा की स्वयं की योग्यता से होता है, कर्म के कारण नहीं। उसे पुद्गल से हुआ मानने पर पुद्गलास्तिकाय से जीवास्तिकाय का अस्तित्व है ह ऐसा प्रसंग आता है; परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं उपयोगरूप प्रवर्तता है। पाँच इन्द्रियाँ और मन हैं, इसलिए उपयोग है ह ऐसा नहीं; अपितु चैतन्यभाव की परिणति ही उपयोग है; जिसके द्वारा जीव ज्ञात होता है।

इसप्रकार जीव का लक्षण चेतना और उपयोग है। यहाँ इनको गुण गिने का कारण यह है कि ये दोनों अपनी शक्ति के कारण से हैं।

अब पर्याय की बात करते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने मूल गाथा में अशुद्धपर्याय की बात की है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने शुद्ध पर्याय की बात भी साथ ही की है। जिसप्रकार आत्मा में चेतना और उपयोग गुण शुद्ध और अशुद्ध है, उसीप्रकार पर्याय के भी शुद्ध और अशुद्ध प्रकार हैं। जो अगुरुलघु गुण की षट्गुण हानिवृद्धिरूप शुद्ध पर्यायें हैं।

परद्रव्यों के संबंध से चारगतिरूप नर-नारकादि की व्यंजनपर्यायें अशुद्धपर्यायें हैं। वे देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यच की पर्यायें आत्मा में होती हैं, अतः वे आत्मा के भाव हैं; कर्म के नहीं। नर-नारकादि शरीर के कारण भी वे पर्यायें नहीं होती। आत्मा की वे अशुद्ध व्यंजनपर्यायें जीवास्तिकाय को बतलाती हैं। जीव अपनी योग्यता से चींटी, हाथी, सिंह आदि के शरीर में है, जीव स्वयं उस आकाररूप होते हैं। नरक में जाने पर यह होनेवाला देहप्रमाण आकार जीव का है।

यहाँ स्थूल ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से दीर्घकाल तक रहनेवाली नारकी आदि पर्यायों को पर्याय कहा है। नारकी से मनुष्य हो, मनुष्य से देव हो अथवा मनुष्य से तिर्यच हो ह इसप्रकार पर्याय बदलती है, उसको यहाँ स्थूल पर्याय की अपेक्षा से व्यंजनपर्याय कहा है। वह पर्याय जीव की है; क्योंकि उसके आकाररूप जीव होता है, कर्म या शरीर नहीं होता।<sup>१</sup>

इसप्रकार इस गाथा में शुद्धाशुद्ध पर्यायों के पिण्ड को द्रव्य प्रसिद्ध करते हुए जीव द्रव्य का स्वरूप दर्शाया गया है। जीवद्रव्य के लक्षणों को परिभाषित करते हुए चेतना और उपयोग के भेद-प्रभेदों की चर्चा करके उन्हें जीव का लक्षण प्रसिद्ध किया है तथा निमित्तों को अत्यन्त गौण करते हुए जीव को स्वयं की योग्यता से प्रसिद्ध किया है। साथ ही समयसार के दृष्टिप्रधान कथन से भिन्न इसे ज्ञानप्रधान कथन बतलाया है। ●

## गाथा-१७

पिछली गाथा में कह आये हैं कि - जीवादि छहों द्रव्य भाव हैं, पदार्थ हैं तथा जीव का विशेष गुण ज्ञान-दर्शनरूप चेतना है और जीव की पर्यायें देव-मनुष्य-नारक-तिर्यचरूप अनेक हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि जीव सत् के उच्छेद एवं असत् के उत्पाद बिना ही स्वभाव एवं विभाव रूप परिणमन करता है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

मणुसत्तणेण णट्टो देही देवो हवेदि इदरो वा ।

उभयत्थ जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो ॥१७॥

(हरिगीत)

मनुज मर सुरलोक में देवादि पद धारण करें।

पर जीव दोनों दशा में ना नशे ना उत्पन्न हो॥१७॥

मनुष्य पर्याय से मरण कर जीव देव अथवा अन्य पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। उन दोनों पर्यायों में जीव भाव नष्ट नहीं होता और नवीन जीव उत्पन्न नहीं होता।

आचार्य अमृतचन्द्र ने टीका में यह कहा है कि ह्र भाव अर्थात् सत् का कभी नाश नहीं होता और अभाव अर्थात् असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। प्रतिसमय अगुरुलघुत्वगुण की हानि-वृद्धि से उत्पन्न होनेवाली स्वभाव पर्यायों की संतति का विच्छेद न करनेवाली एक सोपाधिक मनुष्य पर्याय से जीव विनष्ट होता है और तथाविध देव, नारक, व तिर्यच पर्यायों से उत्पन्न होता है; परन्तु जीवत्व से नष्ट नहीं होता और उत्पन्न नहीं होता। सत् के उच्छेद और असत् के उत्पाद बिना ही द्रव्य स्वभाव एवं विभाव रूप परिणमन करता है।”

कवि हीरानन्दजी ने इसी बात को हिन्दी पद्य में इसप्रकार कहा है ह  
(दोहा)

मनुषरूप करि नष्ट है, देव इतरगति होइ ।

जीवभाव नासै नहीं, उपजै और न कोइ ॥११२॥

आत्मा मनुष्यत्व से नष्ट और देवत्व आदि इतरगति से उत्पन्न होता है, जीवत्व से न कभी नष्ट होता है न उत्पन्न।

(दोहा)

जीवभाव उपजै नहीं, विनसै नाहि कदाच ।

सदाकाल जग में लसै चेतनभाव अवाच ॥११४॥

जीवद्रव्य जीवत्वरूप से न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। वह अपने जीवत्वभाव से त्रिकाल विद्यमान रहता है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्र जीव में मनुष्य पर्याय का व्यय होकर देव-नारकी-तिर्यच और मनुष्य पर्यायें उत्पन्न होती हैं। ‘वस्तु का नाश तथा उत्पत्ति नहीं होती।

यहाँ विशेष बात यह है कि जो देवादि पर्यायें होती हैं, वे वस्तुतः तत्संबंधी नामकर्म के उदय से नहीं होतीं; परन्तु जीव की तत्समय की योग्यता के कारण होती हैं, स्वयं अस्तिकाय के सामर्थ्य से होती हैं। नामकर्म तो पुद्गलास्तिकाय है, जो जीव के परिणमन में निमित्त मात्र होता है। यदि पुद्गल के कारण जीव की पर्याय हो तब तो दोनों एक हो जायें; परन्तु ऐसा नहीं होता।

इसीप्रकार ‘आयु पूर्ण होने से मनुष्य पर्याय छूट गई’ यह भी निमित्त का कथन है। वस्तुतः तो जीव अपनी तत्समय की योग्यता से मनुष्य पर्याय का त्याग कर देवपर्याय रूप होता है, इसमें एकसमय भी आगे-पीछे नहीं होता।’



यह आत्मा की अनादि-अनन्त शुद्ध पर्याय की बात है। स्वाभाविक षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप जो अगुरुलघुपर्याय धारावाही अखंडित त्रिकाल समयवर्ती है, वह जीव की शुद्ध पर्याय है। यहाँ इसी शुद्ध पर्याय की बात कह रहे हैं। जीवास्तिकाय में शुद्ध और अशुद्ध दो तरह की पर्यायें होती हैं।”

“जीव पर्याय से पर्यायान्तर रूप होकर जो शुद्ध या अशुद्धरूप उपजता-विनशता है; वह कर्म के कारण नहीं; बल्कि अपनी तत्समय की योग्यता से ही उपजता-विनशता है।”

इस गाथा का सारांश इतना है कि ह्व जीव द्रव्यरूप से त्रिकाल सत्त्वरूप रहकर अपनी पर्यायगत योग्यता से और निरन्तर परिणामनशील स्वभाव के कारण स्वतः ही नाना पर्यायरूप से बदलता है। मनुष्य, देव, नारक आदि पर्यायों में जो जन्मता-मरता रहता है, उपजता-विनशता रहता है; वह अपनी स्वतंत्र तत्समय की योग्यता से नष्ट एवं उत्पन्न होता है, कर्म के कारण नहीं।

यद्यपि नाना पर्यायों रूप परिणामन में आयु और नाम कर्मों का उदय निमित्त होता; परन्तु जीव की तत्समय की योग्यता बिना निमित्तरूप परद्रव्य जीव की पर्यायों को पलटते नहीं हैं। जीव की निर्मल पर्यायें तो स्वयं से स्वाधीनपने होती ही हैं, मलिन पर्यायें भी स्वाधीनपने ही होती हैं; कर्मरूप परद्रव्य तो निमित्तमात्र होते हैं, वे विकार के कर्ता नहीं हैं।

( 47 )

### गाथा-१८

पिछली गाथा में कह आये हैं कि ह्व मनुष्य पर्याय का व्यय और नारकी पर्याय का उत्पाद होने पर भी जीव तो जीवभावरूप ही रहता है, वह पलट कर पुद्गल के भावरूप नहीं होता; क्योंकि जीव का उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यपना स्वयं से है, पर से नहीं।

अब प्रस्तुत गाथा में द्रव्य का कथंचित् उत्पाद-व्यय होने पर भी उसकी नित्यता प्रसिद्ध करते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**सो चेव जादि मरणं, जादि ण णट्टो ण चेव उप्पण्णो ।**

**उप्पण्णो य विणट्टो, देवो मणुसो त्ति पज्जाओ ॥१८॥**

(हरिगीत)

**जन्मे-मरे नित द्रव्य ही, पर नाश-उद्भव न लहे।**

**सुर-मनुज पर्यय की अपेक्षा, नाश-उद्भव हैं कहे ॥१८॥**

यद्यपि वही जीवद्रव्य पर्यायरूप से जन्म लेता है और मरता है, तथापि वह द्रव्य द्रव्यरूप से न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। पर्याय बदलने पर भी जीव नहीं बदलता। निष्कलंक शुद्ध पर्यायें एवं मलिन पर्यायें भी स्वयं से ही होती हैं; कर्मोदय रूप परद्रव्य तो निमित्तमात्र है।

आचार्य अमृतचन्द्र यहाँ कहते हैं कि ह्व द्रव्य कथंचित् व्यय और उत्पादवाला होने पर भी मूलतः सदैव अविनष्ट और अनुत्पन्न रहता है। जो द्रव्य पूर्वपर्याय के वियोग से और उत्तरपर्याय के संयोग से होनेवाली उभय अवस्थाओं को अपने रूप करता हुआ विनष्ट होता और उत्पन्न होता दिखाई देता है, वही द्रव्य वैसी उभय अवस्थाओं में व्याप्त होनेवाले प्रतिनियत एक वस्तुत्व के कारण अविनष्ट एवं अनुत्पन्न ही होता है।

द्रव्य की पर्यायें पूर्व-पूर्व परिणाम के नाशरूप और उत्तर-उत्तर परिणाम के उत्पादरूप होने से विनाश-उत्पाद धर्मवाली कहीं जाती हैं, परन्तु वे

पर्यायें वस्तुरूप द्रव्य से अपृथक्भूत ही हैं; इसलिए पर्यायों के साथ एकवस्तुत्व के कारण उत्पाद-व्यय होने पर जीवद्रव्य को सर्वदा अनुत्पन्न और अविनष्टरूप ही देखना चाहिए। देव मनुष्यादि पर्यायें उपजती हैं और विनष्ट होती हैं; क्योंकि वे क्रमवर्ती होने से उनका स्व-समय उपस्थित होता है और बीत जाता है।”

आचार्य जयसेन की टीका में जो कहा गया है, उसका भाव यह है कि ह्व “जैनमत में वस्तु अनेक स्वभावरूप है, इसकारण द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा द्रव्यरूप से नित्यता घटित होती है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा पर्यायरूप से अनित्यता घटित होती है। वे द्रव्य और पर्यायें परस्पर सापेक्ष हैं और वह सापेक्षता पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्यायरूप नहीं है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय का परस्पर गौण-मुख्य भाव से एक ही द्रव्य में नित्यता-अनित्यता घटित होती है, उसमें विरोध नहीं है।”

कवि हीरानन्दजी उपर्युक्त भाव को इसप्रकार व्यक्त करते हैं ह्व

(सवैया इकतीसा)

लोक परजाय नानारूप धरि डोलै जीव,

मानुष विनास होइ देव अवतरै है।

दरव रूप देखैं नै उपजै न विनसै है।

दोनों रूप अपने ही आप मांहि धरै है।

द्रव्य-परजाय सीमा दोऊ समकाल सदा।

एकमेक रहै कोऊ कामैं नांहि परै है।

सम्यक्सुभाव नैन जगै जथा भेद जगै।

वस्तु कौ सरूप जैसो तैसो अनुचरै है ॥

जब पर्याय दृष्टि से देखते हैं तो मनुष्य पर्याय का विनाश और देव पर्याय का उत्पाद होता है; परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखने पर द्रव्य का न विनाश होता है और न उत्पाद। वस्तु दोनों स्वभावों को अपने में धारण किए है।

एक ही समय दोनों अपनी-अपनी सीमा में रहते हुए एकमेक रहते हैं, कोई किसी के आड़े नहीं आता। सम्यक्सुभाव के नेत्र खुलने पर जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही अनुसरण करते हैं।

इसी बात को गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं ह्व “यदि जीव पर के कारण उपजता-विनशता हो, तब तो वह पर्यायार्थिकनय का विषय ही नहीं बन सकता। जब जीव अपनी अस्ति में हो तो ही पर्यायनय का विषय रहता है। द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद-व्यय नहीं है और पर्यायार्थिकनय से उत्पाद-व्यय है। अपने में अपने से होने पर ही दोनों नयों का अस्तित्व रहता है।

समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय ह्व इन तीनों ग्रन्थों में स्वाधीन और शुद्धद्रव्य का वर्णन है तथा शुद्धनय का कथन है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि आत्मा अपनी पर्याय के कारण उत्पाद-व्यय स्वभाव धारण करता है। कर्म के कारण उपजता-विनशता कहना तो निमित्त का कथन है।

जीव जब स्वयं अपनी पर्यायरूप परिणमित होता है, तब वह उस पर्यायमय हो जाता है। जीव का स्वभाव ही ऐसा है, वह जिन परिणामों को करता है, उन परिणामों में वह एकता धरता है।

जीव का राग के साथ और शुद्धपर्याय के साथ भी अनित्य तादात्म्य संबंध है। यदि पर्याय द्रव्य से सर्वथा अभिन्न हो, तब तो द्रव्य पर्याय बराबर ही रह जायेगा, जबकि पूरा द्रव्य पर्याय में आता नहीं है। इसप्रकार द्रव्य में उत्पाद-व्यय होने पर भी द्रव्य अपेक्षा ध्रुवपना है।”

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि भाव का नाश नहीं होता और अभाव का उत्पाद नहीं होता। द्रव्य कथंचित् उत्पाद-व्यय वाला होने पर भी सदैव अविनष्ट व अनुत्पन्न होता है।

रचनेवाले देवगति नामकर्म और मनुष्यगति नामकर्म मात्र निमित्तरूप में उतने काल तक ही होते हैं।

इसप्रकार पूर्वोक्त तीन गाथाओं में किए गए पर्यायार्थिकनय के व्याख्यान द्वारा मनुष्य-नारकादि रूप से उत्पाद-विनाशत्व घटित होता है; तथापि द्रव्यार्थिकनय से सत्/विद्यमान जीव द्रव्य का विनाश और असत्/अविद्यमान जीव द्रव्य का उत्पाद नहीं है।

कविवर हीरानन्दजी इसी बात के समर्थन में कहते हैं ह  
(दोहा)

सत्-विनास नहीं होत है, असत् न उपजै राम।  
जीव विषै सुर-नर लसै, देव-मनुष गति नाम॥

(सवैया इकतीसा)

जैसे बाँसदंड एक तामें गाँठ हैं अनेक,

आप आप सीमा विषै अस्तिभाव आया है।

आन गाँठि विषै आन गाँठि का अभाव लसै,

बाँस दंड एक सबै गाँठिमें समाया है॥

गाँठि कै अभाव विषै दंडका अभाव नाहिं,

तैसेँ कै परजै माहिं द्रव्यरूप गाया है।

दरव है नित्य एक परजै अनित्य नैक,

नयकै विलासमध्य वस्तुतत्त्व पाया है॥

कवि हीरानन्दजी के उक्त दोनों काव्यों में कहा है कि ह 'सत् वस्तु का विनाश नहीं होता और असत् वस्तु उत्पन्न नहीं होती। जीव की अवस्था में ही गति नामकर्म के निमित्त से देव व मनुष्यादि पर्यायें होती हैं।'

'जैसे एक बाँस के अनेक गाँठें होती हैं, वे सभी गाँठें अपनी-अपनी मर्यादा में रहती हैं। एक गाँठ में दूसरी गाँठ का अभाव रहता है तथा बाँस दण्ड सम्पूर्ण गाँठों में व्याप्त हैं।'

## गाथा-१९

विगत गाथा में यह कहा है कि ह यद्यपि यह सत्य है कि जीव जन्म लेता है और मरता है; परन्तु ऐसा पर्याय की अपेक्षा कहा जाता है। द्रव्यरूप से जीव न जन्म लेता है, न मरता है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि सर्वथा असत् का उत्पाद व सत् का विनाश नहीं होता। मूल गाथा इसप्रकार है ह

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।  
तावदिओ जीवाणं देवो मणुसोत्ति गदिणामो ॥१९॥

(हरिगीत)

इस भाँति सत् का व्यय नहीं अर असत् का उत्पाद नहीं।

गति नाम नामक कर्म से सुर-नर-नरक ह ये नाम हैं॥१९॥

इस गाथा में जो यह कहा गया है कि जीव को सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं है ह वह ध्रुवता की अपेक्षा कहा है तथा देव जन्मता है और मनुष्य मरता है ह ऐसा जो कहा, वह पर्याय की अपेक्षा कहा है और उस समय निमित्तरूप मनुष्य गति नामकर्म भी उतने ही काल का होता है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह ध्रुवपने की अपेक्षा जो जीव मरता है, वही जन्मता है और जो जीव जन्मता है, वही मरता है। सत् का सर्वथा विनाश और असत् का नया उत्पाद नहीं होता है। देव जन्मता है तथा मनुष्य मरता है ऐसा जो कहा जाता है वह कथन भी अविरोद्ध है; क्योंकि मर्यादित काल की देवपर्याय और मनुष्यपर्याय को

जैसे गाँठों के अभाव से बांस का अभाव नहीं होता, उसीतरह पर्यायों में द्रव्य समाहित हैं। द्रव्य एक तथा नित्य है, पर पर्यायें अनेक हैं। इस तरह वस्तुस्वरूप नय सापेक्ष है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी उक्त विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ह्य “मनुष्य पर्याय का व्यय होता है और देवपर्याय का उत्पाद होता है” ह्य यह कथन कर्म के निमित्त से आत्मा में होनेवाली विभाव पर्याय की अपेक्षा से सत्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ध्रुवपने की अपेक्षा से जो जीव मरता है, वही जीव उत्पन्न होता है और उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से मरता मनुष्य है और उपजता देव है। पर्याय दृष्टि से भव बदल जाने पर सब संयोग बदल जाते हैं; इसलिए ऐसा कहने में आता है कि ‘जीव उत्पन्न होता है।’ वस्तुतः तो द्रव्य नया उत्पन्न नहीं होता।<sup>१</sup>”

इसप्रकार जीवद्रव्य त्रिकाली अविनाशी एक है, उसमें क्रमवर्ती बांस की पोरों की भाँति देव, मनुष्यादि अनेक पर्यायें हैं। सभी भव एकसाथ नहीं होते, क्रम से ही होते हैं। उनमें जीवद्रव्य त्रिकाल रहता है, इसप्रकार आत्मा को अनेक भव की अपेक्षा अनेक भी कहा जाता है और अन्य-अन्य पर्यायों की अपेक्षा अन्य-अन्य भी कहा जाता है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता ह्य यही इस गाथा का विषय है।

●

( 50 )

### गाथा-२०

पूर्वोक्त गाथा में कहा है कि ह्य यद्यपि द्रव्यापेक्षा सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता तथापि पर्याय की अपेक्षा देव जन्मता है, मनुष्य मरता है। निमित्तरूप से देवगति एवं मनुष्य गति नामकर्म का उदय भी होता है।

अब प्रस्तुत गाथा में सिद्ध होने की प्रक्रिया कहते हैं ह्य  
मूलगाथा इस प्रकार है ह्य

**णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्टु अणुबद्धा ।  
तेसिमभावं किच्चा अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो ॥२०॥**  
(हरिगीत)

जीव से अनुबद्ध ज्ञानावरण आदिक भाव जो।

उनका अशेष अभाव करके जीव होते सिद्ध हैं ॥२०॥

ज्ञानावरणादि भाव जीव के साथ भलीभाँति अनुबद्ध हैं, उनका अभाव करके जीव सिद्ध होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं ह्य “सिद्धपर्याय सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं है। अभी तक संसार अवस्था में मनुष्य-देव आदि की जो भी पर्यायें होती थीं, उन सबमें ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय निमित्तरूप से रहता था, अब कर्मों के अभावरूप जो सिद्ध पर्याय हुई, वह सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं हुआ। संसारी पर्यायें कर्मों के साथ-साथ होती थीं, सिद्धपर्याय कर्मों के अभाव से हुई। जीव तो जो संसार दशा में था, वही है। अतः कर्मों के अभाव से उत्पन्न हुई सिद्धपर्याय का सर्वथा प्रकार से असत् का उत्पाद नहीं है; क्योंकि आत्मवस्तु तो अनादि से है और द्रव्यदृष्टि से शुद्ध ही है; परन्तु पर्याय में अशुद्धता थी। आत्मा अनादि से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के निमित्त से स्वयं राग-द्वेष-मोह के

वश हुआ था, इसलिए व्यवहार से जड़कर्मों से बंधा है, ऐसा कहा जाता था।

जैसे कि ह्व एक लम्बा बांस है, जो पूर्वार्द्ध भाग में विचित्र चित्रों से चित्रित है, उससे ऊपर का आधा भाग शुद्ध-साफ-सुथरा है, वह रंग-बिरंगे चित्रों से चित्रित नहीं है; परन्तु वह ढंका है, इसकारण अज्ञानी भ्रान्तिवश बांस के नीचे के रंग-बिरंगे हिस्से को देखकर ऊपर के साफ-सुथरे रंग रहित बांस के हिस्से को भी चित्रित (अशुद्ध) मान लेता है; उसीप्रकार यह जीव व्यवहार से संसार अवस्था में मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणामों के कारण अशुद्ध है, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से देखते हैं तो अंतरंग में स्वभाव से तो आत्मा केवलज्ञानादि स्वरूप से शुद्ध ही है; परन्तु अज्ञानी अभ्यन्तर में-त्रैकालिक ध्रुव स्वभावी केवलज्ञान स्वरूप में भी भ्रान्तिवश अशुद्धता मान लेता है।”

आचार्य जयसेन ने अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका में भी बांस के उदाहरण से ऐसा ही समझाया है। वे कहते हैं कि जिसप्रकार जीव नीचे के उघड़े बांस को रंग-बिरंगा चित्रित देखकर ऊपर के ढंके हुए बांस को भी रंग-बिरंगा मान लेता है, इसप्रकार वह सम्पूर्ण बांस को रंगा हुआ मान लेता है। वैसे ही अज्ञानी आत्मा के वर्तमान मलिनरूप को देखकर आभ्यन्तर में विद्यमान सिद्ध समान शुद्धस्वरूप को भी मलिन मान लेता है तथा जिसप्रकार चित्रित बांस को धो देने पर बांस साफ हो जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी द्वारा आगम, अनुमान और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान से आत्मा का सिद्ध समान शुद्ध स्वरूप जान लिया जाता है। सम्पूर्ण आत्मा को द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध मान लेता है।

तात्पर्य यह है कि अभूतपूर्व सिद्धस्वरूप जीवास्तिकाय नामक निर्विकल्प स्वसंवेदन से जाना हुआ त्रिकाल शुद्धात्मद्रव्य ही उपादेय है ह्व ऐसा ज्ञानी जानता है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी इसप्रकार कहते हैं ह्व

(सवैया इकतीसा)

जैसें बेणुदंड एक दीरघ प्रचंड लसै,  
 पूरब अरथ भाग चित्र चित्र कीनै है।  
 ताहीभाग दृष्टि देत सगरा असुद्ध दंड,  
 सुद्धता न भासै कहुं सुद्ध भावलीनै है॥  
 जैसें ताही दंड विषै ऊरध है खंड सुद्ध,  
 सारा खंड सुद्ध तातैं सुद्धभाव दीनै है।  
 तैसें जीवदर्व सुद्धासुद्ध जानै भव्य,  
 मानै सुद्ध सारा द्रव्य मिथ्याभाव हीनै है॥१२५॥

जिसप्रकार लम्बे बांस का नीचे का आधा भाग विचित्र रंगों से चित्रित है, मलिन है और ऊपर का आधा भाग साफ (शुद्ध) है; परन्तु ढंका है; इसकारण अज्ञानी नीचे के भाग को देखकर ऊपर के ढंके हुए शुद्ध मार्ग को भी अशुद्ध (चित्रित) मान लेता है तथा ज्ञानी ऊपर के शुद्धस्वरूप को देखकर अनुमान लगा लेता है कि नीचे का भाग भी ऊपर के भाग की तरह ही स्वभावतः शुद्ध है, पूरा बांस साफ-सुथरा है। यह रंग-बिरंगे चित्र तो ऊपर-ऊपर हैं, जिन्हें हटाया जा सकता है। यह रंग-बिरंगापन बांस का स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार जीवद्रव्य जो संसारपर्याय में शुद्धाशुद्ध रूप है, वह स्वभावतः तो शुद्ध ही है, ऐसी श्रद्धा से मिथ्याभाव का अभाव होकर सिद्धदशा प्रगट होती है।

इस गाथा का भाव गुरुदेव श्री कानजी स्वामी इसप्रकार कहते हैं ह्व “संसारपर्याय के अभावस्वरूप उत्पन्न हुई सिद्धपर्याय सर्वथा असत का उत्पाद नहीं है।

( 51 )

आत्मा तो द्रव्यदृष्टि से अनादि से शुद्ध ही है, परन्तु पर्याय में अशुद्धता है। आत्मा अनादि से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के निमित्त से स्वयं राग-



द्वेष-मोह के वश हुआ है, इसलिए व्यवहार से जड़कर्मों से बंधा हुआ है ह्व ऐसा कहा जाता है तथा अशुद्ध निश्चयनय से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा भावकर्मों से बंधा है।

ध्यान रहे, जब जीव स्वयं अज्ञानभाव करता है, तब जो द्रव्य कर्मों का बंध होता, उस दशा में ऐसा कहा जाता है कि 'जीव जड़कर्मों से बंधा है।'

जड़कर्म का अभाव करना आत्मा के अधिकार की बात नहीं है; परन्तु यदि आत्मा अपने चैतन्य स्वभाव की दृष्टि करे तो राग-द्वेष मोह का नाश होता है। राग-द्वेष-मोह के अभाव होने में द्रव्य कर्मों के अभाव का निमित्तपना होने से 'जीवों ने द्रव्य कर्मों का नाश किया' ह्व ऐसा कहा जाता है।

राग-द्वेष निमित्त हैं और जड़ कर्म नैमित्तिक हैं। आत्मा राग करता है, यदि ऐसा कहें तो आत्मा नैमित्तिक व जड़कर्म निमित्त कहलाते हैं; इसलिए विकारी पर्याय नैमित्तिक और जड़कर्म निमित्त हैं।

कोई यह मानता हो कि निमित्त हैं ही नहीं तो वह बात भी मिथ्या है तथा निमित्त से राग-द्वेष होते हैं ह्व ऐसा भी नहीं है। वास्तविकता यह है कि कर्म की पर्याय कर्म के कारण और राग की पर्याय राग के कारण होती है।

आत्मा त्रिकाली शुद्ध चिदानंद है, निमित्त पर हैं। आत्मा में जो राग-द्वेष होते हैं, आत्मा मात्र उतना नहीं है। आत्मा तो अनादि से शुद्ध है ह्व ऐसी दृष्टि होकर उसी में लीनता होने से मिथ्यात्व-रागादि का अभाव होता है; और रागादि का अभाव होने से कर्मों का भी नाश हो जाता है ह्व नया कर्म उसके कारण नहीं बंधता। राग-द्वेष का अभाव होने पर जो अनादि से नहीं था ऐसा सिद्धपद प्राप्त होता है। पर्यायदृष्टि से सिद्धपद नया प्राप्त हुआ ह्व ऐसा कहा जाता है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय दो प्रकार के हैं। इन दोनों नयों से वस्तु का स्वरूप बतलाया है।

इस गाथा में चार बोल कहे गये हैं ह्व

१. द्रव्यदृष्टि से आत्मा में सिद्धस्वरूप-अनादि-अनंत है।

२. पर्यायदृष्टि से आत्मा में जो कभी नहीं हुई ह्व ऐसी नयी सिद्धपर्याय होती है।

३. द्रव्यदृष्टि से आत्मा में संसार है ही नहीं।

४. पर्यायदृष्टि से आत्मा में संसार अनादि का है, नया नहीं हुआ।

द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा की जाए तो जीवद्रव्य संसारपर्याय में होने पर सदा अविनाशी, टंकोत्कीर्ण, उत्पाद नाश से रहित सिद्धसमान है।<sup>११</sup>

इसप्रकार उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणों के स्पष्टीकरण से यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यार्थिकनय या शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से जब देखते हैं तो उस आत्मवस्तु के त्रैकालिक स्वरूप दिखता है, जो पूर्णशुद्ध ही है और पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से या व्यवहारनय से पर्याय को देखते हैं तो वही आत्मा विकारी दिखता है, अशुद्ध दिखता है।

ज्ञानी जीव अपने अनुभव से जानता है। आत्मा की अशुद्धदशा में उसके त्रैकालिक केवलज्ञानस्वभावी शुद्ध आत्मा को देख लेता है।

## गाथा-२१

विगत गाथा में कहा गया है कि ह ज्ञानावरणादि कर्म जीव से अनुबद्ध हैं; उनका अभाव करके जीव सिद्ध होते हैं।

अब कहते हैं कि ह जीवद्रव्य द्रव्यार्थिकनय से नित्य होने पर भी पर्यायार्थिक नय से देव, मनुष्य आदि पर्यायों में संसरण करता है।

मूलगाथा इसप्रकार हैं ह

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च ।  
गुणपज्जएहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो ॥२१॥  
(हरिगीत)

भाव और अभाव भावाभाव अभावभाव में ।

यह जीव गुणपर्यय सहित संसरण करता इसतरह ॥२१॥

यह जीव गुण पर्यायों सहित संसरण करता हुआ भावरूप, अभावरूप, भावाभावरूप और अभाव-भावरूप परिणमन करता है।

इस गाथा की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह वस्तुतः आगम में द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य को सर्वदा अविनष्ट और अनुत्पन्न कहा है, इसलिए जीवद्रव्य को द्रव्यरूप से नित्यपना कहा गया है। परन्तु यह जीव पर्यायार्थिकनय से (१) देवादि पर्याय रूप से उत्पन्न होता है, इसकारण उस जीवद्रव्य को ही भाव का अर्थात् उत्पाद का कर्तृत्व कहा गया है, (२) मनुष्यादि पर्यायरूप से मृत्यु (नाश) को प्राप्त होता है, अतः उसी जीव को अभाव का अर्थात् व्यय का कर्तृत्व कहा जाता है। (३) सत् अर्थात् विद्यमान देवादि पर्याय का नाश करता है, इसकारण उसी को भावाभाव का सत् के विनाश का कर्तृत्व कहा गया है और (४) असत् अर्थात् अविद्यमान मनुष्यादि पर्याय को उत्पन्न करता है, इसलिए उसी को अभाव भाव का अर्थात् असत् के उत्पाद का कर्तृत्व कहा गया है।

यह सब निर्दोष, निर्बाध, अविरुद्ध है; क्योंकि द्रव्य और पर्यायों में से एक की गौणता से और अन्य की मुख्यता से कथन किया जाता है।

आचार्य जयसेन ने इस गाथा की टीका में जो कहा, उसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यार्थिकनय से नित्यता होने पर भी संसारी जीव के पर्यायार्थिक नय से देव, मनुष्य आदि के उत्पाद-व्यय के कर्तृत्व संबंधी व्याख्यान की मुख्यता से यह गाथा कही है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी ने पद्य में लिखा है ह

(सवैया इकतीसा)  
दरवरूप देखैतैं उपजै न बिनसै है,  
जीव अविनासी नित्य ग्रंथनि में भनै है ।  
देवपरजाय पावै भाव करता कहावै,  
नरभौ अभावतैं अभावरूप सनै है ॥  
देव सत्यरूप नासै भावाभाव करता है,  
आनभाव जानैतैं अभाव भाव चनै है ।  
सब ठीक कहात स्याद्वादकै बखान विषैं,  
जथाथान नीकै लसै श्रीजिनेस भनै है ॥१३३॥

द्रव्यरूप से देखने पर वस्तु न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है। जीव अविनाशी है, नित्य है। देव पर्याय के प्राप्त होने की अपेक्षा 'भाव' का कर्तृत्व कहा जाता है, नरभव के अभाव से 'अभाव' रूप कर्तृत्व कहा जाता है। सत् (विद्यमान) देवपर्याय का नाश करता है, इसलिए उसी को भावाभाव का (सत् के विनाश का) कर्तृत्व कहा गया है और असत् रूप मनुष्य पर्याय का उत्पाद करता है, इसलिए उसी को अभाव भाव का कर्तृत्व कहा गया है।

जीवद्रव्य तो त्रिकाली एकरूप है; वह जीवद्रव्य द्रव्य से शुद्ध और पर्याय से अशुद्ध है। अशुद्ध पर्याय में प्रतिक्षण (१) भाव (२) अभाव (३) भावाभाव और (४) अभाव-भाव ह इन चार भावों का कर्तृत्व है।

ऊपर जो चार बोल कहे ह उसका खुलासा इसप्रकार है ह

१. देवपर्याय को प्राप्त होना 'भाव' का कर्तृत्व है।
२. मनुष्य पर्याय का 'अभाव' होना अभाव का कर्तृत्व है।
३. विद्यमान देव पर्याय के नाश का आरंभ "भावाभाव" का कर्तृत्व है। तथा ४. अविद्यमान मनुष्य पर्याय के उत्पाद का आरंभ 'अभावभाव' का कर्तृत्व है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा के देवपर्याय का 'भावरूप' कर्तृत्व है। मनुष्य पर्याय के अभाव कर्त्तापना है, परन्तु आत्मा का नाश नहीं होता। जब देव से मनुष्य की सन्मुखता करता है, उससमय भी देव का जो भाव है, उसका अभाव करता है, यह 'भावाभाव' का कर्तृत्व है और देवपर्याय के समय जो मनुष्य भाव नहीं है, उस भाव का कर्त्तापना 'अभावभाव' का कर्तृत्व है।

ये चारों भाव पर्यायदृष्टि से हैं, द्रव्यदृष्टि से ये चारों भाव नहीं।

यहाँ ज्ञातव्य है कि ये विकारी भाव या देवादि पर्यायों पर के कारण नहीं होती। आत्मा अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं होता है, कर्म इनका कर्ता नहीं है, कर्म तो निमित्त मात्र हैं।

सारांश यह है कि जीव को जिस गति में जाना है, उसके उस 'भाव' का कर्तृत्व है। जिस पर्याय (गति) का नाश होता है, जीव के उसके अभाव का कर्तृत्व है। जो भाव है, उसका अभाव करने की प्रारंभ दशा भावाभाव का कर्तृत्व है और जो भाव नहीं है उसका प्रारंभ होना अभावभाव का कर्तृत्व है। देवपर्याय और मनुष्यपर्याय को रचनेवाले देवगति नामकर्म और मनुष्यगति नामकर्म मात्र उतने काल जितने ही होते हैं।

इसी विषय को बांस की पोरों का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है।

इसप्रकार पूर्वोक्त तीन गाथाओं में किए गए पर्यायार्थिकनय के व्याख्यान द्वारा मनुष्य-नारकादि रूप से उत्पाद-विनाशत्व घटित होता है; तथापि

द्रव्यार्थिकनय से सत्/विद्यमान जीव द्रव्य का विनाश और असत्/अविद्यमान जीव द्रव्य का उत्पाद नहीं है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी उक्त विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ह "मनुष्य पर्याय का व्यय होता है और देवपर्याय का उत्पाद होता है" ह यह कथन कर्म के निमित्त से आत्मा में होनेवाली विभाव पर्याय की अपेक्षा से सत्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ध्रुवपने की अपेक्षा से जो जीव मरता है, वही जीव उत्पन्न होता है और उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से मरता मनुष्य है और उपजता देव है। पर्याय दृष्टि से भव बदल जाने पर सब संयोग बदल जाते हैं; इसलिए ऐसा कहने में आता है कि 'नया जीव उत्पन्न होता है।' वस्तुतः तो द्रव्य नया उत्पन्न नहीं होता।

जीवद्रव्य त्रिकाली अविनाशी एक है, उसमें क्रमवर्ती बांस की पोरों की भाँति देव मनुष्यादि अनेक पर्यायों हैं। सभी भव एकसाथ नहीं होते, क्रम से ही होते हैं। उनमें जीवद्रव्य त्रिकाल रहता है, इसप्रकार आत्मा को अनेक भव की अपेक्षा अनेक भी कहा जाता है और अन्य-अन्य पर्यायों की अपेक्षा अन्य-अन्य भी कहा जाता है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता।"

आत्मा चिदानन्द एक रूप है। पुण्य-पाप रहित टंकोत्कीर्ण, ज्ञानानन्दमूर्ति है। ऐसी अन्तदृष्टि से यह आत्मा त्रिकाल है, नया उतना नहीं होता ह यही इस गाथा का तात्पर्य है।

## गाथा-२२

विगत गाथा में कह आये हैं कि अपने गुण पर्यायों सहित जीव संसरन करता हुआ भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभाव को करता है।

प्रस्तुत गाथा में कहा है कि हू पाँच द्रव्य अकृत हैं, अस्तित्वमय हैं, अस्तिकाय हैं।

जीवा पुगलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा।  
अमया अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स ॥२२॥

(हरिगीत)

जीव-पुद्गल धर्म-अधर्म गगन अस्तिकाय सब।  
अस्तित्वमय हैं अकृत कारणभूत हैं इस लोक के ॥२२॥

जीव, पुद्गलकाय, आकाश और शेष दो (धर्म एवं अधर्मद्रव्य) अस्तिकाय हैं, अकृत हैं, अस्तित्वमय हैं और वास्तव में लोक के कारणभूत हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि हू यहाँ सामान्यतः जिनका स्वरूप कहा गया है, ऐसे छह द्रव्यों में से पाँच को अस्तिकायपना स्थापित किया गया है। वे अकृत होने से, अस्तित्वमय होने से तथा और अनेक प्रकार की अपनी परिणति रूप लोक के कारण होने से जो छहद्रव्य स्वीकृत हो गये हैं, उनमें जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य के प्रदेश प्रचयात्मकता का अभाव है; अतः वह अस्तिकाय नहीं है।

कवि हीरानन्दजी ने इस गाथा की व्याख्या इसप्रकार की है।  
(दोहा)

जीवपुगलकास फुनि, अस्तिकाय का सेष।  
अकृत अस्तिकाय लोक कै, कारणरूप विसेष ॥१३६॥

(सवैया इकतीसा)

जीवकाय-पुगल औ धर्मा-धर्म-व्योम नाम,  
एई पाँचों अस्तिकाय नीकैकै विचारै हैं।

किये न कराये काहु अपनेउ माहिं लसै,

सत्तारूप सबहीमैं अस्तिता समारै हैं ॥

नानारूप लोककै हैं कारन सरूप सदा,

परदेस पुंज तातैं कायरूप सारै हैं।

काल काय बिना यातैं इनमैं कहावै नाहिं,

सबकै सरूप ग्यानी ग्यानमैं निहारै हैं ॥१३७॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश हू ये पाँचों अस्तिकाय हैं, इन्हें किसी ने किया नहीं है, कराया नहीं है। ये अपने स्वभाव से ही अनादि-अनन्त सत्स्वरूप हैं। ये पाँचों स्वभाव से ही अस्तिकाय हैं। यह जो नानारूप लोक दिखाई देता है, ये छहों द्रव्य ही इसके कारणरूप से विद्यमान हैं। ये पाँचों द्रव्य प्रदेशपुंज होने से कायवान हैं, काल के मात्र एकप्रदेश है, अतः वह कायवान नहीं है।

आचार्य जयसेन पहले प्रश्न उठाते हैं कि यदि ये अकृत हैं, किसी पुरुष विशेष के द्वारा बनाये नहीं गये हैं तो इनकी रचना कैसे हुई? बाद में स्वयं समाधान करते हैं कि हू वे स्वयं अपने अस्तित्व से, अपनी सत्ता से रचित हैं और लोक के कारणभूत हैं। उत्पाद-व्यय-धौव्य युक्त सत् हैं, किसी के द्वारा खो नहीं गये।

(55)

उपर्युक्त तीनों आचार्यों को आधार बनाते हुए गुरुदेवश्री कानजी स्वामी कहते हैं कि हू “सर्वज्ञ परमात्मा ने लोक में जो छह द्रव्य देखे हैं,

उनमें पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है। ये पाँचों द्रव्य अपने स्वयं की स्वभावगत योग्यता से कायवान हैं, किसी परद्रव्य के कारण नहीं और कालद्रव्य भी अपनी स्वभावगत योग्यता से अनादि से कायवान नहीं है।

ये छहों द्रव्य किसी के द्वारा निर्मित नहीं हैं, त्रिकाल अपने अस्तित्व से हैं। ये अपनी स्वभावगत योग्यता से ही स्वतः परिणमन करते हैं, कालद्रव्य निमित्तमात्र है। वह किसी को परिणमाता नहीं है, क्योंकि सभी द्रव्य अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव से स्वयं परिणमनशील हैं, स्वयं परिणमते द्रव्यों को अन्य के सहयोग की आवश्यकता ही नहीं है। आगम में कालद्रव्य द्वारा जो सभी द्रव्यों को परिणमाने की बात कही, वह कथन निमित्त अपेक्षा है, वास्तविक नहीं; क्योंकि निमित्त तो परद्रव्य के परिणमाने में अकिंचित्कर ही है।

इस गाथा में द्रव्यों को अकृत, अस्तित्वमय और लोक का कारणभूत कहा है। कारणभूत का अर्थ यह है कि जहाँ सभी द्रव्य हैं, वही तो लोक है। विश्व की परिभाषा में भी यही कहा है कि छह द्रव्यों के समूह को ही विश्व या लोक कहते हैं।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में पञ्चास्तिकाय एवं कालद्रव्य के स्वरूप को बताकर यह कहा है कि कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य बहु प्रदेशी होने से कायवान हैं तथा कालद्रव्य एक प्रदेशी होने से वह कायवान नहीं हैं; ये सभी अकृत हैं, इन्हें ही सकल लोक का कारण कहा है।

●

### गाथा-२३

विगत गाथा में कहा है कि ह्र छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। प्रस्तुत गाथा में कालद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

**सब्भावभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।**

**परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ॥२३॥**

(हरिगीत)

सत्तास्वभावी जीव पुद्गल द्रव्य के परिणमन से।

है सिद्धि जिसकी काल वह कहा जिनवरदेव ने ॥२३॥

सत्ता स्वभाववाले जीवों और पुद्गलों के परिवर्तन से सिद्ध होनेवाले कालद्रव्य का सर्वज्ञों द्वारा नियम से उपदेश दिया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्र “यहाँ कालद्रव्य का कथन नहीं होने पर भी उसे अर्थपना (पदार्थपना) सिद्ध होता है।

इस जगत में जीवों और पुद्गलों को सत्तास्वभाव के कारण प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकवृत्तिरूप परिणाम वर्तता है। वह परिणाम वास्तव में काल द्रव्य रूप सहकारी कारण के सद्भाव में ही दिखाई देता है। धर्म, अधर्म, आकाश के गति, स्थिति, अवगाह एवं परिणाम की भाँति। जिसप्रकार गति, स्थिति और अवगाहरूप परिणाम धर्म, अधर्म और आकाशरूप सहकारी कारणों के सद्भाव में होते हैं, उसीप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का एकतारूप परिणाम काल द्रव्य के सहकारी कारण के सद्भाव में होता है अर्थात् जीव और पुद्गल के परिणमन में निमित्त कारण कालद्रव्य है।”

टिप्पणी में कहा गया है कि - “वह कालद्रव्य जीव व पुद्गल के परिणाम की ‘अन्यथा अनुपपत्ति’ हेतु के द्वारा सिद्ध होता है। ‘अन्यथा अनुपपत्ति’ का अर्थ है कि जीव व पुद्गल का परिणमन अन्य किसीप्रकार

(56)



से नहीं हो सकता; इसलिए निश्चय काल अनुक्त होने पर भी अर्थात् यद्यपि कालद्रव्य का नामोल्लेख नहीं किया, तथापि वह द्रव्यरूप से विद्यमान है और निश्चयकाल के पर्यायरूप जो व्यवहारकाल है, वह पुद्गलों के परिणमन से जाना जाता है।”

उक्त गाथा का स्पष्टीकरण करते हुये जयसेनाचार्य टीका में कहते हैं कि यद्यपि समय, घड़ी, घंटा आदि व्यवहारकाल अपने निमित्तभूत पुद्गल परमाणुओं के परिणमन द्वारा ज्ञात होते हैं, तथापि उस समय घड़ी आदि पर्यायरूप व्यवहारकाल का उपादानकारण कालाणु (कालद्रव्य) ही है।

जिसप्रकार कुंभकार, चक्र, चीवर आदि बहिरंग निमित्त से उत्पन्न घटकार्य का पिण्डरूप मिट्टी उपादानकारण है तथा जिसप्रकार कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न मनुष्य, नारक आदि पर्यायरूप कार्य का उपादानकारण जीव है; उसीप्रकार घड़ी, घंटा एवं समय आदि व्यवहारकाल का उपादानकारण कालाणु (कालद्रव्य) है।

इसी बात का कविवर हीरानन्दजी ने निम्नांकित छन्दों में इसप्रकार स्पष्टीकरण किया है, वे कहते हैं ह

( दोहा )

जीव विषै पुगल विषै, सत-सुभाव परिनाम ।

परिवर्तन कारन लसै, कालदरव अभिराम ॥

(सवैया इकतीसा)

जीव पुद्गल विषै अस्ति परिनाम विषै,

उपजै विनासै ध्रौव्य धारावाही बगै है ।

तामैं जेती बार लगै तेता विवहार काल,

याहीतैं निहचै काल अनू नाम लगै है ॥

पराधीन विवहार निहचै सुभावाधीन,

अनू परिनाम लोकमान नीकै पगै है ।

लोक विवहार तीनों काल जथाभेद सधै,

जैनी जिनवानीमाहिं साचा भेद जगै है ॥१४३॥

( 57 )

( दोहा )

वरनादिकगुनरहित जे, अगुरु-लघुक-गुनवंत ।

वरतनलच्छ अमूरती, काल दरव विगसंत ॥

उक्त छन्दों में कवि कहते हैं कि जीवों एवं पुद्गलों में जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिवर्तन होता है उसमें कालद्रव्य ही निमित्त होता है। तथा काल द्रव्य का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि ह धारावाही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में जो समय लगता है वही व्यवहार काल है और उसी से निश्चयकाल की सिद्धि होती है। व्यवहारकाल की सिद्धि धर्मादि व्ययों के निमित्त से होती है तथा अन्त में कहा है कि रूपादिरहित अगुरुलघुक गुणवान जो वर्तना लक्षण से जाना जाता है वह कालद्रव्य है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी प्रस्तुत गाथा २३ पर प्रवचन करते हुए कहते हैं कि - “भले ही कालद्रव्य को कायसंज्ञा नहीं कही जाती; तथापि वह द्रव्य अस्तित्वरूप वस्तु तो है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव के धारक जीव व पुद्गलों के परिणमन से, उनकी नई से पुरानी अवस्था होने से उसमें निमित्तभूत निश्चय कालद्रव्य है ह ऐसा भगवान ने कहा है। वस्तु नई से पुरानी होती है, इससे कालद्रव्य है ह यह सिद्ध होता है।

हाँ, जिसप्रकार पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर स्कन्ध होता है, वैसे कालाणु इकट्ठे नहीं होते, क्योंकि कालाणु में स्निग्ध-रुक्षता का गुण नहीं है। कालाणु रत्नों की राशि के समान सम्पूर्ण लोक में हैं और वे असंख्य हैं तथा प्रत्येक कालाणु एक स्वतंत्र द्रव्य है।

जिसतरह धर्म, अधर्म व आकाशद्रव्य क्रमशः गति, स्थिति व अवगाहन में निमित्त है; उसीप्रकार कालद्रव्य परिणमन में निमित्त है। कालद्रव्य अनादि-अनन्त असंख्य हैं। कालद्रव्य के निमित्त बिना किसी द्रव्य का परिणमन नहीं होता। कालद्रव्य को पञ्चास्ति द्रव्यों द्वारा सिद्ध किया है। नयी और पुरानी पर्यायों से कालद्रव्य का माप निकलता है।

जैसे ह्व कोई वस्तु आज नई है, वह कल पुरानी है, इससे सिद्ध होता है कि कोई व्यवहारकाल है और व्यवहारकाल का आधार निश्चय कालद्रव्य है।

शास्त्र में सत् पद प्ररूपणा आती है अर्थात् शब्द है तो उसका वाच्य न हो ह्व ऐसा नहीं होता। कोई कह सकता है कि 'गधे का सींग' यह पद तो है, परन्तु इसका वाच्य पदार्थ नहीं है। अरे भाई ! 'गधे का सींग' यह पद नहीं वाक्य है। पद तो 'गधा' है और 'सींग' है। इन दोनों पदों के वाच्य पदार्थ भी हैं। इसीप्रकार जब 'काल' पद है तो उसका वाच्य कालद्रव्य भी है।

इसप्रकार जीव और पुद्गल आदि के परिणमन द्वारा कालद्रव्य सिद्ध होता है। इनके परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जीव और पुद्गल के परिणाम नैमित्तिक हैं और कालद्रव्य निमित्त है। दोनों एकसाथ हैं, आगे-पीछे नहीं। यह संबंध न केवल अशुद्धता में होता है, बल्कि शुद्धता में भी होता है। जैसे कि ह्व केवलज्ञान नैमित्तिक और कालद्रव्य निमित्त ह्व ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी है न ! जगत में छहों द्रव्यों में जो-जो पर्यायें होती हैं, उन सबमें कालद्रव्य निमित्त है।''

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव से लेकर गुरुदेव श्री कानजीस्वामी तक के कथनों से यह सिद्ध हुआ कि ह्व जो पर्याय स्वयं की योग्यता से परिणमित न होती हो, उसे तो कालद्रव्य परिणमित नहीं करा सकता, किन्तु जो-जो द्रव्य स्वयं की स्वतंत्र योग्यता से जब जिस पर्यायरूप परिणमित होती है, उसमें उस समय घड़ी, घंटा रूप व्यवहारकाल और निश्चयकाल निमित्त होता ही है। ●

## गाथा-२४

पिछली गाथा में यह कह आये हैं कि यद्यपि कालद्रव्य अस्तिकायरूप से अनुक्त है, तथापि उसे पदार्थपना तो है ही; क्योंकि वह भी एक स्वतंत्र द्रव्य है और वह सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्त होता है।

प्रस्तुत गाथा में कालद्रव्य का स्वरूप कहते हैं, जो इसप्रकार है ह्व  
**ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्टफासो य ।  
 अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति ॥२४॥**

(हरिगीत)

रस-वर्ण पंचरु फरस अठ अर गंध दो से रहित है।

अगुरुलघुक अमूर्त युत अरु काल वर्तन हेतु है ॥२४॥

कालद्रव्य पाँच वर्ण और पाँच रस तथा दो गंध एवं आठ स्पर्श से रहित है तथा अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षणवाला है।

उक्त गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा नहीं लिखी गई। सीधा भावार्थ में कहा गया है कि ह्व लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में एक-एक कालाणु अर्थात् कालद्रव्य स्थित है। वह कालाणु अर्थात् कालद्रव्य निश्चयकाल है। अलोकाकाश में कालद्रव्य नहीं है।

कालाणु (निश्चय कालद्रव्य) अमूर्त होने से सूक्ष्म है, अतीन्द्रियज्ञान ग्राह्य है और षट्गुण हानि-वृद्धि सहित अगुरुलघुत्व स्वभाववाला है। काल का लक्षण वर्तना हेतुत्व है, जिसप्रकार स्वयं घूमने की क्रिया करते हुए कुम्हार के चाक को कीलिका सहकारी है, उसीप्रकार स्वयमेव परिणाम को प्राप्त जीव पुद्गलादि द्रव्यों को (व्यवहार से) कालाणुरूप निश्चयकाल बहिरंग निमित्त है।

( 58 )

प्रश्न :- अलोकाकाश में कालद्रव्य नहीं है तो वहाँ आकाश की परिणति किस प्रकार हो सकती है?

उत्तर :- जिसतरह एक लम्बे बांस के निम्न भाग को हिलाने मात्र से उसके ऊपर का भाग स्वयं हिलता है तथा जिसतरह रसना के द्वारा स्वादिष्ट वस्तु के चखने से सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में सुखानुभव होता है, उसीप्रकार लोकाकाश में विद्यमान कालद्रव्य अलोकाकाश में भी निमित्त बनता है; क्योंकि आकाशद्रव्य अखण्ड है, एक है।

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि कालद्रव्य किसी द्रव्य के परिणमन का कर्ता नहीं है, स्वतंत्रता से स्वयमेव परिणमित होनेवाले द्रव्यों को बाह्य निमित्तमात्र है।”

आचार्य जयसेन ने प्रश्न उठाया है और स्वयं समाधान भी प्रस्तुत किया है कि कालद्रव्य अन्य द्रव्यों को परिणमाने में निमित्त है ह्व यह तो ठीक है; परन्तु कालद्रव्य के परिणमन में कौन-सा द्रव्य निमित्त है ?

उत्तर स्वरूप वे स्वयं ही कहते हैं कि ह्व “जिसतरह आकाशद्रव्य दूसरे द्रव्यों के आधार के साथ स्वयं का भी आधार है तथा जिसप्रकार ज्ञान, सूर्य, रत्न और दीपक स्व-परप्रकाशक है, उसीप्रकार कालद्रव्य दूसरे द्रव्यों के साथ स्व के परिणमन में भी सहकारीकारण है।

कविवर हीरानन्दजी ने उपर्युक्त भाव को इसप्रकार कहते हैं ह्व  
(दोहा)

पंच वरन रस गंध दुअ, आठ फरस बिन टाल।

अगुरुलघुक मूरति बिना, वरतन लच्छन काल ॥१४५॥

( सवैया इकतीसा )

जैसें सीतकाल विषै कोऊ नर पाठ करै,

अपनै सुभाव ताकाँ आग का सहारा है।

जैसें कुंभकारचक्र अपनै सुभाव भ्रमै,

पै पर दंड कीलीनै भ्रमीकाँ सहारा है ॥

तैसें पाँचों द्रव्य विषै परिनाम नित्य ताकाँ,

निहचै काल अनूनै नीकैकै विचारा है।

( 59 )

सोई काल अनूरूप वरतना लच्छिन है,

मूरत बिना ही सारे जगमें निहारा है ॥१४६॥

( चौपाई )

अब जो तरक करै कोउ ऐसैं, नभ अलोकमें परिनत कैसें।

ताकाँ संबोधन कछु जैसेँ, ग्रंथविषै अनुभौ सुनु तैसेँ ॥१४७॥

(सवैया इकतीसा)

जैसेँके परस इंद्री एक जागा परसैंतैं,

परस का विषै स्वाद सारे अंग व्यापै है।

जैसेँ साँप काटै और वन आदि एक अंग,

सबै अंग दुखी होइ जीव परलापै है ॥

तैसेँ लोकमध्य काल अपने सुभाव सेती,

सबही अलोकमध्य परिनाम साधै है।

काल तौ सहायकारी परिनामधारी नभ,

वस्तु का सरूप तातैं वस्तुमाहिं आपै है ॥१४८॥

उक्त छन्दों में कहा है कि ह्व जैसे कोई शीतकाल में स्वतः पढ़ता है तो अग्नि उसमें सहायक बन जाती है, जब कुम्हार का चक्र स्वतः घूमता है, तो कीली उसका सहारा बन जाती है, उसीप्रकार पाँचों द्रव्य जब अपने स्वभाव से परिणमन करते हैं, तब कालद्रव्य उनमें निमित्त बनता है।

उपर्युक्त १४७वें छन्द में प्रश्न उठाया है कि ह्व लोक का द्रव्य अलोकाकाश के परिणमन में कैसे निमित्त बनता है?

समाधान १४८वें छन्द में किया है। उसमें कहा है कि जैसे एक अंग में कांटे के स्पर्श से सम्पूर्ण स्पर्शन् इन्द्रिय में पीड़ा होती है तथा सर्प दंश एक अंग में होता है और पूरा शरीर दुखता है, उसीप्रकार आकाशद्रव्य अखण्ड होने से लोक का कालद्रव्य अलोक के परिणमन में निमित्त बन जाता है।”

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी अपने प्रवचन में उक्त गाथा के रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि ह “जैसे आत्मा है, वैसे ही कालाणु भी हैं, यद्यपि कालाणु में आत्मा जैसे ज्ञान व आनन्द आदि भाव नहीं हैं, तथापि कालद्रव्य षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप अगुरुलघुगुण संयुक्त है, अमूर्त है तथा परद्रव्य के परिणमन में निमित्त है।

कालाणु पदार्थ अरूपी है, उसमें वर्णादि गुण नहीं हैं, परन्तु वह वस्तु तो है। पुद्गल का जैसा स्वभाव है, काल का वैसा स्वभाव नहीं है। इसकारण कालाणु स्कन्धरूप नहीं होते।

**प्रश्न :** अलोकाकाश में काल द्रव्य नहीं है तो आकाश की परिणति किस प्रकार होती है, अर्थात् अलोकाकाश के परिणमन में निमित्त कारण कौन है?

**उत्तर :** आकाश द्रव्य अखण्ड हैं, अतः लोकाकाश में स्थित काल द्रव्य अलोकाकाश के परिणमन में भी निमित्त होता है। लम्बे बाँस के उदाहरण से इसप्रकार समझाया जा सकता है कि ह जैसे बाँस के नीचे के भाग को हिलाने से ऊपर का भाग स्वयं हिलता है, उसीतरह लोकाकाश में स्थित काल द्रव्य अलोकाकाश के परिणाम में निमित्त बनता है।<sup>१</sup>”

हीरानन्दजी के पद्यों का सामान्यार्थ सम्पूर्ण पद्यों के बाद दे दिया गया है। सम्पूर्ण गाथा का सुगम है, अतः विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।



## गाथा-२५

विगत गाथा में यह कह आये हैं कि निश्चय कालद्रव्य पुद्गल के बीस गुणों से रहित है तथा अगुरुलघुक, अमूर्त और वर्तना लक्षणवाला है। प्रस्तुत गाथा में व्यवहारकाल का स्वरूप कहते हैं ह

मूल गाथा इसप्रकार है ह

**समओ णिमिसो कट्टा कला य णाली तदो दिवारत्ती।**

**मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो ॥२५॥**

(हरिगीत)

समय-निमिष-कला-घड़ी दिनरात-मास-ऋतु-अयन।

वर्षादि का व्यवहार जो वह पराश्रित जिनवर कहा ॥२५॥

समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और वर्ष आदि हैं, वे पराश्रित होने से व्यवहार हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में ‘पराश्रितपने’ के स्पष्टीकरण में कहते हैं कि ह “व्यवहारकाल का माप दर्शाने की अपेक्षा व्यवहारकाल में पराश्रितपना है। जैसे ह ‘समय’ को परिभाषित करने के लिए पुद्गल परमाणु का सहारा लिया है। यद्यपि ‘समय’ के अस्तित्व के लिए परद्रव्य रूप परमाणु की जरूरत नहीं है; परन्तु ‘समय’ किसे कहते हैं ह यह बताना हो तो कहना पड़ेगा कि “एक पुद्गल परमाणु को अपनी मन्दगति से गमन करते हुए एक आकाशप्रदेश से निकटवर्ती दूसरे आकाश प्रदेश तक पहुँचने में जितना काल लगता है, वह ‘समय’ है।

इसतरह ‘समय’ परमाणु के गमन के आश्रित है, ‘निमिष’ आँख मिचने के आश्रित है; निमिष की अमुक संख्या से काष्ठा, कला और घड़ी होती है। दिन-रात सूर्य के गमन के आश्रित हैं; दिन-रात की संख्या से मास, ऋतु, अयन और वर्ष होते हैं।

उपर्युक्त व्यवहारकाल के माप के किए परद्रव्य का आलम्बन आवश्यक होने से इसे उपचार से पराश्रित कहा है।”

आचार्य जयसेन की टीका में दो प्रश्नों के माध्यम से काल द्रव्य को स्पष्ट किया गया है ह

**प्रश्न** – जो सूर्य की गति आदि क्रिया-विशेष से ज्ञात होता है, वही काल है, इससे भिन्न और कालद्रव्य क्या है ?

**उत्तर** – ऐसा नहीं है, वस्तुतः बात यह है कि जो सूर्य की गति आदि से व्यक्त हुआ वह तो व्यवहार काल है और जो सूर्य की गति के परिणमन में सहकारी कारण है, वह निश्चय कालद्रव्य है।

**प्रश्न** – सूर्य की गति आदि के परिणमन में तो धर्मद्रव्य सहकारी कारण या निमित्त है, गति के परिणमन में कालद्रव्य को कारण क्यों कहा ?

**उत्तर** – सहकारी कारण अनेक भी हो सकते हैं, धर्मद्रव्य तो गति में हेतु होता ही है और गति के समय में कालद्रव्य में जो पर्यायरूप परिणमन होता है, उसमें निश्चय कालद्रव्य निमित्तकारण है। जैसे घट की उत्पत्ति में कुम्भकार, चक्र, चीवर आदि अनेक निमित्तकारण हैं, वैसे ही सूर्य के परिणमन में धर्मद्रव्य व कालद्रव्य को सहकारीकारण मानने में बाधा नहीं है।

**प्रश्न** – ‘समय’ की परिभाषा में एक ओर बताया है कि ह एक पुद्गल परमाणु को निकटवर्ती आकाश प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक मन्दगति से गमन में जितना काल लगता है, वह समय है और दूसरी ओर यह कहा है कि ह एक पुद्गल परमाणु की ऐसी सामर्थ्य है कि वह एक समय में चौदह राजू प्रमाण आकाश के प्रदेशों में गमन करता है। यह परस्पर विरुद्ध है। चौदह राजू के असंख्य प्रदेशों तक गमन करने में असंख्य समय लगना चाहिए?

**उत्तर** ह एक समय के माप में एक पुद्गल परमाणु को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक मंदगति से जाने की बात कही है और चौदह राजू जाना तीव्र या शीघ्रगति से गमन की अपेक्षा कहा है।

कविवर हीरानन्दजी ने समय, निमिष, काष्ठा, कला, नाली (घड़ी) दिन-रात, मास, ऋतु, अयन को पद्य में इसप्रकार परिभाषित किया है ह

( सवैया इकतीसा )

परमानु उलटै की वरतना समै नाम,  
नैनौंपुटबीचि लसै नैमिस सुहाया है।  
तैसैं ही विसेष संख्या काष्ठा कला नाली नाम,  
रवि के उदोतमान बासर कहाया है॥  
संध्यातैं प्रभात तांई रतिनाम दौनौ मिलै,  
अहोरात काल संख्या ग्रंथमें जताया है।  
मास ऋतु अयन है वर्ष परसिद्ध एता,  
पर के निमित्तकाल बाहिर बहाया है॥१५१॥  
( दोहा )

एकाकी कालानुकी, लखिय न परत लगा।

तातैं पर-संजोग करि, पराधीन विवहार॥१५२॥

प्रस्तुत छन्द १५१ का भावार्थ यह है कि ह समय मन्दगति से परिणत पुद्गल परमाणु अपने निकटवर्ती परमाणु तक पहुँचने में समय लगाता है। वह काल का सबसे छोटा काल समय है।

**निमिष** ह आँख के पलक झपकने में जो समय लगे, वह निमिष है। एक निमिष असंख्यात समय का होता है।

**काष्ठा** ह पन्द्रह निमिष की काष्ठा होती है।

**घड़ी** ह बीस से कुछ अधिक कला की एक घड़ी होती है।

**मुहूर्त** ह दो घड़ी का एक मुहूर्त बनता है।

**अहोरात्र** ह यह सूर्य के गमन से जाना जाता है। एक अहोरात्र अर्थात् दिन-रात तीस मुहूर्त का एवं २४ घंटे का होता है।

**मास** ह तीस अहोरात्र का एक मास होता है।

**ऋतु** ह दो मास की ऋतु होती है।



अयन ह्य ३ ऋतु का एक अयन और २ अयन का एक वर्ष होता है।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ने उक्त सभी परिभाषाओं को दर्शाते हुए विशेष स्पष्टीकरण यह किया है कि - “कालद्रव्य की पर्याय ‘समय’ है। जब एक परमाणु मंदगति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाता है, उतने समय में कालद्रव्य की एक पर्याय हो जाती है और उस पर्याय का धारक पर्यायवान कालद्रव्य का क्षेत्र अलग नहीं है।

समय, निमिष, घड़ी आदि जो समय का माप है, वे सब कालद्रव्य की पर्याय्ये हैं और उन व्यवहार पर्यायों का माप परद्रव्य की अपेक्षा से होता होने से उस व्यवहारकाल को पराधीन कहा जाता है।

इसप्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन से यह सिद्ध हुआ कि कालद्रव्य को समझने के लिए उसके दो भेद किए हैं। एक निश्चयकाल, जिसका लक्षण वर्तना है अर्थात् निश्चयकाल उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप प्रवर्तन करते हुए अन्य पाँचों द्रव्यों के प्रवर्तन या परिणमन में निमित्त होता है तथा दूसरा ह्य व्यवहारकाल जो माप की अपेक्षा परसापेक्ष होने से पराधीन है और उसके द्वारा लोक में काल/समय का व्यवहार चलता है।”

इसप्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि - वस्तुतः सभी द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीन है, परनिरपेक्ष ही हैं; परन्तु उन द्रव्यों का कथन पर-सापेक्ष होता है; अतः दोनों की अपेक्षाओं को समझ कर यथार्थ श्रद्धान करना चाहिए।

कालद्रव्य किसी अन्य द्रव्य को बलात् परिणमन नहीं कराता; किन्तु जब द्रव्य स्वयं स्वाधीनता से परिणमन करता है तो कालद्रव्य उसमें निमित्त होता है।

समय, निमिष, काष्ठा, घड़ी, मुहूर्त, अहोरात्र, मास, ऋजु, अमन और वर्ष - ये सब व्यवहार काल के भेद है। ●

## गाथा-२६

विगत गाथा में व्यवहारकाल के समय, निमिष आदि भेदों की चर्चा की। अब प्रस्तुत गाथा में व्यवहारनय से काल का कथन करते हैं ह्य मूलगाथा इसप्रकार है ह्य

णत्थि चिरं वा खिप्पंमत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता ।

पोग्गलदव्वेण विणा तम्हा कालो पडुच्चभवो ॥२६॥

(हरिगीत)

विलम्ब अथवा शीघ्रता का ज्ञान होता माप से।

माप होता पुद्गलाश्रित काल अन्याश्रित कहा ॥२६॥

‘चिर’ अथवा ‘क्षिप्र’ ऐसा ज्ञान काल के माप बिना नहीं होता और माप पुद्गल के आलम्बन बिना संभव नहीं है, अतः व्यवहारकाल पर के आश्रय से होता है ह्य ऐसा उपचार से कहा जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्य “प्रथम तो निमेष, समयादि व्यवहारकाल में चिर और क्षिप्र ऐसा ज्ञान होता है। वह ज्ञान वास्तव में अधिक और अल्पकाल के साथ सम्बन्ध रखने वाले काल परिणाम के बिना संभवित नहीं होता और वह परिमाण पुद्गल द्रव्य के परिणाम बिना निश्चित नहीं होता। इसप्रकार यद्यपि उपर्युक्त व्यवहार कालद्रव्य का कथन पुद्गलाश्रित होने से पराश्रित कहा जाता है; तथापि निश्चय से वस्तुतः वह कालद्रव्य अन्य के आश्रित नहीं है। इसलिए यद्यपि काल को अस्तिकायपने के अभाव के कारण द्रव्यों की सामान्य प्ररूपणा में कालद्रव्य का कथन नहीं है, तथापि जीव पुद्गल के परिणाम की अन्यथा अनुत्पत्ति द्वारा सिद्ध होनेवाला निश्चय काल और उनके आश्रित सिद्ध होने से व्यवहारकाल का अस्तित्व लोक में है ह्य अत्यंत तीक्ष्ण दृष्टि से ऐसा जाना जाता है।”

तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यवहारकाल की उत्पत्ति और सिद्धि पुद्गलों के माप द्वारा होती है, अतः व्यवहारकाल को उपचार से पुद्गलादि के आश्रित कहा जाता है, किन्तु वस्तुतः कालद्रव्य भी अन्य अस्तिकाय द्रव्यों की भाँति पूर्ण स्वाश्रित है, स्वाधीन है। व्यवहारकाल भी कालद्रव्य की ही पर्याय है, पुद्गल की नहीं।

आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका में विशेष बात यह कहते हैं कि ह “यदि कोई कहे कि समय, निमिष आदि रूप ही परमार्थ कालद्रव्य है, इससे भिन्न कोई द्रव्यरूप कालाणु नहीं है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सूक्ष्म कालरूप जो समय है, वह कालद्रव्य की ही पर्याय है, द्रव्य पर्याय के बिना नहीं होता तथा पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती और द्रव्य निश्चय से अविनश्वर है। काल पर्याय का उपादान कारणभूत कालाणु स्वयं कालद्रव्य है।

इसप्रकार यद्यपि समय आदि सूक्ष्म व्यवहारकाल का और घड़ी आदि रूप स्थूल व्यवहारकाल का उपादान कारण निश्चय काल है। तथापि जो समय, घड़ी आदिरूप व्यवहारकाल की भेदकल्पना है, उससे भिन्न त्रिकाल स्थायी अनादि-निधन लोकाकाश के प्रदेशप्रमाण कालाणुरूप द्रव्य ही परमार्थ काल है।

कविवर हीरानन्दजी ने उक्त कथन को निम्नांकित पद्य में इसप्रकार स्पष्ट किया है ह

( दोहा )

चिर-थोरा जो भेद है, मात्रारहित न जान।

मात्रा पुग्गल बिन नहीं, काल प्रतीति बखान ॥१५३॥

( सवैया इकतीसा )

लोकविवहारविषैं चिर-सीघ्र भेदविषै,

बिना परिमाण ताकौ भेद कैसे पाइए।

पर की अपेच्छा विवहारकाल कहा ऐसा,

निहचै अनन्यभाव स्यादवाद गाइए ॥

काय ताकै नाहीं कही अस्तिभाव सदा सही,

द्रव्यनाम पावै तातैं वस्तुरूप भाइए।

पुद्गल-परिणाम ताकौ परिमाण करै तातैं,

ताकौ उद्योतकारी पुग्गल बताइए ॥१५४॥

अधिक या थोड़े का जो भेद है, वह माप के बिना नहीं होता तथा माप पुद्गल के बिना संभव नहीं है, इस कारण यद्यपि निश्चय काल में परिमाण अर्थात् मात्रा की आवश्यकता नहीं है; तथापि व्यवहार काल में घड़ी, घंटा निमिष आदि का कथन अपेक्षित होता है।

निश्चय से वह कालद्रव्य से अनन्य है ह ऐसा स्याद्वाद से कथन है काल के अस्तित्व हैं, पर काय नहीं है। काल को बताने वाला पुद्गल द्रव्य है। अर्थात् काल का अस्तित्व पुद्गल से ज्ञात होता है। लोक व्यवहार के विलम्ब और शीघ्रता के माप हेतु परिमाण के बिना भेद कैसे किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता, इसीकारण व्यवहारकाल की उत्पत्ति पुद्गलाश्रित कही है।

इस गाथा के प्रवचन में गुरुदेवश्री कानजी स्वामी कहते हैं कि ह

“काल की मर्यादा (सीमा) के बिना थोड़ा काल-बहुत काल ह ऐसा कथन नहीं किया जा सकता; इसलिए काल की मर्यादा (सीमा) का कथन करना आवश्यक है तथा वह काल की मर्यादा (सीमा) पुद्गलद्रव्य के बिना नक्की नहीं होती। अर्थात् परिमाण की मंदगति, सूर्य की चाल इत्यादि प्रकार के जो पुद्गलद्रव्य का परिमाण है उससे काल की मर्यादा हो सकती है। इसलिए व्यवहार काल की उत्पत्ति पुद्गलद्रव्य के निमित्त से होती है ह ऐसा कहा जाता है।

जिनमत में सर्वज्ञदेव ने छह द्रव्य कहे हैं। उन द्रव्यों के बिना लोक की सिद्धि नहीं होती। जगत में निश्चय कालद्रव्य के बिना जीव-पुद्गल का परिणमन संभव नहीं और उनके परिणमन के बिना व्यवहारकाल की सिद्धि नहीं होती। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि अपने ज्ञान में सूक्ष्मदृष्टि द्वारा युक्ति आदि से निर्णय करके इस कालद्रव्य को जाना जाता है। कालद्रव्य को मात्र जानने को कहा है; उपादेयरूप तो अपना एक चिदानंद ज्ञानस्वभाव ही है।

जब जीव अपने को क्षणिक राग-द्वेष, पुण्य-पाप जितना ही मानता था तब तो उसको स्व-पर काल का भान भी नहीं था जहाँ अन्तर्मुख होकर चिदानंदस्वभाव का भान होने पर स्वकाल का पुरुषार्थ प्रकट हुआ, वहाँ उस स्वकाल में निमित्तभूत परकाल का ज्ञान भी हो गया। इसलिए जिसको वीतराग की आज्ञा माननी हो उसको सूक्ष्मदृष्टि से जगत में असंख्य कालाणु हैं ह्व ऐसा निर्णय करना चाहिए।<sup>१</sup>”

इसप्रकार निश्चय एवं व्यवहारकाल की सिद्धि करते हुए अन्त में जीवद्रव्य के स्वचतुष्टय में भी जीव का जो 'स्वकाल' है, उसके भान से जब जीव अन्तर्मुख होकर चिदानन्द स्वभाव का भान करके पुरुषार्थ प्रगट करता है, तब स्वकाल में निमित्तभूत परकाल का ज्ञान भी यथार्थ हो जाता है। सम्पूर्ण कथन का यह तात्पर्य है।

●

( 64 )

## गाथा-२७

विगत गाथा में कहा है कि काल की मर्यादा के बिना थोड़ा काल-बहुत काल ह्व ऐसा व्यवहार नहीं किया जा सकता; इसलिये काल की मर्यादा का कथन करना आवश्यक है तथा काल की मर्यादा पुद्गलद्रव्य के बिना नक्की नहीं होती, इसकारण पुद्गल परमाणु की मंद गति तथा सूर्य की चाल आदि के द्वारा समय, घड़ी, घण्टा आदि को परिभाषित किया जाता है। इसकारण व्यवहार काल की उत्पत्ति पुद्गल के निमित्त से होती है।

प्रस्तुत गाथा में जीवद्रव्य का विशेष निरूपण किया गया है।

मूलगाथा इसप्रकार है ह्व

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।  
भोक्ता व देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥

(हरिगीत)

जीव है देह प्रमाण, और है उपयोगमय ।

अमूर्त कर्ता-भोक्ता 'प्रभु' कर्म से संयुक्त है ॥२७॥

आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोग लक्षित है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देह प्रमाण है, अमूर्त है और कर्म संयुक्त है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने उक्त गाथा को स्पष्ट करते हुए टीका में कहा है कि ह्व संसारदशा वाला आत्मा सोपाधि और निरूपाधि स्वरूप है।

आत्मा निश्चय से भावप्राण को धारण करता है, इसलिये 'जीव' है तथा व्यवहार से द्रव्यप्राणों को धारण करता है; इसलिये 'जीव' है। निश्चय से चित्स्वरूप होने के कारण चेतयिता है और सद्भूत व्यवहार नय से चित्शक्तियुक्त होने से चेतयिता है। निश्चय से अपृथग्भूत चैतन्य

परिणामस्वरूप होने से उपयोग लक्षित है। सद्भूत व्यवहार नय से पृथक्भूत चैतन्य परिणामस्वरूप होने से उपयोग लक्षित है। निश्चय से भावकर्मों के आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष पर्याय प्रकट करने में स्वयं समर्थ होने से प्रभु है तथा असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्यकर्मों के आस्रव आदि में स्वयं ईश होने से प्रभु है। निश्चय से पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से होनेवाले आत्म परिणामों का कर्तृत्व होने से कर्ता है और असद्भूत व्यवहारनय से भाव कर्मों के निमित्त से होनेवाले द्रव्यकर्मों का कर्ता है।

निश्चय से शुभाशुभ कर्म जिनका निमित्त है ऐसे सुख-दुःख परिणामों का भोक्तृत्व होने से भोक्ता है, असद्भूत व्यवहार से शुभाशुभ कर्मों से प्राप्त इष्टानिष्ट विषयों का भोक्तृत्व होने से भोक्ता है; निश्चय से लोक प्रमाण होने पर भी विशिष्ट अवगाह परिणाम की शक्तिवाला होने से नामकर्म से रचने वाले छोटे-बड़े शरीर में रहता सद्भूत व्यवहार से देहप्रमाण है।

असद्भूत व्यवहार से कर्मों के साथ एकत्व परिणाम के कारण मूर्त होने पर भी निश्चय से अरूपी स्वभाव वाला होने के कारण अमूर्त है; निश्चय से पुद्गलपरिणाम के अनुरूप चैतन्य परिणामात्मक कर्मों के साथ संयुक्त होने से 'कर्म संयुक्त' है, असद्भूत व्यवहारनय से चैतन्य परिणामन के अनुरूप पुद्गलपरिणामात्मक कर्मों के साथ संयुक्त होने से 'कर्मसंयुक्त' है।

इसके भावार्थ में कहा है कि प्रारंभिक २६ गाथाओं में षड्द्रव्य और पञ्चास्तिकाय का सामान्य निरूपण करके इस सत्ताईसवीं गाथा में उनका विशेष निरूपण प्रारंभ किया गया है। उसमें प्रथम जीव का निरूपण प्रारंभ करते हुये इस गाथा में संसारस्थित आत्मा को जीव, चेतयिता, उपयोग लक्षणवाला, प्रभु, कर्ता इत्यादि विशेषण दिये हैं।

आचार्य जयसेन ने जीव के ९ विशेषणों में प्रथम जीवत्व को शुद्ध निश्चयनय से चैतन्य आदि शुद्ध प्राणों से, अशुद्ध निश्चयनय से

क्षायोपशमिक आदि भावप्राणों से तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्यप्राणों से जीनेवाला कहा है। इसीप्रकार चेतयिता को शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान चेतना वाला, अशुद्ध निश्चयनय से कर्म, कर्मफल रूप अशुद्ध चेतनावाला कहा है। उपयोगमयत्व को शुद्ध निश्चयनय से केवलज्ञानादि शुद्धोपयोगरूप तथा अशुद्ध निश्चयनय से मतिश्रुत ज्ञानादिरूप कहा है।

इसीप्रकार प्रभु, कर्ता-भोक्ता, सदेह प्रमाणत्व को भी शुद्ध निश्चय नय एवं अशुद्ध निश्चयनय से प्ररूपित किया है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी ने इसप्रकार कहा है ह

( सवैया इकतीसा )

निहचै और व्यौहार प्रानधारनतैं जीव,

चेतनसकति तातैं चेतना बखानी है ।

उपयोग योग भाव-दरव-करमकारी,

तत्वनि में मुख्य तातैं प्रभुता समानी है ॥

सुभासुभ कर्म फल भोगता सरीर लसै,

देह मात्र अवगाह मूरतीक प्राणी है ।

कर्मसंजोग धारी विविध भेद संसारी,

मुक्त अविकारी तातैं सुद्धता निदानी है ॥१५८॥

( दोहा )

जे कुवादि मिथ्यामती, मानै नहिं सरवग्य ।

तिनकौं इह उपदेश सब, कहत जैनधरमग्य ॥१५९॥

उपर्युक्त पद्यों में कहा गया है कि ह्व निश्चय एवं व्यवहार प्राणों का धारक होने से जीव के जीवत्व है, चेतन की शक्ति से चेतयिता है, ज्ञानदर्शन से उपयोगमयी है तथा सब तत्त्वों में मुख्य होने से प्रभु है। शुभाशुभ कर्मों को भोगता है अतः भोक्ता है। देहमात्र अवगाही होने से

सदेह प्रमाण है। कर्म संयोग से संसारी के विविध भेद हैं, मुक्तावस्था में अविकारी होने से शुद्ध है।

जो कुवादि मिथ्यामती सर्वज्ञ को नहीं मानते, उनके लिए जैनधर्म के मर्मज्ञ उपर्युक्त स्वरूप बताते हैं।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने उक्त गाथा को स्पष्ट करते हुये कहा है कि ह्व “नय विवक्षा से कहें तो शुद्ध निश्चयनय से आत्मा त्रिकाल चैतन्यप्राणों से ही जीता है। अशुद्ध निश्चयनय से क्षयोपशम भावरूप प्राणों से जीता है। इन्द्रियाँ और मन आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा का यथार्थ प्राण तो चैतन्य है, जिससे वह कभी पृथक नहीं होता।

जीव को चेतयिता कहा है सो निश्चय से जीव पदार्थ चेतन गुण संयुक्त है, गुण व गुणी दोनों अभेद हैं।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मेरा रागादि के बिना नहीं चलता; परन्तु आत्मा अनंत काल से चेतना द्वारा ही टिका है। गुण-गुणी भेद भी व्यवहार से है। रागादि भाव तो उपाधि है, वह आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। चेतनागुण व उपयोग को यहाँ एक ही पर्यायवाची के रूप में कहा है।

आत्मा उपयोग लक्षित है ह्व यहाँ प्रश्न हो सकता है कि चेतना और उपयोग में क्या अन्तर है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ह्व आत्मा त्रिकाली द्रव्य है और चेतना उसका त्रिकाली गुण है तथा उपयोग उसकी पर्याय है। चेतना के परिणाम को उपयोग कहा है। उपयोग परिणति रूप है। चेतना का अर्थ यहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना आदि नहीं है। ज्ञानचेतना कर्मचेतना आदि तीन भेद तो पर्यायरूप हैं और यह चेतना तो त्रिकाली गुणरूप है। ध्यान रहे, उपयोग चेतना की पर्याय है।

आत्मा प्रभु है इस विषय में विशेष बात यह है कि आत्मा अपने प्रभुत्व गुण के कारण स्वभाव से तो प्रभु है ही, विकार भी कर्म के कारण नहीं होते, विकार करने में भी आत्मा प्रभु है। जीव स्वयं की योग्यता से

ही अपनी बंध-मोक्ष की पर्यायरूप परिणत होता है, अतः वह प्रभु है।

समयसार की ४७ शक्तियों में प्रभुत्वशक्ति की चर्चा में त्रिकाली स्वभाव की बात है और यहाँ पर्याय में प्रभुता प्रगट करने की अपेक्षा प्रभु कहा है। आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शन आदि निर्मलपर्याय को करने कारण प्रभु भी है। इसीप्रकार आत्मा के कर्ता, भोक्ता, सदेहप्रमाण, अमूर्तत्व तथा कर्मसंयुक्तता है।

आत्मा वास्तव में अपने विभावभावों का तथा व्यवहारनय से पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है।

अशुद्ध निश्चय से जीव अपने सुख-दुःख आदि परिणामों का भोक्ता है और व्यवहार से शुभाशुभ कर्मों के निमित्त से प्राप्त इष्टानिष्ट सामग्री का भोक्ता है।

वस्तुतः आत्मा लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है और व्यवहार से नामकर्म के निमित्त से प्राप्त छोटे-बड़े शरीर प्रमाण है, इसलिये स्वदेह परिमाण है।

यद्यपि आत्मा व्यवहारनयसे पुद्गल कर्म के संयोग से मूर्तिक कहलाता है; परन्तु वास्तव में वह अमूर्तिक ही है।

निश्चयनय से आत्मा अपने ही अशुद्धभावों से सहित है। व्यवहारनय से अशुद्धभावों का निमित्त पाकर बंधनेवाले नूतन कर्मों से भी सहित है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार प्रस्तुत गाथा में आत्मा का वर्णन करते हुए बताया है कि - निश्चय से आत्मा चेतना शक्ति से युक्त भाव प्राण वाला है तथा व्यवहार से संसारावस्था में जीव द्रव्य प्राणों का धारक करता है, इसलिए जीव है, चेतयिता है, उपयोग लक्षित है, प्रभु है, भोक्ता है, देह प्रमाण है, इसतरह शुद्ध-अशुद्धनय के अनुसार ही संसारी जीव का कथन है।



## गाथा-२८

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्र संसारी जीव चेतयिता, उपयोग लक्षित, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, अमूर्त और कर्म संयुक्त है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्र सिद्धपद प्राप्त आत्मा निरुपाधि, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होकर अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करता है।

मूल गाथा इसप्रकार है।

**कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अन्तमधिगंता ।**

**सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥**

(हरिगीत)

कर्म मल से मुक्त आत्म मुक्ति कन्या को वरे।

सर्वज्ञता समदर्शिता सह अनन्तसुख अनुभव करे ॥२८॥

कर्ममल से मुक्त आत्मा लोक के अन्त को प्राप्त करके सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होकर अनन्त अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्र आत्मा जिस क्षण कर्मरज से सम्पूर्णरूप से छूटता है, उसी क्षण अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अन्त को पार कर आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोकाग्र में ही स्थिर हो जाता है तथा सर्वज्ञता एवं समदर्शिता के साथ अतीन्द्रियसुख का अनुभव करता है।

उस मुक्त आत्मा को भावप्राण धारणरूप 'जीवत्व' होता है, चिद्रूप लक्षणभूत 'चेतयित्व' होता है, चित्परिणामस्वरूप 'उपयोगमयत्व' होता है। समस्त शक्तिमय होने से 'प्रभुत्व' होता है। निजस्वरूप के रचनेरूप 'कर्तृत्व' होता है। सुख की उपलब्धिरूप 'भोक्तृत्व' होता है, अन्तिम शरीर के अनुसार अवगाह परिणामरूप 'देहप्रमाणपना' होता है तथा उपाधिसंबंध से सर्वथा रहित होने से 'अमूर्तपना' होता है। मुक्त आत्मा को कर्मसंयुक्तपना

तो कदापि नहीं होता; क्योंकि वह द्रव्यकर्मों एवं भावकर्मों से विमुक्त हो गया है।

आचार्य जयसेन कहते हैं कि ह्र उपर्युक्त नौ अधिकारों में से सिद्ध जीव की दृष्टि से संयुक्तता को छोड़कर शेष आठ अधिकारों में आगम के अविरोध पूर्वक घटित कर लेना चाहिए; जबकि आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने आठों को विश्लेषित करके स्पष्ट किया है। सर्वज्ञ और सर्वदर्शित्व की प्रगटता के हेतुओं का प्रतिपादन कर भोक्तृत्व का स्पष्टीकरण अस्ति-नास्ति से किया है।

कवि हीरानन्दजी ने उक्त विषय को अपने काव्य में इसप्रकार कहा है ह्र

( दोहा )

सरव करम-मलरहित निज, उर्द्धलोककै अंत ।

सर्वग्यानदरसी सुखी, इंद्रियरहित अनंत ॥१६०॥

( सवैया इकतीसा )

भाव-दरव-करममलसौं वियोग भयौ,

ऊरध सुभावगति लोकअंत वासी है ।

धरमदरव बिना आगै गतिका अभाव,

ताहीतैं मुगति माहिं चेतना विलासी है ॥

सुद्ध ग्यानदरसमैं लोकालोक भासमान,

केवल सुछंद आपरूप अविनासी है ।

इंद्रिय-रहित-सुख अनुभौ अनंतकाल,

एकरूप निराबाध सिद्ध मोखवासी है ॥१६१॥

उक्त पद्यों का सारांश यह है कि मुक्त जीव सर्व कर्ममल से रहित हैं। उर्ध्वलोक के अन्त में रहते हैं, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, अनन्तसुखी और इन्द्रिय रहित अनन्तकाल तक विराजमान रहते हैं।

( 67 )

उक्त सवैया में कर्ममल के भेद बताते हुए कहा है कि मुक्त जीवों के द्रव्यकर्म व भावकर्म का अभाव हो गया है, उर्ध्वगमन स्वभाववाले हैं

और धर्मद्रव्य के अभाव के कारण लोकांत में चेतना में विलास करते हुए विराजते हैं।

शुद्ध ज्ञान-दर्शन में लोकालोक भासित होते हैं, अनन्तकाल तक अतीन्द्रियसुख को भोगते हुए निरावाद एकरूप सिद्धलोक के वासी हैं।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा पर प्रवचन करते हुए हमारा ध्यान निम्न बातों की ओर विशेष आकर्षित करते हुए कहते हैं कि “वे सिद्ध परमात्मा प्रथम अमर्यादित स्वाभाविक-स्वाधीन सुख को प्राप्त हुए हैं। लोकान्त के आगे धर्मद्रव्य का अभाव है, इसकारण जीव लोकाग्र में रहता है ह्व ऐसा कहा है; परन्तु यह व्यवहारनय का कथन है; वस्तुतः जीव की योग्यता भी लोक में रहने की ही है। तीसरी बात ह्व सिद्ध भगवान को अपने चैतन्य की निर्मल दशारूप उपयोग है। ज्ञान-दर्शन और आनन्द जो आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है, वह सिद्धों को अतीन्द्रिय सुख पर्याय के रूप में प्रगट हो गया है।

सिद्ध भगवान को समस्त आत्मिक शक्तियों की सामर्थ्य प्रगट हुई है, इसलिए प्रभुत्वशक्ति पर्याय में भी प्रगट हो गई है। भगवान को जो तीन लोक का नाथ कहा, वह तो तीन लोक के ज्ञाता होने की अपेक्षा से कहा है।<sup>१</sup>”

जीव अनादिकाल से संसार में विभाव पर्याय के कारण आकुलता करके उस आकुलता को भोगता था। चैतन्यस्वभाव के अनन्त आनन्द के अवलम्बन से उस भगवान आत्मा को आकुलता का अभाव हो गया है और जो सहज-स्वाधीन चैतन्यस्वरूप प्रगट हुआ है, वह अनन्तकाल ऐसा का ऐसा रहेगा।

इसप्रकार इस गाथा में विविध आयामों से सिद्ध के स्वरूप का कथन करके सिद्धपद के साधकों को सन्मार्गदर्शन दिया गया है। ●

## गाथा-२९

विगत गाथा में कहा है कि कर्म से विमुक्त आत्मा सर्वज्ञत्व एवं सर्वसदर्शित्व के साथ अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व कर्ममल से मुक्त आत्मा सिद्ध होकर अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व  
**कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अन्तमधिगंता ।  
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२९॥**

(हरिगीत)

आत्म स्वयं सर्वज्ञ-समदर्शित्व की प्राप्ति करे।

अर स्वयं अव्याबाध एवं अतीन्द्रिय सुख अनुभवे ॥२९॥

वह चेतयिता स्वयं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता हुआ स्वकीय अमूर्त अव्याबाध अनन्तसुख को प्राप्त करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि इस गाथा में सिद्ध के निरुपाधि ज्ञान, दर्शन और सुख का समर्थन है।

ज्ञान, दर्शन और सुखस्वभावी आत्मा की आत्मशक्ति संसारदशा में अनादि कर्म-क्लेशों के निमित्त से संकुचित हो जाती है, इसकारण वह इन्द्रियों द्वारा क्रमशः कुछ-कुछ जानता है और इन्द्रियाधीन सुख का अनुभव करता है; किन्तु जब उसके सिद्धावस्था में समस्त कर्मक्लेश विनष्ट हो जाते हैं, तब पूर्ण आत्मशक्ति प्रगट होने से आत्मा पूर्ण स्वाश्रित, अव्याबाध और अनन्तसुख का अनुभव करता है। इसलिए स्वयमेव अपने जानने-देखने के स्वभाव वाले तथा स्वकीय सुख का अनुभव करनेवाले सिद्धों को पर से कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

जयसेनाचार्य की टीका में सर्वज्ञ का निषेध करनेवाले चार्वाक मतानुयायी से पूछा गया है कि ह्व तुम जो यह कहते हो कि ह्व गधे के सींग

के समान उपलब्ध न होने के कारण कोई सर्वज्ञ है ही नहीं हैं; किन्तु तुम्हारा यह मानना ठीक नहीं है; क्योंकि तुम्हारा कथन स्ववचन बाधित है।

आचार्य सर्वज्ञ का निषेध करने वालों से पूछते हैं कि सर्वज्ञ इस देश-काल में नहीं है कि तीन लोक व तीन काल में कहीं भी नहीं है। यदि इस देश-काल में ही नहीं है ह्व ऐसा कहते हो तो हमें स्वीकृत ही है और यदि तीनलोक व तीन काल में कहीं भी नहीं है ह्व ऐसा कहोगे तब तो तुम्हीं सर्वज्ञ हो गये अन्यथा तुम तीनलोक को बिना देखे-जाने सर्वज्ञ का निषेध कैसे कर सकते हो ?

कवि हीरानन्दजी निम्नांकित दोहे में कहते हैं कि ह्व

**स्वयं-चेत-सरवग्यता, सरवलोकदृग साध ।**

**सुख अनंत पावै सुकिय, बिन मूरत बिन बाधा।।१७५।।**

उक्त दोहे का तात्पर्य यह है कि सिद्ध आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंत सुखी, विनमूर्ति और अव्याबाध गुणोंमय होते हैं। इसतरह सिद्धदशा में ज्ञान, दर्शन, सुख-सत्ता आदि सब सहजभाव से व्यक्त हैं तथा संसारदशा में जीव कर्म के निमित्तपने एवं अपनी तत्समय की योग्यता से इन्द्रियादि के निमित्त से कुछ-कुछ अपूर्ण जानते-देखते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा मूर्तिक, बाधा सहित, अल्पज्ञान-दर्शनवाला होता है।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं ह्व “वे शुद्ध चिदात्मा स्वयं अपने स्वाभाविक भाव से ही सर्व को जानने-देखनेवाले हैं, किसी अन्य के कारण या व्यवहार के कारण सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपना नहीं होता। ‘आत्मा ही सर्वज्ञस्वभावी है। अल्पज्ञता अथवा राग-द्वेष आत्मा की वस्तु नहीं है, संयोग तो भिन्न हैं ही’ ह्व ऐसा ज्ञान करके स्वभाव में स्थिरता करने से ही सर्वज्ञता प्रगट होती है।

ज्ञान, दर्शन और आनन्द आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है, वह सिद्धों

को पूर्ण प्रगट हो गया है। ज्ञान, दर्शन और आनन्द ह्व तीनों अपने स्वकीय स्वभाव से ही प्रगट हुए हैं।

यहाँ निम्नांकित तीन प्रश्न उठते हैं। प्रथम यह कि ह्व जब सब जीवों का परिपूर्ण परमात्मस्वभाव है तो संसार में सबको वैसी परिपूर्ण दशा क्यों नहीं होती ? तथा दूसरा प्रश्न यह कि ह्व जो सिद्ध परमात्मा हुए हैं, वे किसप्रकार हुए हैं ? और तीसरा प्रश्न यह कि ह्व जो सिद्ध नहीं होते, वे किसकारण नहीं होते ?

इनके समाधान में कहा है कि ह्व अनादि से संसारी जीवों के मिथ्यात्वादि-संकलेश भावों के कारण ही अपनी सर्वज्ञशक्ति आच्छादित हो रही है। ‘मैं पूर्ण ज्ञानस्वरूप हूँ’ ह्व ऐसा न मानकर अज्ञानी स्वयं को अल्पज्ञ, रागी और पामर मानता रहा है, यह मान्यता ही सर्वज्ञता का घात करनेवाली है, सर्वज्ञ दशा होने में यही बड़ी बाधा है। जब अपने सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धा होगी तभी वह सर्वज्ञदशा पर्याय में प्रगट हो जायेगी।

विशेष बात यह है कि यह अल्पज्ञता और दुःख किसी कर्म आदि पर के कारण नहीं है, परद्रव्य तो निमित्तमात्र हैं, मुख्य कारण तो अज्ञानी संसारी जीव की मिथ्या मान्यता ही है।

पर्याय में ज्ञान का अल्पविकास (थोड़ा क्षयोपशमज्ञान) होने पर भी उस ज्ञानपर्याय को अन्तर्मुख करके “मैं सर्वविकासी शक्तिवान हूँ” ऐसा प्रतीति में लें तब तो पर्याय का विकास होकर सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है; किन्तु यदि प्रगट ज्ञान पर्याय को चैतन्य शक्ति में न जोड़कर पर में जोड़ता है तो ज्ञान का विकास रुक जाता है और वह पराधीन हो जाता है।

प्रश्न ह्व ‘पर लोक है, पुण्य-पाप होते हैं’ ह्व इसका प्रमाण क्या है ?

समाधान ह्व बात यह है कि जीव जन्म से ही भले-बुरे संयोगों में

आते हैं, बुद्धिमान और मूर्ख होते हैं, खूबसूरत या बदसूरत हैं, रोगी या निरोगी होते हैं, राजा या रंक होते हैं ह्व इससे सिद्ध होता है कि जिसने पूर्व जन्म में जैसे पुण्य-पाप किए तदनुसार उन्हें इस जन्म में फल मिलता है तथा अपने भले-बुरे कर्मों के फल में ही अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलते हैं। अतः परलोक और पुण्य-पाप का निषेध संभव ही नहीं है।

शरीर तो जड़ है, अजीव और भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति है। आत्मा में ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और पूर्ण आनन्दमय होने की ताकत है। पर्याय में अल्पज्ञता होने पर भी मैं स्वयं अपने स्वभाव से पूर्ण ज्ञान-दर्शन और आनन्दमय हो सकता हूँ। सर्वप्रथम ऐसी प्रतीति करना चाहिए।”

पहले साधकदशा में अपूर्ण आनन्द था, तब अज्ञानी जीव ने पर में सुख व आनन्द माना था, पर अन्तर्दृष्टि से जब आत्मा का अनुभव हुआ एवं स्वभाव में आनन्द प्रगट हुआ तो पूर्ण आनन्द की प्रतीति हो गई। अतः हमें श्रद्धा में पर का कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल चैतन्यस्वभाव का स्वामी होकर स्वसन्मुखता द्वारा सर्वज्ञता प्रगट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही गुरुदेव द्वारा इस गाथा पर दिये गये प्रवचन का सार है। ●

### प्रथम धर्म

अनादिकाल से क्रम क्रम से सर्वज्ञ होते आये हैं। सिद्धलोक में ऐसे अनन्त सिद्ध सर्वज्ञ के रूप में विराजमान हैं।

इसप्रकार अनादिकाल, सिद्धलोक, महाविदेह क्षेत्र आदि को माने बिना सर्वज्ञ की स्वीकृति नहीं होती। अतः उक्त सभी बातों का निर्णय करके आपने सर्वज्ञ स्वभाव की प्रतीति करना ही प्रथम धर्म है।

- पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी

### गाथा-३०

विगत गाथा में कहा है कि ह्व केवली भगवान स्वयमेव सर्वज्ञत्वादि रूप से परिणामित होते हैं; उनके उस परिणमन में लेशमात्र भी इन्द्रियादि पर का अवलम्बन नहीं है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि जो संसार में चार प्राणों वाले एकेन्द्रिय जीवों से लेकर दस प्राणवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तक ह्व दस प्राणों से जीवित रहते हैं; वे जीव हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।**

**सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥**

(हरिगीत)

**श्वास आयु इन्द्रिबलमय प्राण से जीवित रहे ।**

**त्रय लोक में जो जीव वे ही जीव संसारी कहे ॥३०॥**

“जो मूलतः चार प्राणों से जीता है, जियेगा और पूर्वकाल में जीता था, वह जीव है। मूलतः प्राण चार हैं ह्व इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। एकेन्द्रिय जीव की एक इन्द्रिय, आयु एवं कायबल व श्वासोच्छ्वास ह्व इसप्रकार जो चार प्राणों से जियें वे एक इन्द्रिय जीव हैं। दो इन्द्रिय जीवों के रसना इन्द्रिय बढ़ जाती है, इसी तरह असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक एक-एक इन्द्रिय बढ़ती जाती है तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय के मन बढ़ जाता है। इसप्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दस प्राण होते हैं।”

**आचार्य अमृतचन्द्र** इस गाथा की टीका में कहते हैं कि ह्व यह जीवत्व गुण की व्याख्या है। संसारी जीव के उपर्युक्त गाथा में निरूपित चार प्राण कहे हैं। उन चारों प्राणों में चित्सामान्यरूप अन्वयवाले भावप्राण होते हैं तथा पुद्गल सामान्यरूप अन्वय वाले स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु एवं स्वाच्छोस्वास रूप चार द्रव्य प्राण हैं।

संसारी जीव उन दोनों प्राणों को त्रिकाल अटूट धारा रूप से धारण करता है, उनको जीवत्व है। सिद्ध जीव को तो केवल चेतनारूप भाव प्राणों का धारक होने से ही उनके जीवत्व है।

आचार्य जयसेन कहते हैं कि ह्य यद्यपि शुद्ध निश्चय से जीव शुद्ध चैतन्य आदि प्राणों से जीता है; तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यरूप तथा अशुद्ध निश्चयनय से भावरूप चारों प्राणों द्वारा संसार अवस्था में वर्तमान काल में जीता है, भविष्य में जियेगा तथा भूतकाल में जीता था; वह चार प्राणों से सहित जीव है। वे द्रव्य-भावप्राण भी अभेद से इन्द्रिय, बल, आयु और उच्छ्वास लक्षणरूप हैं।

तात्पर्य यह है कि मन, वचन, काय के निरोधपूर्वक पाँचों इन्द्रिय के विषयों से व्यावर्तन के बल द्वारा शुद्ध चैतन्यादि प्राण सहित जीवास्तिकाय ही उपादेय है, ध्यान का ध्येय है।

इसी बात को कविवर हीराचन्दजी पद्य में कहते हैं ह्य

( दोहा )

प्राण चारि तिहुँकालमें जीवत सो पुन जीव ।

बल-इंद्रिय-उस्सास फुनि आयु जु प्राण सदीव ॥१७८॥

( सवैया )

बल-इंद्रिय-आयु-उच्छ्वास नाम प्राण चारि,

भाव-दरव-भेदतैं दुविध बखान है ।

चेतनारूप जो जो सो सो भाव प्राण लसैं,

पुद्गल पिंडरूपी दरव-परान है ॥

तीन कालविषैं प्राण-संतति सुछंदरूप,

याहीतैं जगत माहिं जीव अभिधान है ।

मुगतिमें चेतनादि भावप्राण धारनतैं,

सुद्ध जीव-भेद सोई अनुभौ प्रमान है ॥१७९॥

( दोहा )

सुद्ध-प्राण सिवजीवकै, सदाकाल आदेय ।

संसारी परजोगतैं, विकल बहिर्मुख हेय ॥१८०॥

उपर्युक्त पद्यों में चारों द्रव्य एवं भाव प्राणों द्वारा जीव तथा अजीव की पहचान कराते हुए शुद्ध जीव का आश्रय लेने को कहा गया है तथा संसारी अवस्था को विकल, बहिर्मुख कह कर उसे हेय कहा गया है।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ने इस प्रकरण में विशेष यह कहा है कि ह्य “जो जीव अल्पज्ञ की क्षणिक-अपूर्ण पर्याय को सम्पूर्ण जीवद्रव्य मानता है, वह जीव पर्यायबुद्धिरूप अज्ञान के कारण संसार में परिभ्रमण करता है और जो त्रिकाली पूर्ण स्वभाव को मानकर स्व-सन्मुख होता है, वह अशरीरी सिद्ध पद प्राप्तकर अविनाशी सुख को प्राप्त करता है।

बल, इन्द्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास ह्य इन चार प्राणों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि मन-वचन-काय ह्य ये तीनों तो जड़ हैं, इनके साथ जुड़ा बल शब्द जीव के वीर्य गुण का परिचायक है, वर्तमान में शक्ति का क्षयोपशम वीर्य गुण की योग्यता है। अशुद्ध निश्चयनय से जीव उस (बल) वीर्य प्राण से जीता है।

आयु एवं श्वासोच्छ्वास यद्यपि जड़ हैं; परन्तु जीव अपनी तत्समय की योग्यता और इन दोनों प्राणों के निमित्त से जीवित रहता है। द्रव्येन्द्रियाँ भी जड़ हैं तथा भावेन्द्रियाँ जीव की क्षयोपशमरूप योग्यता है।

उपर्युक्त चारों प्राणों में जो चैतन्यपरिणति है, वह भाव प्राण है और उनके साथ जो पुद्गल की उसरूप परिणति है, वह द्रव्य प्राण है।

वास्तव में तो जीव स्वयं सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध ह्य इन चार त्रिकाली प्राणों से जीता है और पर्याय में भावप्राण से व निमित्तरूप द्रव्यप्राण से जीता है ह्य इसप्रकार सबका ज्ञान कराना ही यथार्थ ज्ञान है।



प्रत्येक गाथा में तीन समय लागू पड़ते हैं ह १. शब्द समय, २. ज्ञान समय, और ३. पदार्थ समय। जिन शब्दों के निमित्त से आत्मज्ञान होता है, वे शब्द ही शब्द समय हैं। जो आत्मा का यथार्थ ज्ञान हुआ वह ज्ञान ही ज्ञान समय और जिस जीव को आत्मा का ज्ञान हुआ है, वह पदार्थ समय है।

उपर्युक्त जड़ द्रव्यप्राण, क्षयोपशमरूप भावप्राण और चैतन्य सत्तास्वरूप शुद्ध प्राणों से भरा-पूरा जीवद्रव्य पदार्थ समय है। इस जीवद्रव्य नामक पदार्थ में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गये। इन तीनों को यथार्थ जाननेवाला आत्मा ही वस्तुतः ज्ञानसमय है और इसे बतलानेवाला शब्दसमय है।

इसप्रकार इस गाथा में जड़प्राणों का निमित्तपना, पर्याय का खण्ड-खण्डपना और द्रव्य का अखण्डपना बतलाया है।”

मोक्षदशा में जीव केवल शुद्ध चैतन्यादि प्राणों से जीता है, इसलिए सिद्ध जीव को शुद्ध जीव कहते हैं। संसारी जीव को अशुद्ध जीव कहते हैं; क्योंकि उसके साथ अभी क्षयोपशम भावप्राण और द्रव्यप्राणों का साथ है। जो जीव इसप्रकार वस्तुस्वरूप को समझकर शुद्धात्मा का आश्रय लेता है, उसका संसार अल्प रह जाता है। यही इस गाथा का मूल तात्पर्य है।



### गाथा-३१-३२

विगत गाथा में कहा है कि शुद्ध जीव शुद्ध चेतनारूप भावप्राणों से तथा संसारी जीव अशुद्ध चेतनारूप भावप्राणों से एवं द्रव्यप्राणों से त्रिकाल जीवित रहते हैं।

अब प्रस्तुत दो गाथाओं में कहते हैं कि ह प्रत्येक जीव अगुरुलघुक स्वभाव से परिणमित हैं तथा अनंत जीव संसारी एवं अनन्त जीव सिद्ध हैं। मूलगाथा इसप्रकार है ह

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे ।  
 देसेहिं असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा ॥३१॥  
 केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा ।  
 विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ॥३२॥  
 (हरिगीत)

अगुरुलघुक स्वभाव से जिय अनन्त गुण मय परिणमें।  
 जिय के प्रदेश असंख्य पर जिय लोकव्यापी एक है ॥३१॥  
 बन्धादि विरहित सिद्ध आस्रव आदि युत संसारि सब।  
 संसारि भी होते कभी कुछ व्याप्त पूरे लोक में ॥३२॥

सर्व जीव अपने-अपने अनन्त अगुरुलघुक गुणांशों के रूप से परिणमित हैं। प्रत्येक जीव के वे अगुरुलघुक गुणांश असंख्यात प्रदेशवाले हैं। वे कथंचित् समस्त लोक में व्याप्त होते हैं और कथंचित् स्वदेह प्रमाण ही रहते हैं।

अनेक (अनन्त) जीव मिथ्यादर्शन, कषाय एवं योग सहित संसारी हैं और अनेक (अनन्त) जीव मिथ्यादर्शन कषाय योग रहित सिद्ध हैं।

टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि प्रत्येक जीव का स्वाभाविक प्रमाण अनंत है अर्थात् जीव को अगुरुलघुत्व स्वभाव अर्थात् अविभागी परिच्छेदों के स्वभाव से देखें तो प्रत्येक जीव अनंत अंशवाले होते हैं,

इसीलिए जीवों को अनंत प्रमाण कहा है। उन जीवों में कुछ केवली समुद्घात की अपेक्षा समस्त लोक में व्याप्त होते हैं और कुछ लोक में अव्याप्त होते हैं।

आचार्य जयसेन कहते हैं कि ह्य अगुरुलघुक गुणांश अनन्त हैं, उन अनन्त गुणांशों द्वारा सभी जीव परिणमित हैं; वे प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात हैं। उनमें से कुछ तो कथंचित् सम्पूर्ण लोक को प्राप्त हैं और कुछ अप्राप्त हैं। अनेक जीव मिथ्यादर्शन, कषाय सहित संसारी हैं तथा अनेक जीव सिद्ध हैं।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी पद्य में कहते हैं ह्य

( सवैया )

अविभागी एक जीव ताकै परदेसपुंज,  
सूखिम है अनूमान तेई अंत लसै है।  
अगुरुलघु-सरूप साधक सुभाव तामैं,  
लागै बिना भेद ताकै हानिवृद्धि रसै हैं ॥  
लोक पूरनैकी समैं लोकव्यापी जीव कहा,  
और समै देहमान जीवदेस कसै हैं।  
मिथ्या औ कषाय-योग-संपत्ति अनादि जोगी,  
संसारी विजोगी सिद्ध मोख माहिं बसै हैं ॥१८३॥

एक जीवद्रव्य यद्यपि अविभागी है, तथापि उसके असंख्यात प्रदेश पुंज हैं। वे सभी सूक्ष्म हैं। उसमें अगुरुलघु नामक गुण या शक्ति है, जिससे अभेद रहते हुए भी षट्गुणहानि-वृद्धिरूप परिणमन होता है। यह जीव लोकपूरण समुद्घात के समय लोकव्यापी होता है, शेष समय में अपने-अपने देह प्रमाण रहता है। मिथ्यात्व, कषाय, योग के कारण जीव अनादि से संसारी है और इनसे रहित जीव मोक्षपद प्राप्त करते हैं।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं ह्य “यहाँ जीवों के स्वाभाविक प्रदेशों की अपेक्षा संख्या तथा उनके मुक्त और संसारी भेद बतलाये हैं।

प्रत्येक जीव अपने अगुरुलघु गुण में षट्गुणहानिवृद्धिरूप

परिणमित हो रहा है। वह कभी अपनी मर्यादा से बाहर नहीं जाता। आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। वे असंख्यात प्रदेश कभी कम-ज्यादा नहीं होते। आत्मा में अनन्तगुण हैं, वे भी कभी कम-ज्यादा नहीं होते।

अगुरुलघुगुण आत्मा की मर्यादा की सुरक्षा करता है। उसका अविभागी अंश अतिसूक्ष्म है।

- एक सिद्ध के जितने गुण हैं उतने ही प्रत्येक जीव के गुण हैं। उनमें से एक भी गुण घटता/बढ़ता नहीं है। सिद्ध होने से गुण बढ़ते नहीं और निगोद होने से घटते नहीं।
- आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, उनमें से एक प्रदेश भी घटता-बढ़ता नहीं है। जीव निगोद में जाए, चींटी हो अथवा हाथी हो या केवली समुद्घात करे; तथापि क्षेत्र में एक प्रदेश भी कम या ज्यादा नहीं होता।
- जीव की पर्याय साधकदशा रूप हो या बाधकदशारूप पर्याय हो; निगोद की हो या सिद्ध की हो; तीव्र अज्ञानतारूपपर्याय हो या ज्ञानदशारूप पर्याय हो; परन्तु वह पर्याय अपनी मर्यादा में रहती है, वह अन्य की पर्याय में नहीं जाती है।

यहाँ लवण समुद्र का उदाहरण देकर कहा है कि जिस तरह समुद्र अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता; उसीप्रकार अनन्त आत्मायें अपने स्वक्षेत्र की, अपने ज्ञान-दर्शनादि भावों की तथा समय-समय होने वाली अपनी पर्यायों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, पर का काम नहीं करते।

इसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा बँधी है। पर्याय अवस्था की मर्यादा एकसमय की और द्रव्य-गुण की मर्यादा त्रिकाल है। इसप्रकार दोनों की मर्यादा पूर्वक पूरा प्रमाणज्ञान होता है। अपने ज्ञान में पूरा आत्मद्रव्य ज्ञेयरूप से ख्याल में आ जाता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि अनंत गुण और उनकी प्रतिसमय की पर्यायें ह्य अपनी मर्यादा में रह रही हैं।

इसप्रकार गुरुदेवश्री ने वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन कर स्पष्टीकरण किया।

( 73 )

## गाथा - ३३

पिछली गाथा में यह कह आये हैं कि ह्व जीव के अगुरुलघुत्व गुण के छोटे से छोटे अंश (अविभागी प्रतिच्छेद) करने पर स्वभाव से ही उसके अनन्त गुणांश होते हैं। इसलिए जीव सदैव (षट्गुण-हानि युक्त) अनन्त अंशों जितना है और जीव के स्वक्षेत्र के छोटे से छोटे अंश करने पर स्वभाव से ही सदैव असंख्य प्रदेश अंश होते हैं।

प्रस्तुत गाथा में अगुरुलघु का स्वरूप कहते हैं, जो इसप्रकार है :ह्व

**जह पउमराय रयणं ख्रित्तं खीरे पभासयदि खीरं।**

**तह देही देहत्यो सदेहमेत्तं पभासयदि ॥३३॥**

(हरिगीत)

अल्प या बहु क्षीर में ज्यों मणि आकृति गहे।

त्यों लघु-गुरु इस देह में, ये जीव आकृतियाँ धरे ॥३३॥

जिसप्रकार दूध में डाला गया पद्मराग रत्न अपनी प्रभा से अभेदरूप एकमेकरूप व्याप्त होता हुआ प्रतीत होता है, उसीप्रकार जीव देह में रहता हुआ स्वदेह प्रमाण प्रकाशित होता है। जीव अनादिकाल से कषाय द्वारा मलिन होने के कारण शरीर में रहता हुआ स्व-प्रदेशों द्वारा उस शरीर में व्याप्त (एकमेक) होता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व यह देहमात्रपने के दृष्टान्त का कथन है। जिसप्रकार अग्नि के संयोग से उस में उफान आने पर उस पद्मराग रत्न के प्रभा समूह में उफान आता है अर्थात् वह पद्मरागरत्न भी विस्तार को प्राप्त होता है और दूध बैठ जाने पर प्रभा समूह भी बैठ जाता है; उसीप्रकार जीव अनादि से कषाय से मलिन होता हुआ तथा शरीर में रहता हुआ अपने स्वप्रदेश में रहता है और विशिष्ट आहारादि के

वश उस शरीर में वृद्धि होने पर उस जीव के प्रदेश विस्तृत होते हैं और शरीर दुबला होने पर प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं।

पुनश्च, संसारी जीव को नामकर्म के निमित्त से जब जैसा छोटा-बड़ा शरीर प्राप्त होता है तब वैसा ही आत्मा के प्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है।

इसी बात को जयसेनाचार्य कहते हैं कि ह्व जैसे दूध में उफान आने पर दूध बर्तन के ऊपर तक आ जाता तो दूध में पड़ा पद्मरागमणी की प्रभा भी उफान के साथ ऊपर तक आ जाती है, उसीप्रकार विशिष्ट आहार होने पर शरीर बढ़ने से जीव के प्रदेश भी विस्तृत हो जाते हैं और कम होने पर संकुचित हो जाते हैं। अथवा जिसप्रकार अधिक दूध में पड़ा वही प्रभा समूह अधिक दूध को व्याप्त करता है, तथा कम दूध में पड़ा हुआ कम दूध को व्याप्त करता है; उसीप्रकार यद्यपि जो शुद्ध आत्मा तीन लोक, तीन काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में प्रकाशित करने में समर्थ होता है; तथापि मिथ्यात्व रागादि से उपार्जित शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न विस्तार-संकोच के अधीन होने से बड़े से बड़ा हजार योजन प्रमाण महामत्स्य और छोटे से छोटा (जघन्य) अवगाहना परिणत होता हुआ उत्सेधांगुल को असंख्य भाग प्रमाण लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद शरीर को व्याप्त करता है तथा मध्यम अवगाहना से मध्यम शरीरों को प्राप्त करता है।

कवि हीराचन्द्रजी ने भी यही भाव प्रगट किया है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे पद्मरागमनि दूधकै समूह मध्य,

अपनै उद्योतकरि सारै दूध व्यापै है।

आगि-योग पाय दूध बढै प्रभाखंध बढै,

दूध घटै प्रभा घटै दोऊ एक मापै है ॥

तैसैं छोटी-बड़ी देहधारी जीव करमतैं,  
ताहीकै प्रमान तामैं आपरूप धापै है ।  
तातैं देहमान जीव निहचै सदैव कहा,  
देहकै विलायै सिद्ध देहमाप आपै है ॥१८७॥  
(दोहा)

लोक-असंख्य-प्रदेससम, निहचै जीव बखान ।

देहमात्र विवहारकरि, दोऊ नय परमान ॥१८८॥

उक्त सवैया इकतीसा में कहते हैं कि - जैसे पद्मरागमणी दूध में डालने पर अपने प्रकाश से समस्त दूध में व्याप्त हो जाता है। अग्नि का संयोग पाकर जब दूध उफन कर बढ़ता है तो पद्मरागमणि की प्रभा भी बढ़ जाती है तथा दूध का उफान कम होता है और दूध बैठ जाता है तो मणि की प्रभा भी घट जाती है, दोनों एक माप प्रमाण ही रहते हैं। उसीप्रकार देहधारी जीव भी छोटी-बड़ी देह के अनुसार ही अपना रूप धारण करते हैं। इसलिए ही देहधारी संसारी जीव को देह प्रमाण तथा देह के विलय होने पर सिद्ध जीव अन्तिम देहाकार होता है।

निश्चय से जीव असंख्यात प्रदेशी लोक प्रमाण होता है और व्यवहार देह प्रमाण होते हैं। ये दोनों ही नय प्रमाण हैं, अपनी-अपनी अपेक्षा सही है।

इसी गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेव श्री कानजी स्वामी कहते हैं कि ह्व “जिस तरह पद्मराग मणि दूध में डालने पर उसकी प्रभा दूध के जितने क्षेत्र में फैलती है, उसीप्रकार संसारी जीव देह प्रमाण फैलती है। यह जीव अनादिकाल से विकार से मलिन होता है और शरीर प्रमाण रहता है। यदि पर्याय की तरफ से देखें तो एक समय की पर्याय में मलिन हुई है तथा पर्याय के प्रवाहरूप से देखें तो अनादि से मलिन है। शरीर प्रमाण आत्मा का क्षेत्र है; परन्तु शरीर व आत्मा एकमेक नहीं है।

( 75 )

शरीर तो आत्मा से भिन्न ही हैं। ज्ञानी जानता है कि शरीर भिन्न ही हैं। रोग मुझे हुआ नहीं है मैं तो रोगी ज्ञाता मात्र हूँ।

आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों में रहकर शरीर प्रमाण संकोच-विस्तार स्वयं के कारण करता है। जो जीव वस्तु के ऐसे यथार्थ स्वतंत्र स्वरूप को नहीं जानता /मानता और तत्त्वज्ञान का विरोध करता है वह क्रम से निगोद दशा को प्राप्त होता है। तथा ‘मैं पूर्ण ज्ञानानन्द हूँ’, ऐसे आत्मा के भान सहित ज्ञानस्वभाव की उग्र आराधना करने वाले को केवलज्ञान एवं सिद्धदशा प्रगट होती है। वहाँ आत्मा के प्रदेश अन्तिम देह प्रमाण ही रहते हैं।”

उपर्युक्त कथन से गुरुदेव श्री यह कहना चाहते हैं कि आत्मा स्वभाव से तो अपने अनन्तगुण-पर्यायों सहित विद्यमान रहता हुआ असंख्य प्रदेशी ही है; परन्तु संसार अवस्था में स्वदेह प्रमाण घटता-बढ़ता है।

यदि लब्धिअपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोद की पर्याय में जन्म लेता है तो आत्मा के प्रदेश उसी शरीर के आकार में संकुचित हो जाते हैं और महामत्स्य के की पर्याय में जाता है तो वे आत्मप्रदेश महामत्स्य के आकार में बदल जाते हैं। यहाँ तक ही नहीं, जब केवली समुद्घात करता है तो इस जीव के ही असंख्य प्रदेश तीनों लोक प्रमाण दण्डाकार, कपाट, प्रतर एवं लोकपूर्ण भी हो जाते हैं तथा सिद्धावस्था में अन्तिम देह प्रमाण सदाकाल रहता है।१”

इसप्रकार इस गाथा का सारांश यह है कि निश्चय से आत्मा असंख्यात प्रदेशी लोक प्रमाण होता है तथा व्यवहारनय देह प्रमाण होता है। एतदर्थ उफनते दूध का उदाहरण देकर समझाया है कि दूध के अनुसार ही पद्मरागमणि की प्रभा घटती बढ़ती रहती है। ●

## गाथा-३४

पिछली गाथा में आत्मा को संसार अवस्था में प्रदेशत्व गुण के संकोच-विस्तार स्वभाव के कारण स्वदेह प्रमाण सिद्ध किया है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह आत्मा व शरीर एक क्षेत्रावगाही होकर भी एक रूप नहीं होता। मूलगाथा इसप्रकार है।

**सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्ककाय एक्कट्टी।**

**अज्झवसाणविसिद्धो चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं ॥३४॥**

(हरिगीत)

दूध-जल वत एक जिय-तन फिर् भी कभी नहीं एक हों।

अध्यवसान विभाव से जिय मलिन हो जग में भ्रमें ॥३४॥

यद्यपि आत्मा देह के साथ दूध-पानी की भाँति एक-मेक होकर रहता है; तथापि एकरूप कभी नहीं होता। अपने विभावस्वभाव के कारण अध्यवसान विशिष्ट वर्तता हुआ कर्मरूप रज से मलिन होने से संसार में भ्रमण करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह यहाँ जीव का देह से देहान्तर में अर्थात् एक शरीर से अन्य शरीर में अस्तित्व, देह से पृथक्त्व तथा देहान्तर में गमन के कारणों का निर्देश किया है।

आत्मा संसार अवस्था में क्रमवर्ती अछिन्न (अटूट) शरीर प्रवाह में जिसप्रकार एक शरीर में वर्तता है; उसीप्रकार क्रम से अन्य शरीरों में भी वर्तता है। इसप्रकार उसका सर्वत्र (सर्व शरीरों में) अस्तित्व है और किसी एक शरीर में एक साथ एक क्षेत्रावगाही रहने पर भी भिन्न स्वभाव के कारण उसके साथ एकरूप नहीं होता। पानी में दूध की भाँति एक-मेक होकर भी पृथक् रहता है। इसप्रकार उसके देह से पृथक्पना है। तथा अनादिबंधरूप उपाधि से परिवर्तन पाने वाले विविध अध्यवसायों से विशिष्ट राग-द्वेष-मोहमय होने के कारण तथा उन अध्यवसानों के निमित्त से आस्रवित कर्मसमूह से मलिन होने के कारण संसार में भ्रमण

करते हुए आत्मा को अन्य-अन्य शरीरों में प्रवेश होता है। इसप्रकार उसे देहान्तर में गमन होने का कारण कहा गया है।

आचार्य जयसेन की टीका में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि वही जीव सर्वत्र है, चार्वाकमत की भाँति जीव नया उत्पन्न नहीं होता। हाँ, अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से एकमेक भी है।

यहाँ जो आत्मा को शरीर से भिन्न अनन्तज्ञानादि गुणमय शुद्धात्मा कहा है वह शुभाशुभ संकल्प-विकल्प के परिहारकाल में सर्वप्रकार से उपादेय हैं; यह बताया है।

कवि हीरानन्द ने उक्त कथन को निम्न प्रकार व्यक्त किया है ह

(दोहा)

जीव अस्ति सर्वत्र है, नहीं इक देहमिलाप।

अध्यवसान विसिष्ट है, रजमल-मलिन-प्रताप ॥१८९॥

(सवैया इकतीसा)

संसारी अवस्था माहिं क्रमबरती सरीर,

तातैं जीव देहधारी नाना देह धरै है।

खीर-नीर एक जैसे जीव देह एक दिखै,

भिन्नता सुभाव तातैं एकता न करै है।

पूरब दरब-करम-उदैमैं नवा भाव,

तातैं दर्बकर्म नवा नानारूप वरै है।

ताव दर्बकर्मउदै देह नानारूप सधै,

तातैं देह भिन्न जानि ग्यानी जीव तरै है ॥१९०॥

जीव और शरीर मिले होने पर भी अमिल हैं; किन्तु जीव अपने विभाव स्वभाव के कारण अध्यवसान रूप से वर्तता हुआ कर्मरूप मल से मलिन होने से संसार में भ्रमण करता है।

संसारी अवस्था में देहधारी जीव एकमेक होकर भी द्रव्य कर्म के उदयवश नाना रूप धारण करने के कारण भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञानी ऐसा जानते हैं, इसकारण वे संसार से तर जाते हैं।



गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि हूँ “शरीर धारण करने की परम्परा में वही का वही संसारी जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, नया जीव उत्पन्न नहीं होता। हाँ, संसार अवस्था में उसकी अनेक पर्यायें होती हैं। एक समय में दो पर्यायें नहीं होती।

अपने-अपने स्वरूप से आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।

विकारीपर्यायें भी स्वयं के कारण से विकारी हैं। द्रव्य-गुण तो स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध ही है हूँ इसप्रकार पर्याय और द्रव्य का ज्ञान होने पर प्रमाणज्ञान होता है और अपने द्रव्यसन्मुख झुकने से सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा देह से भिन्न होने पर भी अलग-अलग शरीरों में जाने की चेष्टा क्यों करता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि हूँ शरीर के साथ एकत्व बुद्धि संसार का कारण है। ‘शरीर हो तो धर्म होता है, मैं हूँ तो शरीर चलता है। कर्म, शरीर, स्त्री, परिवार मेरे हैं’ हूँ इसप्रकार जीव अन्य पुद्गलों और जीवों में ‘मैं’ पना मानकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम करके ज्ञानावरणादि कर्म बाँधकर संसार में परिभ्रमण करता है।

‘विकार मेरी पर्याय में होता है और वह एकसमय मात्र का है। द्रव्य-गुण त्रिकाली शुद्ध हैं, उनमें विकार नहीं है। विकार पर्याय का धर्म है, त्रिकाली द्रव्य का धर्म नहीं है।’ हूँ इसप्रकार त्रिकाली शुद्धस्वभाव की अस्ति स्वीकार करने से - (गुणगुणी में एकत्वबुद्धि करने से) पर से भेदज्ञान होता है और क्रमशः संसार का अभाव होता है।

जीव स्वयं जो ज्ञान करता है या इच्छा करता है, वह अपने में ही करता है। इच्छा एकसमय की है और ज्ञानस्वभाव त्रिकाली है और त्रिकाली स्वभाव में इच्छा नहीं है।’ इसप्रकार त्रिकाली का और एकसमय की पर्याय का यथार्थ भेदज्ञान करे तो पर से भेदज्ञान होकर, विकार से भिन्न पड़कर त्रिकाली द्रव्य में स्थिर होवे। और हूँ वही वास्तविक धर्म है।”

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा है कि आत्मा और देह यद्यपि दूध-पानी की भाँति एक क्षेत्रावगाह ही हैं; तथापि भिन्न-भिन्न हैं। और अपने अज्ञानरूप अध्यवसान के कारण संसार में परिभ्रमण करते हैं। ●

## गाथा-३५

पिछली गाथा में कहा गया है कि हूँ यद्यपि आत्मा और देह संसार अवस्था में दूध और पानी की भाँति एक क्षेत्रावगाही हैं; तथापि स्वभाव से दोनों एक नहीं हैं।

प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि हूँ जिनके प्राण धारण रूप जीवत्व नहीं है और सर्वथा जीवत्व का अभाव भी नहीं है हूँ सिद्ध जीवों का ऐसा स्वभाव है। मूलगाथा इसप्रकार है हूँ

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स ।  
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥३५॥

(हरिगीत)

जीवित नहीं जड़ प्राण से, पर चेतना से जीव हैं।

जो वचन गोचर हैं नहीं, वे देह विरहित सिद्ध हैं ॥३५॥

सिद्धजीवों के दसों अचेतन द्रव्य प्राणों का अभाव हो जाने से उनके द्रव्यप्राण नहीं हैं तथा ज्ञान-दर्शनरूप चेतन प्राण होने से जीवत्व का सर्वथा अभाव नहीं है। वे सिद्ध भगवान देहरहित वचन अगोचर अनंत महिमावंत हैं।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि यह सिद्धों के जीवत्व और देहप्रमाणत्व की व्यवस्था है।

सिद्धों को वास्तव में द्रव्यप्राण के धारण स्वरूप जीवस्वभाव नहीं हैं; किन्तु उन्हें जीवत्व भाव का सर्वथा अभाव भी नहीं है; क्योंकि भावप्राण के धारण स्वरूप जीवस्वभाव का मुख्यरूप से सद्भाव है और उन्हें शरीर के साथ नीर-क्षीर की भाँति एकरूप वृत्ति नहीं है; क्योंकि शरीर संयोग के

हेतुभूत कषाय और योग का वियोग हुआ है, इसलिए वे अन्तिम शरीरप्रमाण अवगाहरूप परिणत होने पर भी अत्यन्त देहरहित हैं। ऐसे सिद्ध भगवन्त वचनगोचरातीत महिमावंत हैं; क्योंकि लौकिक द्रव्यप्राण के धारण बिना और शरीर के संबंध बिना अपने निरुपाधि स्वरूप से सतत् प्रतापवंत हैं।

क्षणिक मतानुयायी बौद्धमती की शंका का समाधान करते हुए जयसेनाचार्य कहते हैं कि सिद्धदशा में जीव का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है; क्योंकि सिद्ध शुद्ध सत्ता सहित चैतन्य ज्ञानादिरूप शुद्ध भावप्राण सहित हैं, इसकारण सिद्धावस्था में जीव का सर्वथा अभाव नहीं है। वे द्रव्य एवं भावेन्द्रिय आदि भावप्राणों से रहित होने पर भी चैतन्य प्राणों से प्रतापवान हैं।

कवि हीरानंदजी कहते हैं कि द्रव्यप्राणों के बिना भी ज्ञानादि चैतन्य प्राणों से सिद्ध भगवन्तों का अस्तित्व है। वे अनन्त सुखी हैं।

( दोहा )

जिनकै जीव सुभाव हैं, नहिं अभाव कहि होइ ।  
भिन्न दैहतैं सिद्ध हैं, कहि करि सकै न कोइ ॥१९२॥

( सवैया )

सत्ता-सुख-ग्यान-दृष्टि चारों सुद्ध भाव-प्राण,  
सिद्ध सदैव यातैं जीवता सुहाई है ॥  
कारन कषाय-जोग सिद्धविषैं नास तातैं,  
देहसौं अतीत देहगाहना रहाई है ॥  
लोक-प्राण देह नहीं सुद्ध-प्राण गाह माहीं,  
निरुपाधिरूप सोई प्रभुता दिखाई है ॥  
महिमा अनंत ताकी वचनकै अंत थाकी,  
भाव-श्रुत-सार जाकी रचना बनाई है ॥१९३॥

उपर्युक्त छन्दों में कवि कहते हैं कि सिद्धों के अनादि का वह ज्ञायक जीवस्वभाव है, जिसका कभी अन्त नहीं होता। वे देह और विभाव

भावों से भिन्न हैं तथा उनकी महिमा का कथन वचनातीत है।

सिद्धजीवों के दर्शनज्ञान, सुख और सत्ता ह चारों ही भाव प्राण होने से वे सदैव जीवित हैं। यद्यपि उनके पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु व श्वाच्छोस्वासरूप दस प्राण नहीं हैं, पर उनके उक्त चैतन्य प्राण हैं।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कानजी स्वामी कहते हैं कि इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने सिद्धजीवों का स्वभाव तथा उन्हें अन्तिम देह से किंचित् न्यून कहा है। वे कहते हैं कि सिद्ध भगवन्तों को परमानन्ददशा का अनुभव होता है। यद्यपि उनको पाँच इन्द्रियाँ मन-वचन-काय श्वांस और आयु ह ऐसे दस प्राण नहीं होते, तथापि उनके सत्ता, सुख, चैतन्य और ज्ञानरूप प्राण होते हैं। वे इनके कारण सिद्धदशा प्राप्त होने के बाद सदा से जीवित हैं और अनन्तकाल जीवित रहेंगे।

आगे कहा कि जैसे निगोद के जीव जीवास्तिकाय हैं, वैसे ही सिद्ध भी जीवास्तिकाय हैं। भले पर्याय में अन्तर है; परन्तु जीवास्तिकाय वैसे ही है, उसमें कोई अन्तर नहीं हुआ।

सिद्धान्त में दो तरह के प्राण कहे ह एक निश्चय और दूसरे व्यवहार। उनमें शुद्ध सत्ता, शुद्ध सुख, चैतन्य और ज्ञान में ये निश्चय प्राण हैं तथा इन्द्रियादि एवं बल इत्यादि व्यवहार प्राण हैं। इसकारण सिद्धों को कथंचित् प्राण है और कथंचित् नहीं है ह ऐसा अनेकान्त समझना। उनके निश्चय प्राण है और व्यवहार प्राण नहीं है।<sup>१</sup>

इसप्रकार इस गाथा में सिद्ध के स्वरूप और उनकी महिमा बताई है।

( 78 )

## गाथा-३६

विगत गाथा में सिद्ध भगवान के स्वरूप का कथन किया गया है। अब इस गाथा में कहते हैं कि वे सिद्ध भगवान न तो किसी अन्य के कार्य हैं और न अन्य के कारण हैं। मूलगाथा इसप्रकार है ह

ण कुदोचि वि उप्पण्णो तम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो ।  
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ॥३६॥

(हरिगीत)

अन्य से उत्पाद नहीं इसलिए सिद्ध न कार्य हैं।

होते नहीं हैं कार्य उनसे अतः कारण भी नहीं ॥३६॥

वे सिद्ध भगवान किसी अन्यकारण से उत्पन्न नहीं होते; इसलिए किसी के कार्य नहीं हैं और किसी अन्य कार्य को उत्पन्न नहीं करते; इसलिए किसी अन्य के कारण भी नहीं हैं।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि “सिद्धों में परद्रव्य के कारण व कार्यपना नहीं है; क्योंकि उनके द्रव्यकर्मों व भावकर्मों का क्षय हो चुका है। जिसप्रकार संसारी जीव भावकर्मरूप आत्मपरिणाम संतति के कारण और द्रव्यकर्मरूप पुद्गल परिणाम संतति के कारण देव-मनुष्य-तिर्यच और नारक के रूप में उत्पन्न होता है, वही जीव वैसे सिद्धरूप में उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि उसके दोनों कर्मों का अभाव हो गया है।”

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह

( सवैया )

जैसैंकै भाव-दरव-कर्म परिनामनितैं,

देव-नर-नारकादि काजरूप होई हैं ।

जैसैं देव आदि नाना कारज करत जीव,

कारन-सरूप तातैं एकरूप सोई है ॥

तैसैं सिद्ध-जीव दोऊ करम विनासकरि,

आपरूप आप भया दूजा नहिं कोई है ।

उपजै न नवा किछू नवा उपजावै नाहिं,

जैसा रूप तैसा लसै सिद्धभाव जोई है ॥१९६॥

( दोहा )

कारन-काज-विभाव विधि, संसारी महिं साध ।

सिद्धविषैं यहू विधि नहीं, केवलग्यान अबाध ॥१९८॥

जिस तरह संसारी जीव कर्मों के निमित्त से देव आदि गतियों में नाना रूप से परिणमते हैं; वैसे सिद्ध गति में नहीं परिणमते; क्योंकि उनके घाती-अघाती दोनों प्रकार के कर्मों का अभाव हो गया है। सिद्ध अवस्था में जीव अपने स्वभाव में रहता है।

कारण कार्य विभाव संसारी जीवों में होता है, सिद्धावस्था में अबाधरूप से केवलज्ञान है, अन्य कुछ नहीं।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। संसारी जीवों को कर्म-नोकर्म कारण होते हैं; किन्तु वैसा कार्य-कारणभाव सिद्धों को नहीं होता। सिद्धदशा कर्म के अभाव से नहीं होती, अपने पुरुषार्थ से होती है। सिद्धदशा होने में कर्म तथा नोकर्म निमित्त के रूप में भी नहीं है। यदि कर्मों के अभाव के कारण सिद्ध हुए हूँ ऐसा माने तो सिद्ध तो सादि-अनन्त काल तक टिकते हैं, वहाँ जो अनन्तकाल तक उस सिद्धदशारूप परिणमित होते हैं, उस परिणामन में कारण किसे कहोगे ?

देखो ! सिद्धपद बाह्य कारण का कार्य नहीं है; किन्तु द्रव्यस्वभाव त्रिकाल चिदानन्द कारणपरमात्मा है, उसका कार्य सिद्धपद है।

संसारी जीव भी अपनी भूल से ही अज्ञान-राग-द्वेष करता है और उसका कार्य चार गति है, द्रव्यकर्म-भावकर्म तो उमसैं निमित्तमात्र हैं, किन्तु ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी संसारदशा में है, सिद्धदशा में तो ऐसा कोई निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी नहीं है।

संसारदशा में भी ऐसा नहीं होता कि पहले निमित्तरूप कर्म हो और बाद में नैमित्तिक रागादि, यहाँ भी दोनों का काल एक है। एक समय का स्वतंत्र स्वयंसिद्ध सुमेल है।

संसारी जीव अनादिकाल से पुद्गल कर्म के कारण से मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमित होता है, ऐसा कथन भी निमित्त सापेक्ष है। वस्तुतः तो वह भी स्वयं के विपरीत पुरुषार्थ से ही है, कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी संसारदशा में है, सिद्धों में नहीं।

जीव में कर्म से विकार होना माननेवाला मिथ्यादृष्टि है; मिथ्यात्व, अत्रत, प्रमाद, कषाय और योग का कंपन स्वयंसिद्ध अपने से ही होते हैं।

निश्चय से शरीर की रचना शरीर के परमाणुओं के कारण होती है और रागी जीव का राग व्यवहार से पर के कारण होता है। यह बात व्यवहार से पर्याय अपेक्षा कही है; परन्तु इससे कोई परस्पर पराधीनता मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि है।

यदि कोई कहे कि ह्व निमित्त के बिना विकार होता हो तो वह विकार स्वभाव हो जाए; उससे कहते हैं कि ह्व जीव में उस समय स्वयमेव विकारभाव से परिणमन करने की योग्यता है; इसलिए विकार होता है और उससमय सामने द्रव्यकर्म भी निमित्तरूप होता ही है।

जिनको परमानंद भूतार्थ स्वभाव का पूर्ण आश्रय है ह्व ऐसे सिद्धभगवान अपने परिपूर्ण परमानंद को उत्पन्न करते हैं। वे किसी काल में संसारभाव को उत्पन्न नहीं करते।<sup>१</sup>”

इसप्रकार यह सिद्ध है कि जिसप्रकार संसारावस्था में कर्मों के निमित्त से जीवों के देवादि गतियाँ होती है, वैसे सिद्धावस्था में कर्मों की निमित्तता नहीं होती। सिद्धावस्था कर्मों के अभाव के कारण नहीं; बल्कि अपने स्वयं के पुरुषार्थ से होती है। ●

१. श्री सद्गुरु प्रसाद प्रवचन प्रसाद नं. १३०, पृष्ठ १०२७, दिनांक १-३-५२

### गाथा-३७

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व सिद्ध भगवान किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होते। अतः किसी के कार्य नहीं हैं और वे किसी अन्य को उत्पन्न नहीं करते, इसलिए वे किसी के कारण भी नहीं हैं। सिद्ध भगवान केवल अपने परिपूर्ण आनन्द को ही उत्पन्न करते हैं।

अब सिद्धावस्था में जीव का सद्भाव दिखाते हैं।

**सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च ।**

**विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सबभावे ॥३७॥**

(हरिगीत)

सद्भाव हो न मुक्ति में तो ध्रुव-अध्रुवता न घटे।

विज्ञान का सद्भाव अर अज्ञान असत् कैसे बने? ॥३७॥

यदि मोक्ष में जीव का सद्भाव न हो तो जीव की ध्रुवता व अध्रुवता ही घटित नहीं होगी तथा विज्ञान व अविज्ञान आदि कुछ भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी तथा भव्य-अभव्यपने का व्यवहार भी संभव नहीं होगा; इसलिए यह सिद्ध है कि मोक्ष में जीव का सद्भाव है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने टीका में यह कहा है कि ह्व जो व्यक्ति जीव के अभाव को मुक्ति कहते हैं, उनकी मान्यता मिथ्या है।

वास्तविकता यह है कि प्रथम तो भगवान आत्मा द्रव्यरूप से त्रिकाल शाश्वत है, मुक्ति में भी उसका सद्भाव है।

दूसरे, शाश्वत-नित्य द्रव्य में प्रतिसमय पर्याय पलटती है। एक पर्याय नष्ट होती है, दूसरी उत्पन्न होती है। द्रव्य रूप से वस्तु दोनों अवस्थाओं में वही रहती है।

तीसरी बात यह है कि ह्व द्रव्य सर्वदा अभूत पर्यायोंरूप से भाव्य है, होने योग्य है।

चौथी बात यह है कि ह्रद्रव्य सर्वदा भूतपर्यायपने अभाव्य है अर्थात् न होने योग्य है।

पाँचवीं बात यह है कि ह्रद्रव्य अन्य द्रव्यों से सदा शून्य है अर्थात् एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का सर्वथा अभाव है।

छठवीं बात यह है कि ह्रद्रव्य स्वद्रव्य से सदा अशून्य है।

सातवीं बात यह है कि किसी द्रव्य में अनन्त ज्ञान है और किसी में सान्त ज्ञान है।

आठवीं बात यह है कि किसी में अनन्त अज्ञान और किसी में सान्त अज्ञान है।

यह सब अन्यथा घटित न होने से मोक्ष में जीव में उक्त सभी बातों के सद्भाव को प्रगट करता है।

आचार्य जयसेन इसी गाथा की टीका करते हुए कहते हैं कि ह्रद्रव्य सिद्ध अवस्था में जीव टंकोत्कीर्ण ज्ञायकरूप द्रव्य की अपेक्षा अविनश्वर होने से शाश्वत स्वरूप है तथा पर्यायरूप से अगुरुलघुकगुण की षट्स्थानगत हानि-वृद्धि की अपेक्षा उच्छेद रूप है। निर्विकार चिदानन्द एक स्वभावमय परिणाम से होना-परिणमना भव्यत्व है। अतीत (नष्ट) हो गये मिथ्यात्व-रागादि विभाव परिणाम से नहीं होना परिणमना अभव्यत्व है। स्व-शुद्धात्म द्रव्य से विलक्षण पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप परचतुष्टय से नास्तित्व है, शून्य है। निज परमात्मा संबंधी स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल भावरूप से इतर अर्थात् अशून्य है। समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में प्रकाशित करने में समर्थ सकल-विमल केवलज्ञान से विज्ञानरूप है, नष्ट हुए मतिज्ञानादि छद्मस्थ ज्ञान द्वारा परिज्ञान रहित हो जाने के कारण अविज्ञानरूप है।

मोक्ष में जीव का सद्भाव न मानने पर नित्यत्व आदि आठ गुण-स्वभाव घटित नहीं हो सकते हैं, जबकि अस्तित्व से ही मोक्ष में जीव का सद्भाव जाना जाता है।

इसप्रकार भट्ट और चार्वाक मतानुसारी शिष्य के संदेह का नाश करने के लिए जीव के अभूतत्व स्वभाव को बताया है।

इसी भाव को कवि हीरानन्दजी इसप्रकार कहते हैं ह्र  
( सवैया इकतीसा )

दरव निजरूपतैं सासुता सदीव लसै,

परजै अनेक प्रतिसमै समै छेदिए।

सदा भूत परजैसों भाव्य नाम पावै सदा,

परजै अभूतसों अभाव्य नाम वेदिए॥

परकै सरूप सुन्न अपने असुन्न जीव,

कहूँ है अनन्तग्यान कहूँ सांत देखिए।

कहूँ स्वल्प अनल्प कहूँ सान्त औ अजान कहूँ,

ऐसा सब भेद एक जीव सत्ता भेदिए॥२००॥

द्रव्य निज स्वरूप से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से सदैव शाश्वत शोभायमान होता है तथा पर्याय दृष्टि से प्रतिसमय नष्ट एवं उत्पन्न होता है। होनेवाली पर्याय की अपेक्षा उसे भव्य एवं न होनेवाली पर्यायों की अपेक्षा उसे अभव्य कहते हैं। पर में स्व की नास्ति की अपेक्षा शून्य और अपने स्वरूप में वही जीव अशून्य है। जीव किसी अपेक्षा अनन्त ज्ञानवान है और किसी अपेक्षा सान्त है। किसी अपेक्षा अल्प और किसी अपेक्षा अनल्प है। किसी अपेक्षा भव्य और किसी अपेक्षा अभव्य है। जीव की सत्ता में यह सब भेद और अभेद हैं।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्र “इस गाथा में मुक्तावस्था में जीव का सर्वथा अभाव माननेवाले अनित्य एकान्त पक्ष के धारक बौद्धमतानुयायी जीवों को समझाने के लिए कहा है कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जिस जीव ने उत्कृष्ट पुरुषार्थ करके मुक्तदशा प्रगट की हो और उसकी भिन्न सत्ता का सर्वथा अभाव हो जाये ह्र ऐसा नहीं हो सकता।



आत्मा का अविनाशी स्वभाव है, संसार अवस्था में आत्मा की पर्याय अशुद्धतारूप में पलटती है और मोक्ष होने पर शुद्धता रूप से पलटती है, द्रव्य का नाश नहीं होता। जैसे सुवर्ण शुद्ध होता है, वैसे ही जीव द्रव्यरूप से कायम रहकर अशुद्ध अवस्था से मुक्त होता है और परमानन्दमय अनन्तकालतक ज्ञान-आनन्दरूप रहता है।”<sup>१</sup>

बौद्धमत के अनुसार ह्य यदि मोक्ष में जीवद्रव्य का ही अभाव हो जाता है तो संसार में प्रतिसमय पर्याय का नाश होने पर भी जीव का नाश क्यों नहीं होता? अतः यह स्पष्ट है कि ह्य वहाँ मोक्ष में भी मात्र प्रतिसमय पर्याय ही बदलती है, द्रव्य तो त्रिकाल रहता है। यदि मोक्ष में जीव नित्य नहीं तो अनित्य पर्याय धर्म किसका ? मुक्तदशा में केवलज्ञान पर्याय भी अनित्य है ह्य इसप्रकार सिद्ध में भी द्रव्य अपेक्षा से अविनाशीपना और पर्याय अपेक्षा से विनाशीपना है।

यहाँ भव्यभाव का आशय यह है कि परमानन्ददशा का नयी-नयी अवस्थारूप होना भव्यभाव है। केवलज्ञान, केवलदर्शन अनन्तसुख, अनन्तवीर्य जो नयी-नयी अवस्था में होते हैं, यह भव्यभाव है। सिद्धदशा में आत्मा नहीं हो तो भव्यभाव नहीं हो सकता और भव्यभाव के अभाव में सिद्ध आत्मा नहीं हो सकते।

जो यह कहा जाता है कि अभव्यजीव मोक्ष के योग्य नहीं, उस जीव की बात यहाँ नहीं है, यहाँ तो शुद्धात्मा का भान करके, परमानन्ददशा प्रगट करने से विकार व मलिनता के न होने को अभव्य भाव कहा है।

यदि सिद्ध होनेवाले जीवों में आत्मा नहीं रहता तो भव्य-अभव्य भाव किसमें रहेंगे ? मुक्ति किसकी होगी? इसलिये निश्चित है कि वहाँ आत्मा कायम रहता है और इस अपेक्षा उन सिद्धों को ये दोनों ह्य भव्यभाव और अभव्यभाव होते हैं। ●

## गाथा-३८

पिछली गाथा में यह सिद्ध किया है कि मुक्ति में जीव का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता। वहाँ जीव का अस्तित्व सादि-अनन्त काल तक (सदैव) रहता है। मुक्ति में जीव का सर्वथा अभाव माननेवालों की मान्यता यथार्थ नहीं है।

अब इस गाथा में विविध चेतन भावों की चर्चा करते हैं।

मूलगाथा इसप्रकार है ह्य

**कम्माणं फलमेवको एक्को कजं तु णाणमथ एक्को ।**

**चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण ॥३८॥**

(हरिगीत)

कोई वेदे कर्म फल को, कोई वेदे करम को।

कोई वेदे ज्ञान को निज त्रिविध चेतकभाव से ॥३८॥

एक जीव राशि विविध चेतक भावों द्वारा कर्मों के फल को वेदती है। दूसरी प्रकार की जीव राशि कार्य (कर्म) को वेदती है तथा तीसरी प्रकार की जीवराशि ज्ञान को चेतती है, वेदती है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि “यहाँ आत्मा के चेतयितृत्व गुण की व्याख्या है।

वे कहते हैं कि ह्य एक चेतयिता (स्थावर) तो ऐसे हैं जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन हैं और उनका प्रभाव अति प्रकृष्ट ज्ञानावरण कर्म से ढक (मुंद) गया है, वे अपने उस मुद्रित चेतकस्वभाव द्वारा सुख-दुखरूप कर्मफल को ही प्रधानता से भोगते हैं, चेतते हैं; क्योंकि उनका अति प्रकृष्ट वीर्यान्तराय कर्म के उदय से कार्य करने का सामर्थ्य नष्ट हो गया है।

दूसरे प्रकार के चेतयिता (त्रस) वे हैं, जो अतिप्रकृष्ट मोह से मलिन हैं और जिनका प्रभाव प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुंद गया है ह्य ऐसे चेतकस्वभाव द्वारा अल्प वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से मिश्रितपने सुख-दुखरूप कर्मफल

के अनुभव के साथ कार्य (कर्म) करने की प्रधानता से ही चेतते हैं, वे कर्मचेतनावाले हैं। इन्हें अल्प वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से इष्टानिष्ट विकल्परूप कर्म करने की सामर्थ्य प्राप्त हुई है।

**तीसरे प्रकार के चेतयिता** सम्यक्दृष्टि चौथे गुणस्थान से छद्मावस्था में ज्ञान चेतना की मुख्यता रहती है तथा अरहंत-सिद्ध आत्मा वे हैं, जिनमें से सकल मोह कलंक धुल गया है तथा समस्त ज्ञानावरण के विनाश के कारण जिसका समस्त प्रभाव अत्यन्त विकसित हो गया है वह ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा मात्र उस ज्ञान को ही चेतते हैं जो कि अपने से अभिन्न स्वाभाविक सुखवाला है; क्योंकि उन्होंने समस्त वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्त वीर्य को प्राप्त किया है, इसकारण उनको विकारी सुख-दुखरूप कर्मफल निर्जरित हो गया है। वे कृतकृत्य हो गये हैं।”

यद्यपि उन्हें अनन्त वीर्य प्रगट हुआ है; परन्तु सम्पूर्ण विकार और अल्पज्ञान नष्ट हो जाने से वीर्य कर्मचेतना व कर्मफलचेतना को नहीं रचता।

आचार्य जयसेन टीका में कहते हैं कि **एक जीवराशि** तो निर्मल शुद्धात्मानुभूति के अभाव से उपार्जित प्रकृष्ट मोह से मलीमस चेतकभाव द्वारा प्रच्छादित सामर्थ्यवाली होती हुई स्व-सामर्थ्य को प्रगट नहीं करती, अतः मात्र कर्मफल का ही वेदन करती है।

**दूसरी जीव राशि** चेतकभाव से सामर्थ्य प्रगट हो जाने के कारण इच्छा पूर्वक इष्टानिष्ट विकल्परूप कर्म का वेदन करती है।

**तीसरी जीवराशि** उसी चेतकभाव से विरुद्ध आत्मानुभूति की भावना द्वारा कर्मकलंक को सर्वथा नष्ट कर देने के कारण केवलज्ञान द्वारा कर्मफल, कर्म तथा ज्ञानचेतना का सम्पूर्ण पदार्थों का वीतराग भाव से भेदाभेदरूप अनुभव करती है।

इस गाथा के एवं उक्त दोनों आचार्यों की टीकाओं के भाव को ग्रहण करते हुए कविवर हीरानंदजी कहते हैं कि वह

( दोहा )

एक करमफल अनुभवै, एक करम इक ग्यान।

जीवरासि चेतक लसै, त्रिविध चेतना जान ॥२०३॥

( सवैया इकतीसा )

मोहसौं मलीन जीव छादित है ग्यानभाव,

दुःख-सुखरूप कर्म-फलभोगी है।

दुख-सुख-लहरी में राग-द्वेष-मोह बसै,

ग्यानावरनादि नाना कर्म का नियोगी है ॥

मोहमूल दूर भयौ कर्म सर्व नासि गयौ,

सुद्ध-चेतना-विलास ग्यान उपयोगी है।

कर्म-मल-कर्मरूप चेतना असुद्ध हेय,

उपादेय सुद्ध-ग्यान चेतनानुजोगी है ॥२०४॥

एक इन्द्रिय स्थावर जीव राशि तो ऐसी है जो मात्र कर्म फल को भोगती है। दूसरी त्रस जीव राशि ऐसी है जो कर्म करूँ कर्म करूँ वह ऐसे कर्तृत्व में ही अटकी रहती है। तीसरी ज्ञान चेतना वाली जीव राशि है। जो ज्ञान स्वभाव का ही अनुभव करती है।

उक्त गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कहते हैं कि “जीव असंख्यात प्रदेशी होने पर भी उसकी पर्याय में अन्तर पड़ता है; परन्तु वह अन्तर किसी पर के कारण नहीं, वह भी अपने अस्तिकाय का ही स्वरूप है।

एक एकेन्द्रिय जीवराशि तो मात्र कर्मों के निमित्त से सुख-दुखरूप फल को ही वेदती है। ये जीव अनन्त हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि जीव। आलू-शकरकन्द आदि कन्दमूल के जीव हर्ष-शोक को वेदते हैं। आलू के एक छोटे से कण में असंख्य शरीर हैं और प्रत्येक शरीर में अनन्त आत्मायें हैं। जो नित्यनिगोद का जीव अभी तक व्यवहार राशि में नहीं आया, अनादिकाल से वहीं है, वह कर्म के कारण

वहाँ नहीं है, अपितु उसका वैसा ही पर्याय स्वभाव है। वहाँ कर्मफल चेतना प्रधान है।

लट, चींटी, मनुष्य, देव, नारकी आदि जीवों में कर्तापने की प्रधानता है, कर्म तो निमित्तमात्र है; परन्तु अज्ञानी प्राणी पर के कर्तृत्व की मिथ्या भ्रान्ति करता है।

यदि ऐसा माना जाय कि जीव की पर्याय में राग-द्वेष, हर्ष-शोक हैं ही नहीं तो जीव का अस्तिकायपना ही उड़ जाता है। राग-द्वेष करें और हर्ष-शोक भोगें तो वे सब अपने में अपने कारण से ही होते हैं। ऐसा जीवास्तिकाय का ही पर्याय स्वरूप है ह्व इसप्रकार दृष्टि करके वे राग-द्वेष की पर्यायें आदरणीय नहीं हैं ह्व इसप्रकार उससे दृष्टि हटाकर अपने शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करना ही धर्म है।”

यहाँ गुरुदेवश्री विशेष बात यह कहते हैं कि वस्तुतः ‘पृथ्वीकाय आदि के स्थावर जीव अपने शरीर का, फावड़ा-शस्त्र-कुल्हाड़ी आदि संयोगों का अनुभव नहीं करते; क्योंकि वे जीव उक्त पर-वस्तुओं का तो स्पर्श ही नहीं करते। शास्त्रों में स्थावर जीवों के छेदन-भेदन आदि दुःखों का जो कथन है, वह तो निमित्त की अपेक्षा से है। वस्तुतः तो वे अपने ज्ञानस्वभाव को चूककर पर में या पर के कारण सुख हैं ह्व ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण हर्ष-विषाद का वेदन कर रहे हैं।

दूसरी त्रस जीवराशि ऐसी है कि वह पर के तथा राग के कर्तापनेरूप अभिमान सहित राग-द्वेष को भोगती है। उनके राग-द्वेष के कर्तृत्व की मुख्यता है। लट-चींटी, हाथी, मनुष्य, देव, नारकी आदि जीव स्वयं में राग करने रूप भाव करते हैं।

जीव में चेतना नामक त्रिकाली गुण है, उसकी पर्याय में या तो वह जागृत रहे या अजागृत रहे; परन्तु पर का वह कुछ नहीं कर सकता। एक

जीवराशि हर्ष-शोक की मुख्यता से अजागृत रहती है और दूसरी जीवराशि राग-द्वेष की मुख्यता से अजागृत रहती है।

अब तीसरी उस जीवराशि की बात करते हैं, जो शुद्धज्ञान का ही अनुभव करती है। वह केवली भगवन्तों की एवं सिद्ध जीवों की राशि है।

यद्यपि चौथे गुणस्थान में धर्मी जीवों को आत्मा का भान है। ‘मैं शुद्ध चिदानन्दस्वरूप हूँ, शरीरादि का करना मेरा कार्य नहीं है, राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है।’ ऐसा भान होने से वहाँ ज्ञान चेतना की शुरूआत हो जाती है, तथापि अभी वहाँ साधक को अस्थिरताजन्य राग-द्वेष होते हैं, इसकारण उसकी ज्ञानचेतना को गौण करके जिनको पूर्ण ज्ञानचेतना प्रगट हुई है ह्व उन केवली और सिद्धों को यहाँ लिया गया है। इसप्रकार केवली भगवान तथा सिद्ध भगवान अपने ज्ञान का अनुभव करते हैं। स्वर्ग-नर्क को जानते हैं तो भी उनको राग-द्वेष अथवा हर्ष-शोक नहीं होता। इसप्रकार चेतना के तीन प्रकार कहे इसके अतिरिक्त कोई अन्य काम करना जीव की सामर्थ्य में नहीं है।

यह पंचास्तिकाय ग्रन्थ है। इसमें प्रत्येक अस्तिकाय की स्वतंत्रता का ज्ञान करने का प्रयोजन है। जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय से सर्वथा भिन्न स्वतंत्र है। यह ज्ञान करना है।

“हर्ष-शोक तथा राग-द्वेष चैतन्य की सत्ता में होते हैं, जड़ की सत्ता में या जड़ के कारण नहीं होते हैं। पर्याय में होनेवाले ये दोष जीव के हैं, परन्तु वे एक समय के हैं ह्व इसप्रकार का ज्ञान कराया है।

यहाँ पंचास्तिकाय में ज्ञानप्रधान कथन है। इस कथन के हेतु आत्मा को पर से पृथक् दर्शाकर यह कहा है कि ह्व राग-द्वेष जीव के शुद्ध द्रव्य में नहीं हैं। यहाँ कहा गया है कि एकेन्द्रिय जीव हर्ष-शोक का वेदन करता है और त्रस जीव राग-द्वेषरूप परिणाम करता है; परन्तु ये जीवों को अपने में

अपने कारण होते हैं, पर के कारण नहीं। राग-द्वेष चैतन्य की सत्ता में होते हैं।

अनेक जीव ऐसे हैं कि जिन्हें विशेषतः ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय है। उन्हें स्वयं को परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होना चाहिए, परन्तु उन्हें स्वयं के ज्ञान वरण आदि कर्म के उदय में अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण प्रगट नहीं हो रहा है। उसमें ज्ञानावरण कर्म का उदय तो कारण है ही, परन्तु वे तो निमित्तमात्र हैं। अपना दृष्टास्वभाव परिपूर्ण प्रगट नहीं करने में दर्शनावरण कर्म निमित्त है। अपना वीर्य स्फुरित नहीं करने में अन्तराय कर्म निमित्त है। अपने स्वरूप की असावधानी में मोहनीय कर्म निमित्त है। इन कर्मों के निमित्त से अपने ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुखादि हीनदशारूप अथवा विपरीतरूप परिणमित होते हैं।

यदि जीव यह जाने कि पर्याय में होनेवाले राग-द्वेष अथवा हर्ष-शोक मेरे मूल स्वभाव में नहीं है और शुद्ध चैतन्य की उपादेयरूप श्रद्धा करे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं।”

इसप्रकार इस गाथा में तीनप्रकार की चेतना की बात कहकर यह बताया है कि स्थावर एकेन्द्रिय जीवों के कर्मफल चेतना ही प्रधानरूप से रहती है और वे उस स्थिति में हर्ष-शोक का वेदन करते हैं तथा त्रस जीवों में कर्मचेतना की मुख्यता है, उन्हें इष्टानिष्टपने के वेदन से राग-द्वेष के परिणाम होते हैं तथा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के चौथे गुणस्थान से छद्मस्थावस्था में पर्यन्त भूमिकानुसार ज्ञानचेतना रहती है; परन्तु इस बात को गौण करके तीसरे भेद में अरहंत व सिद्धावस्था में पूर्णरूपेण ज्ञान चेतना होती है यह बात यहाँ दर्शाई है।

●

( 85 )

### गाथा-३९

विगत गाथा में कर्मफल चेतना, कर्मचेतना एवं ज्ञानचेतना के स्वरूप का कथन है, अब प्रस्तुत गाथा में उन चेतनाओं के स्वामी कौन-कौन है, यह कथन करते हैं। मूलगाथा इसप्रकार है ह

**सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं ।  
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ॥३९॥**  
(हरिगीत)

थावर कम्मफल भोगते, त्रस कम्मफल युत अनुभवे।

प्राणित्व से अतिक्रान्त जिन्वर वेदते हैं ज्ञान को ॥३९॥

सर्व स्थावर जीव समूह वास्तव में कर्मफल को वेदते हैं। त्रस वास्तव में कार्य सहित कर्मफल को वेदते हैं और जो प्राणों का अतिक्रम कर गये, वे केवलज्ञानी ज्ञान को ही वेदते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में यह कहते हैं कि कौन क्या चेतता है? ध्यान रहे, यहाँ ! चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है ह्वे सब कथन एकार्थवाचक हैं। स्थावर जीव कर्मफल को चेतते हैं, त्रस जीव कार्य (कर्म) को चेतते हैं और केवलज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं।

भावार्थ यह है कि पाँचप्रकार के स्थावर जीव अव्यक्त सुख-दुखानुभव रूप शुभाशुभ कर्मफल को चेतते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रस जीव उसी कर्मफल को इच्छापूर्वक इष्टानिष्ट विकल्परूप कार्य सहित चेतते हैं तथा परिपूर्ण ज्ञानवन्त भगवन्त अनन्त सौख्य सहित ज्ञान को ही चेतते हैं।

आचार्य जयसेन कहते हैं कि - निर्मल, शुद्धात्मानुभूति के अभाव से उपार्जित प्रकृष्टतर मोह से मलीमस चेतकभाव द्वारा प्रच्छादित सामर्थ्यवाली होती हुई स्थावर जीव राशि कर्मफल का वेदन करती है। त्रस जीवराशि उसी चेतक भाव से सामर्थ्य प्रगट हो जाने के कारण

इच्छापूर्वक इष्ट-अनिष्ट विकल्परूप कार्य का वेदन करती है तथा तीसरी शुद्ध जीवराशि उसी चेतकभाव से विशुद्ध शुद्धात्मानुभूति की भावना द्वारा कर्मकलंक को नष्ट कर देने के कारण केवलज्ञान का अनुभव करती है।

कविवर हीराचंदजी इसी भाव को पद्य में कहते हैं ह  
( अडिल्ल )

सरव करमफल-मगन सु थावरकाय है ।

अवर करमफल-लगनि सु त्रस बहुभाय है ॥

दस प्राननिकरि रहित सिवालय सिद्ध हैं ।

ग्यानरूप अनुभवै सु चेतन रिद्ध है ॥

सम्पूर्ण स्थावर कायजीव कर्मफल भोगने में ही मगन हैं। असंख्यात त्रस जीव कर्म चेतना के धारक हैं तथा दस प्राणों से रहित अनन्त सिद्ध जीव तथा अरहंत केवली मात्र ज्ञान चेतना को धारण करते हैं।

गुरुदेवश्री ने इस पर प्रवचन करते हुये विशेष बात यह कही है कि ह तीन प्रकार के जीव तीन प्रकार की चेतना को धारण करते हैं ह

- अनंत एकेन्द्रिय जीव हर्ष-शोक को अर्थात् मुख्यरूप से कर्मफल चेतना को धारण करते हैं।
- असंख्यात त्रस जीव मुख्यता से राग-द्वेषरूप कर्मचेतना को धारण करते हैं।
- अनंत सिद्ध और अरहंत केवली मात्र ज्ञानचेतना को धारण करते हैं।

जीव जड़ की अवस्था नहीं कर सकता; क्योंकि राग के कारण जड़ की अवस्था नहीं होती। जड़ का होना जड़ में है और राग का होना आत्मा में है। पुद्गल अस्ति है और स्कंधरूप होना वह उसकी काय है। दान देने वाले ने शुभराग किया है; परन्तु रुपये-पैसे रूप पुद्गल में फेरफार करना लेन-देन की क्रिया करना ज्ञानी या अज्ञानी के अधिकार में नहीं है।

अज्ञानी जीव कहता है कि अपने को इतनी अधिक प्रवृत्ति नहीं करना है और इसप्रकार का शुभभाव भी नहीं करना कि जिससे आत्मा की प्रवृत्ति बाह्य में बढ़ जाए।

उससे कहते हैं कि जब तू बाहर की पर्याय में कुछ कर ही नहीं सकता तो वहाँ से तू निवृत्ति ले, यह कहने का प्रश्न भी नहीं उठता। पुद्गल परमाणुओं का अस्तिकायरूप होना या नहीं होना, वह उनके स्वयं के आधीन है, तेरे आधीन नहीं। किसी के कारण किसी का अस्तित्व टिके अथवा बदले हू ऐसा नहीं होता। जिसकाल में जो संयोग होना है उस काल में वे संयोग ही होंगे। उनको लाना या हटाना किसी के अधिकार की बात नहीं है; और जो राग जिस काल में होना है वह राग उस काल में होता ही है। दृष्टि राग पर है या ज्ञानस्वभाव पर है हू उससे धर्म-अधर्म का माप है। यदि स्वभाव पर दृष्टि करके ज्ञान करे तो धर्मी है और जिसकी दृष्टि संयोग तथा राग पर है वह अधर्मी है।

अज्ञानी पर में फेरफार करना चाहता है हू यह पर में फेरफार करने की वृत्ति ही भ्रान्ति है। पर का परिणमन पर के कारण होता है तथा राग स्वयं के कारण एकसमय मात्र का होता है हू ऐसा ज्ञान करके उसको हेय समझकर, त्रिकाली शुद्धस्वभाव को उपादेय मानना जीव के अधिकार की बात है। इसप्रकार निमित्त और पर्याय की दृष्टि बदलकर त्रिकाली स्वभाव की रुचि करना ही धर्म है।”

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा है कि हू सभी स्थावर काय के जीव कर्मफल चेतना को वेदते हैं, त्रस जीव कर्मचेतना सहित कर्मफलचेतना को वेदते हैं तथा प्राणों का अतिक्रमण करनेवाले सिद्ध एवं अरहंत जीव ज्ञानचेतना को वेदते हैं। ●



## गाथा-४०

विगत गाथा में कहा है कि सभी स्थावर काय के जीव कर्मफल चेतना को वेदते हैं, त्रस जीव कर्मचेतना सहित कर्मफलचेतना को वेदते हैं तथा प्राणों का अतिक्रमण करनेवाले अरहंत सिद्ध जीव ज्ञानचेतना को वेदते हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में उपयोग का स्वरूप समझाते हैं।

मूलगाथा इसप्रकार हैं ह

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।  
जीवस्स सब्बकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥४०॥

(हरिगीत)

ज्ञान-दर्शन सहित चिन्मय द्विविध है उपयोग यह।  
ना भिन्न चेतनतत्त्व से है चेतना निष्पन्न यह ॥४०॥

जीव ज्ञान और दर्शन इन दो उपयोग सहित होते हैं। ये दोनों उपयोग सभी जीवों के अनन्य रूप से सदैव रहते हैं।

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं ह कि आत्मा का चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग हैं। 'अनुविधायी' अर्थात् अनुसरण करनेवाला। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि 'चैतन्य के अनुसरण करनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं।' वह उपयोग दो प्रकार का है ह दर्शन उपयोग और ज्ञानोपयोग।

जिस उपयोग में वस्तुओं का विशेष प्रतिभास होता है, वह ज्ञानोपयोग है और जिस उपयोग में वस्तु के सामान्य स्वरूप का प्रतिभास हो, वह दर्शन उपयोग है। वह ज्ञान-दर्शनोपयोग जीव से सर्वदा अभिन्न होता है; क्योंकि वह एक आत्मा के उपयोग से ही रचित है।''

आचार्य जयसेन अपनी टीका में कहते हैं कि वास्तव में जीव के सर्वकाल अनन्यरूप से रहनेवाला ज्ञान और दर्शन से संयुक्त उपयोग दो प्रकार का है। वह उपयोग जीव के साथ नित्यतादात्म्य संबंध होने से अभिन्न है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी निम्न पद्यों में कहते हैं ह

( दोहा )

ग्यान और दरसन अवर, दोइ भेद उपयोग ।  
अविनाभावी जीवकै, जानत ग्यानी लोग ॥२१५॥

( सवैया )

चेतना क्रिया का अनुगामी परिणाम सो है,  
सोई उपयोग नाम जीवगुन गाया है ।  
तामें दोइ भेद लसै ग्यान-दृगरूप यामैं,  
ग्यान है विसेष ग्राही नानाकार पाया है ।  
भेदभाव झारिकरि जाति सामान दरसी,  
दर्सनोपयोग सोई निराकार भाया है ।  
वस्तु है अभेद उपयोग जीव नाम भेद,  
अस्ति एकरूप स्याद्भाषा ने बताया है ॥२१६॥

( दोहा )

सुद्ध असुद्ध सुभावकरि, उपयोगी दुय भेद ।  
तजि असुद्ध पहिली दसा, सुद्ध सुभाव निवेद ॥२१७॥

उपयोग चेतना क्रिया का अनुगामी परिणाम है। इसके दो भेद हैं ह ज्ञान और दर्शन। ज्ञानगुणविशेषग्राही है और दर्शनगुण वस्तु के सामान्यग्राही है। ये दोनों गुण अविनाभावी हैं।

शुद्धोपयोग एवं अशुद्धोपयोग के भेद से भी उपयोग के दो भेद हैं। शुभाशुभभावरूप अशुद्ध उपयोग को त्यागकर शुद्ध उपयोग को प्राप्त होना चाहिए।

इसी गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कानजी स्वामी कहते हैं ह्यद्यपि उपयोग ज्ञानगुण की पर्याय है, तथापि चैतन्य की सामर्थ्य बतलाने के लिए उसको यहाँ गुण कहा है। इस गाथा में चेतना गुण के बारह भेद और उनकी सामर्थ्य बतलाई है।

वास्तव में चेतना गुण के ज्ञान-दर्शन के भेद से दो प्रकार के परिणाम हैं। वे आत्मा से होते हैं, इन्द्रिय मन के कारण अथवा वाणी या शास्त्र आदि से नहीं होते। शास्त्र वाणी आदि तो पुद्गलास्तिकाय हैं। उपयोगरूप परिणाम जीवास्तिकाय में होते हैं। अपने ज्ञान का व्यापार असंख्य प्रदेशों में स्वयं के कारण स्वयं की सत्ता से होता है।

व्यवहार से आत्मा तथा उपयोग में भेद है। केवलज्ञान और केवली ऐसा गुण-गुणी भेद से भेद होने पर भी प्रदेशभेद से भेद नहीं है। जिसतरह गुड़ व मिठास में व्यवहार से भेद होने पर भी परमार्थ से भेद नहीं है; क्योंकि गुण का नाश होने पर गुणी का और गुणी का नाश होने पर गुण का नाश होता है, इसलिए गुण-गुणी एक हैं।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में उपयोग का स्वरूप एवं भेद बताकर उससे आत्मा को अभेद सिद्ध किया है।



## गाथा-४१

४०वीं गाथा में कह आये हैं कि चैतन्यानुविधायी ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग जीव को अनन्यरूप से सर्वकाल में होता है।

अब प्रस्तुत गाथा में उपयोग के आठ भेदों की चर्चा करते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह्य

**आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि ।  
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते ॥४१॥**

(हरिगीत)

मतिश्रुतावधि अर मनः केवल ज्ञान पाँच प्रकार हैं।

कुमति कुश्रुत विभंग युत अज्ञान तीन प्रकार हैं॥४१॥

मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय और केवलज्ञान ह्य इसप्रकार ज्ञान के पाँच भेद हैं; और कुमति-कुश्रुत तथा कुअवधिज्ञान ह्य मिथ्याज्ञान भी पाँच ज्ञान के साथ संयुक्त हैं। सब मिलाकर ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में स्पष्ट करते हैं कि ह्य यहाँ ज्ञानोपयोग के भेदों के नाम और स्वरूप का कथन है। वहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ह्य इसप्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेदों का कथन है।

“आत्मा वास्तव में अनन्त (सर्व) आत्मप्रदेशों में व्यापक विशुद्ध ज्ञान सामान्यस्वरूप है। वह सामान्यज्ञानस्वरूप आत्मा अनादि से मतिज्ञानावरण कर्म से आच्छादित प्रदेशवाला होता हुआ प्रवर्तित है। जब मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से वह सामान्यज्ञान मतिज्ञान के रूप में प्रगट होता है, तब मन और पाँच इन्द्रियों के अवलम्बन से किंचित् मूर्तिक/अमूर्तिक द्रव्य को परोक्षरूप जानता है, उस ज्ञानविशेष का नाम अभिनिबोधिकज्ञान या मतिज्ञान है।

वही ज्ञान श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मन के अवलम्बन द्वारा वस्तु को परोक्ष (विकल) रूप से जानता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

इसीप्रकार के अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से ही मूर्तद्रव्य का विकलरूप से अवबोधन करना अवधिज्ञान है तथा इसीप्रकार मनःपर्यय आवरणवरण के क्षयोपशम से ही परमनोगत मूर्तद्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करना मनःपर्यय ज्ञान है।

समस्त आवरण के अत्यन्त क्षय से मूर्त-अमूर्त द्रव्य का सकलरूप से विशेषतः अवबोधन करना स्वाभाविक केवलज्ञान है।

मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का अभिनिबोधिक ज्ञान कुमति एवं मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का श्रुतज्ञान कुश्रुत ज्ञान है। इसीतरह मिथ्यादर्शन के उदय के साथ का अवधिज्ञान कुअवधिज्ञान है।

तात्पर्य यह है कि निश्चय से अखण्ड एक विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा और व्यवहारनय से संसारावस्था में कर्म आवृत्त आत्मा जब मति, श्रुत, अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर पाँच इन्द्रियों और मन से मूर्त-अमूर्त वस्तुओं को विकलरूप से जानता है तो आत्मा का वह ज्ञान क्रमशः मति, श्रुत, अवधि नाम पाता है। वह ज्ञान तीन प्रकार का है ह

१. उपलब्धिरूप, २. भावनारूप और ३. उपयोगरूप। मतिज्ञानावरण एवं श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से जनित अर्थ ग्रहण शक्ति उपलब्धि है। जाने हुए पदार्थ का पुनः पुनः चिन्तन भावना है और 'यह काला' है, 'यह पीला' है इत्यादि रूप से अर्थ ग्रहण व्यापार उपयोग है।

अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मूर्तवस्तु को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है, वह अवधिज्ञान है।

अवधिज्ञान में भी लब्धिरूप और उपयोगरूप हूँ ये दो भेद ही होते हैं। अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि और सर्वावधि हूँ के भेद से भी तीन प्रकार के होता हैं।

परमावधि और सर्वावधि हूँ चैतन्य के उछलने के भरपूर आनन्दरूप परम सुखामृत के रसास्वादनरूप समरसी भाव से परिणत चरमदेही तपोधनों को होता है।

मनःपर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मनोगत मूर्त वस्तु को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान है। ऋजुमति और विपुलमति रूप इसके दो भेद हैं। विपुलमति पर के मन में स्थित वक्रता को भी जान लेता है, जबकि ऋजुमति मात्र सरल (अवक्र) परिणामों को ही जानता है। ये दोनों ही मनःपर्ययज्ञान आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठान की भावना सहित पन्द्रह प्रमादरहित अप्रमत्त मुनि के विशुद्ध परिणामों में ही उत्पन्न होते हैं। बाद में प्रमत्त गुणस्थान में भी इसका अस्तित्व बना रहता है।

सर्वप्रकार से ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने पर जिस ज्ञान के द्वारा समस्त मूर्तिक-अमूर्तिक द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्याय सहित प्रत्यक्ष जाने जाय, उस ज्ञान का नाम केवलज्ञान है। इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा में ज्ञान के आठ भेदों का परिचय कराया।

आचार्य जयसेन ने अति संक्षेप में मात्र आठ भेदों के नाम गिनाते हुए मात्र इतना कहा कि हूँ जैसे एक ही सूर्य मेघ के आवरण वश अपनी प्रभा की अपेक्षा अनेकप्रकार के भेदों को प्राप्त हो जाता है, उसीप्रकार निश्चयनय से अखण्ड एक प्रतिभास स्वरूपी आत्मा भी व्यवहारनय की अपेक्षा कर्म समूह से वेष्टित होता हुआ मतिज्ञानादि भेदों द्वारा अनेकप्रकार के भेदों को प्राप्त हो जाता है।

इसी भाव को कविवर हीरानन्दजी ने इसप्रकार व्यक्त किया हैं हूँ

( दोहा )

सुद्ध असुद्ध सुभावकरि, उपयोगी दुय भेद ।

तजि असुद्ध पहिली दसा, सुद्ध सुभाव निवेद ॥२१७॥

अभिनिबोध-श्रुत-अवधि-मनपरजै-केवलग्यान ।

कुमति-कुश्रुत-विभंग है, तीन अग्यान समान ॥२१८॥

( सवैया )

आतमा अनादि ग्यानवान कर्म-छादित है,  
 इन्द्री मन-द्वार कछू मानै मतिग्यान है ।  
 मनकाँ आलंबी सब्द-अर्थरूप श्रुतग्यान,  
 मूरतीक अनू जानै अवधि बखान है ॥  
 परमनोगत जानै सोई मनपरजै है,  
 सारै दरव जानै सो केवल प्रमान है ।  
 तीनों आदि मिथ्या उदै कुग्यान कहावै सुद्ध,  
 ग्यान कै जगेतैं सारै मोख के निसान हैं ॥२१९॥

( दोहा )

ग्यानावरन समान घन, छादित रविसम ग्यान ।

छयोपसम ज्यों-ज्यों लहत, त्यों-त्यों प्रगटत भान ॥२२०॥

शुद्ध उपयोग व अशुद्धउपयोग के भेद से उपयोग दो प्रकार का है । मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्याय और केवलज्ञान ह्व ये पाँच भेद सम्यग्ज्ञान हैं तथा कुमति, कुश्रुति, कुअवधि ह्व ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान है ।

सामान्यतः तो आत्मा अनादि से ज्ञानवान है; परन्तु कर्मोदय वश इन्द्रिय व मन द्वारा वर्तमान में जितना क्षयोपशम ज्ञान प्राप्त है, वह मति श्रुतज्ञान है । मूर्तिक अणुओं का ज्ञान अवधि एवं परमनोगत मूर्तिक सूक्ष्म ज्ञान मन:पर्ययज्ञान है तथा लोकालोक को बिना इन्द्रिय मन के प्रत्यक्ष ज्ञान के केवलज्ञान कहते हैं ।

इसी गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ज्ञानोपयोग के आठ नामों का उल्लेख करके कहते हैं कि ह्व तत्त्वार्थसूत्र में कहे अनुसार जो इन्द्रिय और मन के अवलम्बन से मतिज्ञान होना कहा है ह्व वह निमित्त की उपस्थिति बतलाने के लिए कहा है । वस्तुतः यदि इन्द्रियों से ज्ञान होता हो तो पुद्गल और जीव एक हो जाएँ । आत्मा में इन्द्रिय

और मन का अभाव है । आत्मा का मतिज्ञान उपयोग आत्मा के क्षयोपशम से होता है, इन्द्रियों से नहीं होता ।

इसीप्रकार शेष सात ज्ञानों की अपेक्षायें दर्शाई है, जो इस प्रकार है ह्व श्रुतज्ञान ह्व स्वभाव के आश्रय से चैतन्य के उपयोग का परिणाम श्रुतज्ञान है । यह भी शास्त्र आदि पर के कारण नहीं होता ।

प्रश्न ह्व जैसे शब्द पढ़ें वैसा ज्ञान होता है न ?

उत्तर ह्व शब्द और शास्त्र पुद्गलास्तिकाय है, जबकि यह जीवास्तिकाय के ज्ञानगुण के उपयोग का वर्णन है । उपयोग स्व की अस्ति में होता है, पर की अस्ति में नहीं होता । इसलिए शब्द, शास्त्र आदि संयोगों की रुचि छोड़कर तथा अपने को पर्याय जितना मानना छोड़कर त्रिकाली ज्ञानगुण से भरपूर स्वभाव की रुचि करे, तो धर्म होगा ।

अवधिज्ञान ह्व व्यवहार से इन्द्रियों और मन के अवलम्बन बिना स्वर्ग-नरकादिरूप पदार्थों को मर्यादितपने से जानने को अवधिज्ञान कहते हैं । त्रिकाली चेतनागुण की उपयोगरूप अवस्था अवधिज्ञान की स्वयं होती है । वह किसी रूपी परपदार्थ के कारण नहीं होती । रूपी पदार्थों को जानना तो निमित्त मात्र होता है ।

मन:पर्ययज्ञान ह्व सामनेवाले जीव के रूपी पदार्थ संबंधी मन में चिंतित विषय को जान लेना मन:पर्ययज्ञान है । वह अपने अन्तर का व्यापार है ।

केवलज्ञान ह्व अपने असंख्यप्रदेशों से समस्त रूपी और अरूपी पदार्थों को एकसाथ, तीनों काल की पर्यायों सहित जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं । वह अन्तर का व्यापार है ।

पंचेन्द्रिय, मनुष्यपना, मजबूत संहनन अथवा चौथे काल के कारण केवलज्ञान नहीं होता । ये सब अनुकूल निमित्त हैं, उपादान नहीं, जबकि केवलज्ञान कार्य उपादान की योग्यता से होता है ।

कुमतिज्ञान ह्व आत्मा के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान नहीं मानकर राग और निमित्त से ज्ञान मानना कुमतिज्ञान है ।

कुश्रुतज्ञान ह्व जीव स्वयं कुश्रुतज्ञान करता है, वह अपनी अस्ति में अपने से होता है। मिथ्याचारित्र उसमें निमित्त मात्र होते हैं।

विभंगज्ञान ह्व आत्मज्ञान रहित रूपी पदार्थ, स्वर्ग-नरकादि को जानने के ज्ञान को विभंगज्ञान कहते हैं। अपने को स्वर्ग-नरकादि का कर्ता, राग का कर्ता और गुरु की कृपा से ज्ञान होना मानने जैसी विपरीत मान्यता वाले जीवों के रूपी पदार्थ जानने संबंधी ज्ञान को विभंगज्ञान कहते हैं। यह भी स्वयं की विपरीत समझ के कारण है, पर के कारण नहीं।

इसीप्रकार ज्ञान की पर्यायें अपने जीवास्तिकाय में अपने से होती हैं ह्व ऐसा ज्ञान करे तो पर से भिन्न पड़कर जिसमें से ज्ञानपर्यायें आतीं हैं ह्व ऐसे त्रिकाली चेतना के धारक आत्मस्वभाव के सन्मुख दृष्टि होना धर्म है।

स्वाभाविकभाव से यह आत्मा अपने समस्त प्रदेशव्यापी, अनंत निरावरण, शुद्ध ज्ञानसंयुक्त है। राग-द्वेष, दया, दानादि विकल्प आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वभाव से भरा है। पर्याय में पड़ने वाले भेद जानने योग्य हैं; परन्तु वे भेद अंगीकार करने योग्य नहीं है। मात्र एक अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही अंगीकार करने योग्य है।

संसारी प्राणी अनादि से कर्माधीन होकर हीन और अल्पज्ञ वर्तता है। स्वयं स्वभाव से भटककर कर्म के संग में पड़ा है, इसलिए अपनी हीनदशारूप परिणमित हुआ है। ज्ञानावरण कर्म से आच्छादित हुआ है ह्व ऐसा निमित्त की अपेक्षा से कहा जाता है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस ४१वीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने ज्ञानोपयोग के आठ भेद कहे। फिर आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने आठों की विस्तृत व्याख्या करके सब कुछ स्पष्ट कर दिया। आचार्य जयसेन ने उपर्युक्त कथन से विशेष कुछ नहीं कहा तथा गुरुदेवश्री ने वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्त-नैमित्तक संबंधों को स्पष्ट करते हुए कर्मोदय की अपेक्षा का खूब खुलासा करके समझाने का पूर्ण सफल प्रयत्न कर सबकुछ स्पष्ट कर दिया। ●

## गाथा-४२

विगत गाथा में ज्ञानोपयोग के आठ भेदों के साथ अर्थ- ग्रहणरूप शक्ति, पुनः पुनः चिन्तनरूप भावना और जानने के व्यापाररूप उपयोग की चर्चा की।

अब ४२वीं गाथा में दर्शनोपयोग का स्वरूप और उसके भेद कहते हैं।

**दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं ।  
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ॥४२॥**  
(हरिगीत)

निशकार दश्श उपयोग में सामान्य का प्रतिभास है।

चक्षु-अचक्षु अवधि केवल दर्श चार प्रकार हैं ॥४२॥

दर्शन भी चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र चारों दर्शनोपयोगों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आत्मा वास्तव में सर्व (अनन्त) आत्मप्रदेशों में व्यापक, विशुद्ध दर्शन सामान्यस्वरूप है।

(१) दर्शनोपयोग ह्व अनादि दर्शनावरण कर्म से आच्छादित प्रदेशों वाला वर्तता हुआ चक्षुदर्शन के आवरण के क्षयोपशम से और चक्षुइन्द्रिय के आलम्बन से आत्मा जो मूर्तद्रव्य का विकल्परूप से सामान्यावलोकन करता है, वह चक्षुदर्शन है।

(२) उसीप्रकार अचक्षुदर्शन के आवरण के क्षयोपशम से तथा चक्षु दर्शन के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से आत्मा जो मूर्त-अमूर्त द्रव्य को विकल्परूप से सामान्यतः अवबोधन करता है, वह अचक्षुदर्शन है।



(३) उसीप्रकार के आवरण के क्षयोपशम से ही मूर्त द्रव्य को विकल-रूप से जो आत्मा सामान्यतः अवलोकन करता है, वह अवधिदर्शन है।

(४) समस्त आवरण के अत्यन्त क्षय से जो आत्मा अकेला मूर्त-अमूर्त द्रव्य को सकलरूप से सामान्यतः अवबोधन करता है, वह स्वाभाविक केवलदर्शन है।

आचार्य जयसेन कहते हैं कि ह्व 'यह आत्मा निश्चयनय से अनन्त अखंड एक दर्शनस्वभावी होने पर भी व्यवहारनय से कहें तो संसार अवस्था में निर्मल शुद्धात्मानुभूति के अभाव में उपार्जित कर्म द्वारा चक्षुदर्शनावरण का क्षयोपशम होने पर और बहिरंग चक्षुरूप द्रव्येन्द्रिय का अवलम्बन होने पर जो मूर्त वस्तु को निर्विकल्प सत्तावलोकन रूप से देखता है, वह चक्षुदर्शन है।

चक्षु को छोड़कर शेष इन्द्रिय और नो इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर तथा बहिरंग द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन का अवलम्बन होने पर जो मूर्त और अमूर्त वस्तु का निर्विकल्प सत्तावलोकनअचक्षुदर्शन है। अवधिदर्शनावरण का क्षयोपशम होने पर मूर्त वस्तु को निर्विकल्प सत्तावलोकनरूप से आत्मा जो प्रत्यक्ष देखता है, वह अवधिदर्शन है।

रागादि दोषरहित चिदानन्द एक स्वभावी निज शुद्धात्मानुभूति लक्षण निर्विकल्प ध्यान द्वारा सम्पूर्ण केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर तीनलोक, तीन कालवर्ती वस्तुओं संबंधी सामान्य सत्ता को एक समय में देखता है, वह केवलदर्शन है।

कविवर हीरानन्दजी ने चारों दर्शनोपयोगों की परिभाषाओं को तीन छन्द में बांथा है, जो इसप्रकार हैं ह्व

( दोहा )

चच्छु अचच्छु अवधि लसै, केवलदर्शन चारि।

अनिधन अनंतविषयी विमल केवल दरसन धारि ॥२२१॥

संसारी जीव के चच्छु अचच्छु एवं अवधिदर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से जो सामान्य अवलोकन होता है, वह चच्छु अचच्छु एवं अवधिदर्शन है तथा अनिधन अनंत विषय का जो दर्शन होता है वह केवलदर्शन है।

( सवैया )

दरसनावरणी सौं घादित अनादि जीव,

छय उपसम चच्छु इन्द्री करि देखै हैं।

चच्छु बिना शेष चार इन्द्री मनसा विचारि,

मूरत-अमूर्तिक दरब कौ पेखै है ॥

पुद्गल परमाणु सीमा देखै सो अवधि,

सारै दरब देखे सो, केवल विसेखै है।

तीनों परभाव हेय, पहिलै विनासी हेय,

केवल सुभाव एक उपादेय लेखै है ॥२२२॥

संसारी जीव अनादिकाल से दर्शनावरणी कर्म के अन्तर्गत चक्षु दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से चक्षु इन्द्रिय के द्वारा देखते हैं, जो देखते हैं वह चक्षुदर्शनावरण कर्म है। चक्षु इन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रिय एवं मन के द्वारा जो मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्यों को देखता है वह अचक्षु दर्शनावरण कर्म है। जो पुद्गल परमाणु को सीमा में देखता है, वह अवधिदर्शन है तथा जो सम्पूर्ण द्रव्यों का सामान्य अवलोकन करता है, वह केवलदर्शन है।

इसी गाथा के प्रवचन में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि "त्रैकालिक आत्मवस्तु में दर्शनगुण भी त्रिकाल है। वह आत्मा के असंख्यात् प्रदेशों में अखण्ड व्यापक होकर रह रहा है। दर्शन का विषय सामान्य है, वह वस्तु का भेद करके नहीं जानता। उस दर्शनोपयोग की चार पर्यायें हैं। १. चक्षुदर्शन, २. अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन और ४. केवलदर्शन।

चक्षुदर्शन ह्व चक्षुदर्शन का उपयोग अपनी सत्ता में रहकर होता है, परन्तु हीन परिणाम होने से इसमें चक्षुइन्द्रिय निमित्त है। वस्तुतः जीव चक्षुदर्शन से देखता नहीं है। चक्षुदर्शन का व्यापार जीव स्वतंत्ररूप से अपने अस्तिकाय में करता है। जीव द्रव्य है, दर्शन गुण है और चक्षुदर्शन पर्याय है ह्व इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय होकर जीवास्तिकाय का स्वरूप पूरा होता है।

दर्शनोपयोग का कार्य सामान्य अर्थात् भेद किए बिना देखना है। एक ज्ञान का व्यापार होने के पश्चात् और दूसरे ज्ञान का व्यापार होने के पूर्व चेतना का जो सामान्य व्यापार होता है, जिसमें चक्षुनिमित्त है, उस व्यापार को चक्षुदर्शन का व्यापार कहते हैं। छद्मस्थ जीव को दर्शनोपयोग के समय ज्ञानोपयोग नहीं होता और ज्ञानोपयोग के समय दर्शनोपयोग नहीं होता। एक के बाद एक होता है। केवली भगवान को दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

अचक्षुदर्शन ह्व चक्षु के अलावा चार इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थों का सामान्यावलोकन होना अचक्षुदर्शन है।

अवधिदर्शन ह्व अवधिज्ञान होने के पूर्व स्वर्ग नरकादि का भेद किए बिना आत्मा से सीधा देखना अवधिदर्शन है।

केवलदर्शन ह्व अनन्त पदार्थों का भेद किए बिना सामान्य प्रकार से देखना केवलदर्शन है। केवली भगवान के केवलदर्शन और केवलज्ञान एकसाथ ही होता है।”

उक्त कथन का संक्षिप्त सार यह है कि ह्व वस्तुतः चक्षुदर्शन पर्याय आत्मा के दर्शन गुण की है, वह पुद्गल की पर्याय नहीं है, पुद्गल के कारण भी नहीं हुई है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य-गुण व पर्यायें पूर्ण स्वतंत्र हैं।

( 93 )

## गाथा-४३

विगत गाथा में दर्शनोपयोग के भेदों के नाम एवं उनके स्वरूप का कथन किया गया है।

अब प्रस्तुत गाथा में यद्यपि आत्मा एवं ज्ञान की सहेतुक अपृथकता बताई है, दोनों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक ही अस्तित्वमय रचित होने से भी दोनों को एक सिद्ध किया है; तथापि अनन्त सहवर्ती गुणों एवं क्रमवर्ती पर्यायों का आधार होने के कारण अनन्त रूपा होने से आत्मद्रव्य व ज्ञान को विश्वरूप (अनेकरूप) भी कहा है। अनेक भेद रूप होने का भी जीव का स्वतः सिद्ध स्वभाव है।

मूलगाथा इस प्रकार है ह्व

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि ।

तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियं त्ति णाणीहि ॥४३॥

(हरिगीत)

ज्ञान से नहीं भिन्न ज्ञानी, तदपि ज्ञान अनेक हैं।

ज्ञान की अनेकता से जीव विश्व स्वरूप हैं ॥४३॥

यद्यपि ज्ञान और ज्ञानी में कोई भेद नहीं हैं, दोनों अभेद हैं; क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से गुण-गुणी एक हैं, तथापि ज्ञान के अनेकभेद भी हैं, इसी कारण तो आचार्यों ने जीव द्रव्य को भी अनेक रूप कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व प्रथम तो ज्ञानी (आत्मा) ज्ञान से पृथक् नहीं है; क्योंकि दोनों एक अस्तित्व से ही रचित होने से दोनों को एक द्रव्यपना है। दोनों के अभिन्न प्रदेश होने से दोनों को एक क्षेत्रपना है, दोनों एक ही समय रचे जाते हैं, अतः दोनों में एक कालपना है तथा दोनों का स्वभाव एक होने से दोनों में एकभावपना है।

आत्मा ज्ञान से अपृथक् होने पर भी उसमें मति, श्रुत आदि अनेक भेदरूप ज्ञान होने में विरोध नहीं है; क्योंकि आत्म द्रव्य भी तो अनेक रूप है, विश्वरूप है।

द्रव्य को अनेक सहवर्ती गुणों एवं क्रमवर्ती पर्यायों का आधार होने के कारण एक होने पर भी अनेकरूप (विश्वरूप) कहा जाता है। इस कारण आत्मा को अनेक ज्ञानात्मक होने में विरोध नहीं है।

आचार्य जयसेन ने इस गाथा में आचार्य अमृतचन्द का ही अनुशरण किया है, विशेष यह है कि ह आत्मा का ज्ञानादि गुणों के साथ संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि भेद होने पर भी निश्चयनय से प्रदेश अभिन्नता है तथा गति आदि अनेक ज्ञानपना स्थापित किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से गुण-गुणी एक हैं। इसप्रकार अभेदनय से एकता जानना।

इस सम्बन्ध में कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह

( सवैया )

ग्यानी जीव द्रव्य कह्या ग्यान गुन तामैं लह्या,  
गुण-गुनी भेद तातैं एकवस्तु नाही है।  
दोनों मांहि अस्ति एक तातैं एक द्रव्यपना,  
दोनों तो अभिन्न एक खेत पर छाहीं है ॥  
दोनों एक समैवर्ती तातैं एक काल लसै,  
दोनों के सुभाव एक; एक भावता<sup>१</sup> ही है।  
द्रव्य विश्वरूप एक, गुण हैं अनेक तामैं;  
वस्तु स्याद्वाद सधै, एकान्त रूपा नाहीं है ॥२२५॥  
( दोहा )

एक कहत बनती नहीं, नहीं अनेक की ठौर।  
अनेकान्तमय वस्तु है सिवमारग की दौर ॥२२६॥

( 94 )

जीव द्रव्य है, ज्ञान उसमें गुण है। इस तरह द्रव्य में गुण-गुणी भेद है। आत्मा में सर्वथा एकपना नहीं है।

यद्यपि दोनों में अस्तिपना एक है अर्थात् दोनों का अस्तित्व एक है इसकारण द्रव्यपना एक है, दोनों अभिन्न है, दोनों का द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं स्वभाव एक है। इसप्रकार जीवद्रव्य एक होकर भी गुणों की अपेक्षा अनेक हैं। अतः स्याद्वाद के कथन से कहे तो वस्तु एक होकर भी अनेक हैं और अनेक होकर भी एक है।

वस्तु को एक कहते भी नहीं बनता; क्योंकि वस्तु गुणभेद से अनेक भी है और अनेक कहते भी नहीं बनता; क्योंकि स्वचतुष्टय आदि की अपेक्षा से वस्तु एक है। अतः वस्तु को अनेकान्तरूप कहना ही ठीक है, ऐसी श्रद्धा और स्वीकृति ही मुक्ति का मार्ग है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी उक्त बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि ह “आत्मवस्तु ज्ञान गुण से पृथक् नहीं है। आत्मा के असंख्य प्रदेशों में ज्ञानगुण व्याप्त होकर रहता है। निमित्त के रूप में यद्यपि अन्य द्रव्य होते हैं; परन्तु उन निमित्तों के कारण वस्तु में फेर-फार नहीं होता। परमार्थ से गुण-गुणी में भेद नहीं है; क्योंकि द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव से गुण-गुणी एक हैं। वस्तुतः कर्म के क्षयोपशम के कारण भी ज्ञान नहीं होता। अपने ज्ञानस्वभाव से ज्ञान होता है, निमित्त पर द्रव्य है, अतः निमित्तों का वस्तु में अभाव है।

निमित्तों का, स्वतंत्रपर्याय का एवं अभेद स्वभाव का यथार्थ ज्ञान होने पर एक द्रव्य ही उपादेय है ह ऐसी बुद्धि होना ही ज्ञान का फल है।

कर्मादि पर पदार्थों के निमित्तरूप अस्तित्व को ही न माने तो ज्ञान खोटा है; क्योंकि कर्मादि निमित्तों का अस्तित्व है तथा कर्मादि निमित्तों को कार्य का कर्ता मानें तो श्रद्धान खोटा है; क्योंकि कार्य पर के कारण नहीं, बल्कि स्वयं की तत्समय की उपादानगत योग्यता से होता है।

अब पर पदार्थों से भेद तथा अपने आत्मा के गुण-गुणी में अभेद बताते हुए कहते हैं कि ह्व शरीर, कर्म, आहार पानी के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। इसप्रकार पर के चतुष्टय पर में तथा आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्व-चतुष्टय आत्मा में है। इसकारण पर के कारणों से आत्मा की पर्याय में कुछ भी फेरफार नहीं होता।

अब कहते हैं कि ह्व जिसप्रकार पर चतुष्टय आत्मा से अभाव रूप हैं, उसप्रकार गुण के चतुष्टय गुणी (आत्मा) से अभाव रूप नहीं है; किन्तु एक हैं। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव गुणी के हैं, वे ही गुणों के हैं। तथा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव गुण के हैं, वे ही गुणी हैं।

अभेदरूप आत्मा के ज्ञान दर्शन, चारित्र, वीर्य, स्वच्छत्व, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान आदि गुण आत्मा से भिन्न नहीं है।

भेदनय से देखें तो आत्मा में अनेकता भी है। मति श्रुत अविध मनः पर्यय एवं केवलज्ञान ह्व इस तरह ज्ञान की पाँच अवस्थायें हैं। इनमें केवलज्ञानी के मात्र एक केवलज्ञान ही होता है। संसारी जीवों में किसी को मति एवं श्रुत ह्व दो ज्ञान होते हैं, किसी को मति श्रुत अवधि या मति श्रुत एवं मनःपर्यय ह्व ये तीन ज्ञान होते हैं। किन्हीं को मति श्रुत अवधि व मनःपर्यय के भेद से ह्व चार ज्ञान भी होते हैं।

इस तरह वस्तु एक होते हुए भी अनेक रूप से परिणमित हो ह्व ऐसा उसका स्वभाव है।

मूल गाथा में ही कहा है कि ह्व आत्मा स्वयं एकपने के स्वभाव में रहते हुए अनेकपने भी परिणमता है। अभेद स्वभाव में रहकर स्वयं ही भेदरूप होता है। विश्व शब्द जो आया है उसका अर्थ भी अनेक रूप होता है। तात्पर्य यह है कि ह्व ऐसा भेदरूप होना भी वस्तु का ही स्वभाव है, पर के कारण ऐसा नहीं होता।

मूल बात यह है कि ह्व द्रव्य अनन्त गुणों एवं अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायों की आधार रूप एक वस्तु है। अपने में विकारी हो या अविकारी हो; अधूरी दशा हो या पूर्ण विकास रूप दशा हो, चाहे जो दशा हो; परन्तु उसका आधार वह स्वयं है। अन्य के आधार से अपने में कुछ नहीं होता। वस्तु एक अभेद होते हुए भी पर्यायों से अनेक हैं। निगोद से सिद्ध तक सबका स्वभाव ऐसा ही है।

अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि ह्व 'असंज्ञी जीव कर्म के कारण संसार में भटकता है, वहाँ बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ नहीं है, इस कारण कर्म का जोर है।' जो ऐसा कहता है, सो उसका वह कथन असत्य है। कुमति-कुश्रुत ज्ञान का परिणमन अपने स्वयं के कारण है, कर्म के कारण नहीं है।

जब कोई जीव क्षायिक समकिति होता है, तब यद्यपि केवली या श्रुत केवली की उपस्थिति होती है; परन्तु केवली या श्रुतकेवली के कारण क्षायिक समकित नहीं होता। यदि पर्याय को पराधीन माने तो पर्याय में सुधार का अवसर नहीं रहता। इसलिए पर्याय का स्वतंत्रपने होना एवं अनेकपने होना जीवास्तिकाय का स्वयं का धर्म है। ऐसा ज्ञान करके तथा पर्याय की रुचि छोड़कर अभेद स्वभाव की श्रद्धा व ज्ञान करना धर्म है।<sup>१</sup>

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि ह्व जो गुण द्रव्य से सर्वथा जुदा हो अथवा गुणों से द्रव्य सर्वथा जुदा हो तो उष्णता व अग्नि को एक कैसे माना जा सकेगा? उष्णता को अग्नि से पृथक् मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। जो संभव नहीं है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्म वस्तु ज्ञानगुण से पृथक् नहीं है।

## गाथा-४४

विगत गाथा में कहा है कि ह आत्मवस्तु का ज्ञानगुण से पृथक्करण नहीं किया जा सकता; क्योंकि दोनों एक ही अस्तित्व से रचित हैं। न केवल एक ही अस्तित्व से रचित हैं, बल्कि दोनों के द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव भी एक ही हैं। ऐसी एकता होने पर भी ज्ञान की संज्ञा, संख्या, लक्षण तथा मति-श्रुतज्ञान आदि की अपेक्षा अनेकरूपता है।

प्रस्तुत गाथा में यह कहते हैं कि ह द्रव्य का गुणों से भिन्नत्व और गुणों का द्रव्य से भिन्नत्व होने पर क्या दोष आता है?

मूलगाथा इस प्रकार है ह

**जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे ।**

**दव्वाणंति यमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति ॥४४॥**

(हरिगीत)

द्रव्य गुण से अन्य या गुण अन्य माने द्रव्य से।

तो द्रव्य होय अनंत या फिर नाश ठहरे द्रव्य का ॥४४॥

“यदि द्रव्य गुणों से अन्य (भिन्न) हो और गुण द्रव्य से अन्य (भिन्न) हों तो या तो द्रव्य की अनन्तता का प्रसंग प्राप्त होगा या फिर द्रव्य के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा, जो संभव नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र इसकी टीका में कहते हैं कि ह यदि द्रव्य का गुणों से सर्वथा भिन्नत्व मानोगे और गुणों का द्रव्य से सर्वथा भिन्नत्व मानोगे तो जो दोष आता है, उस दोष का उल्लेख इस गाथा में किया है।

गुण वास्तव में द्रव्य के आश्रय होते हैं। यदि वह द्रव्य गुणों से भिन्न हो तो फिर गुण किसके आश्रित होंगे? वे गुण जिसके आश्रित होंगे वह भी तो द्रव्य ही है। इसतरह तो अनवस्था दोष का प्रसंग प्राप्त होगा।

वास्तव में द्रव्य गुणों का ही समुदाय है। गुण यदि अपने समुदाय से अन्य हों तो वह समुदाय कैसा? इसप्रकार यदि गुणों का द्रव्य से भिन्नत्व हो तो या तो द्रव्यों को अनन्तता का प्रसंग प्राप्त होगा या द्रव्य के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। इस कारण सर्वथा प्रकार से गुण-गुणी का भेद नहीं है। कथंचित् प्रकार से भेद है। गुण अंश है, द्रव्य अंशी है, किन्तु अंश से अंशी अलग नहीं हो सकता। अंशी के आश्रय ही अंश रहते हैं।

द्रव्य से गुण को सर्वथा भिन्न मानोगे तो द्रव्य का अभाव होगा; क्योंकि गुणों के समूह को ही तो द्रव्य कहते हैं। कहा भी है ‘गुण समुदायो द्रव्यं’ द्रव्य से गुण सर्वथा भिन्न नहीं है।”

आचार्य जयसेन के अनुसार ह यदि द्रव्यगुणों से सर्वथा अन्य हो तो एकद्रव्य में भेद उत्पन्न हो जायेगा। गुण अंश हैं, गुणी अंशी है। अंश से अंशी अलग नहीं हो सकता। अंशी के आश्रय से ही अंश रहते हैं। दूसरा दोष यह आयेगा कि - द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा; क्योंकि द्रव्य गुणों का समूह ही होता है। अतः सर्वथा गुण-गुणी भेद नहीं है।

कविवर हीरानन्दजी काव्य के द्वारा कहते हैं ह

( दोहा )

दरव आन गुण तैं जबहिं, दरब थकी गुण आन ।

तबही दरब अनन्तता, अथवा दरव न जान ॥२२७॥

यदि द्रव्य गुणों से अन्य हो या गुण द्रव्य से अन्य हों तो या तो द्रव्य में अनन्तता सिद्ध होगी या फिर द्रव्यों के नाश का प्रसंग प्राप्त होगा।

( सवैया )

गुण द्रव्य आश्रय हैं, आश्रयी कहावै द्रव्य,

दोनों हैं अविनाभावी, जुदा कौन गनै है?

( 96 )



जौ पै जुदा द्रव्य तौ पै गुन और द्रव्य चहै,  
 सौ भी द्रव्य जुदा गुन और द्रव्य चहै है ॥  
 गुन अर गुनी विषै लसै तादातम संबंध,  
 भिन्नभाव कै लखत ही, वस्तु न देखै अंध ॥२२८॥

कवि उपर्युक्त सवैया में कहते हैं कि ह 'गुण द्रव्य के आश्रय होते हैं। अतः द्रव्य आश्रयी कहलाता है। दोनों अविनाभावी हैं। यदि गुण को द्रव्य से अलग करते हैं तो वह गुण अन्य द्रव्य का आश्रय चाहेगा; क्योंकि गुण का आश्रयदाता तो द्रव्य है। इसप्रकार अनावस्था दोष आयेगा। गुण व गुणी में तारतम्य संबंध है, अतः द्रव्य गुण से भिन्न नहीं हो सकता।

गुण व गुणी में तादात्म्य संबंध है। जो गुण व गुणी को भिन्न देखते हैं वे तत्त्वज्ञान से अंध हैं।

गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी कहते हैं कि ह जिसप्रकार आत्मा से शरीर जुदा है, वैसे आत्मा और गुण जुदै नहीं हैं। यद्यपि भेद की अपेक्षा संज्ञा, संख्या एवं लक्षण आदि से भेद है; परन्तु गुण-गुणी में सर्वथा प्रकार से भेद माने तो एक द्रव्य के अनन्त भेद (खण्ड) होने का प्रसंग प्राप्त होगा। अथवा गुणों के जुदा करने से द्रव्यों का ही अभाव हो जायेगा। आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसमें ज्ञान-दर्शन आदि गुण हैं। उनमें नाम तथा लक्षण अपेक्षा भेद होने पर भी गुण-गुणी एवं प्रदेश भेद नहीं है।

आत्मा में ज्ञान दर्शन, स्वच्छत्व, विभुत्व कर्ता करण वगैरह अनन्ती शक्तियाँ हैं, वे अंश हैं, भेद हैं, अनेक हैं तथा गुणी, अंशी अर्थात् आत्मा एक हैं तथा वह गुणों को आधार देने वाला है। अपने गुणों का आधार शरीर, कर्म आदि पर वस्तु नहीं है। ऐसी अभेद की श्रद्धा कर तो धर्म होता है।

जगत के भोले प्राणी यह मानते हैं कि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण हो, स्वस्थ शरीर हो, एकान्तवास हो, बाहरी सभी प्रकार की अनुकूलता हो तो ही धर्म हो सकता है। इसप्रकार धर्म करने के लिए जो बाहर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अनुकूलता का कारण मानता है, वह भ्रम में है, क्योंकि वह धर्म का आधार परवस्तु को मानता है, जबकि धर्म का आधार आत्मा है।

इसप्रकार जो व्यक्ति द्रव्य को गुणों से सर्वथा भिन्न या अन्य मानते हैं तथा गुणों को द्रव्य से सर्वथा भिन्न या अन्य मानते हैं, वे भ्रम में हैं; क्योंकि ऐसा मानने पर प्रथम तो वह आत्मा अपने गुणों से अलग होते ही अनन्तता को प्राप्त होगा। या फिर गुणों का समूह आत्मा से अलग होते ही आत्मा गुणहीन हो जाने से आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रहेगा; क्योंकि गुणों का समूह ही तो द्रव्य है। कहा भी है ह 'गुण समुदायो द्रव्य'। अतः गुणों का आत्मा से पृथक् होना संभव ही नहीं है।<sup>१</sup>

सम्पूर्ण कथन का सार (तात्पर्य) यह है कि ह अपने गुण अपने आत्मा में से ही प्रकट होते हैं ह गुण-गुणी में भले लक्षण भेद हों; पर प्रदेशों की अपेक्षा दोनों अभेद हैं। ऐसा गुण-गुणी को अभेद मानकर श्रद्धा करे तो धर्म का प्रारंभ होता है।

## गाथा-४५

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व “यदि द्रव्य गुणों से अन्य (भिन्न) हो और गुण द्रव्य से अन्य (भिन्न) हों तो या तो एक द्रव्य को अनन्तता का प्रसंग प्राप्त होगा या फिर द्रव्य के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा, जो संभव नहीं है।

अब इस गाथा में कहते हैं कि द्रव्य और गुणों के कैसा अनन्यपना है ?  
मूलगाथा इसप्रकार है ह्व

अविभक्त मणणत्वं द्रव्य गुणाणं विभक्तमणणत्वं ।  
णेछन्ति णिच्छयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं ॥४५॥  
(हरिगीत)

द्रव्य अर गुण वस्तुतः अविभक्तपने अनन्य हैं।

विभक्तपन से अन्यता या अनन्यता नहीं मान्य है ॥४५॥

द्रव्य और गुणों के अविभक्त रूप अनन्यपना है। निश्चयनय से विभक्तरूप से न तो अन्यपना है और न अनन्यता ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र अपनी समय व्याख्या टीका में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ह्व द्रव्य और गुणों के स्वोचित् अविभक्त प्रदेशत्व स्वरूप अनन्यपना घटित होता है। विभक्त प्रदेशत्व स्वरूप अनन्यपना एवं अनन्यपना नहीं है।

जिसप्रकार एक परमाणु एवं उनके साथ उसमें रहने वाले स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुणों के समान अनन्यता है, उसीप्रकार आत्मा का ज्ञान दर्शन आदि से अभिभक्तपना है। तथा जिसप्रकार अत्यन्त/दूरवर्ती सद्य एवं विंध्यपर्वत के साथ विभक्त प्रदेशत्व के कारण अनन्यपना है। वैसा अनन्यपना द्रव्य गुण के साथ नहीं है।

कविवर हीरानन्दजी काव्य के द्वारा यही कहते हैं ह्व  
( दोहा )

अविभक्त अनन्यता, दरव-गुननि मैं होइ ।

विभक्तत्व अन्यत्व फुनि निहचैरूप न कोई ॥२३०॥

अविभक्त और अनन्यता, द्रव्य और गुणों में होती है तथा द्रव्य एवं उसी द्रव्य के गुणों में निश्चय से परस्पर विभक्तत्व एवं अन्यत्व नहीं होता।

( सवैया इकतीसा )

जैसे एक परमानू अपने परदेस सौं,

अविभागी सदा काल सो अनन्य बाचै है ।

रूप-रस-गंध-फास अविभक्त गुण सदा,

आनता न परदेस तैसें एक बाचै हैं ॥

जैसे दूर सद्य-विंध्य एक-मेक दूध-तोय,

अविभक्त देसनि सौं अनन्यता जाँचै है ।

तैसें द्रव्य-गुण जुदै देस सौ अन्य नाहिं,

तातैं अविभक्त देससौ अनन्य साँचे हैं ॥२३१॥

( सोरठा इकतीसा )

देस भेद तहि नाहिं, तादातम सम्बन्ध जहि ।

जुदै नाम दिखराहिं, वस्तु एक दुय भेद हैं ॥

उक्त पद्यों में अमिल परमाणु व प्रदेश का उदाहरण देकर द्रव्य व गुणों की अभिन्नता दर्शाते हुए कहा है कि ह्व जैसे एक परमाणु अपने प्रदेश से सदैव अविभागी होने से अनन्य है। उसके रूप रस गंध वर्ण सदैव अभिन्नपने रहते हैं। उसीप्रकार द्रव्य व गुण अभिन्न हैं।

कर्म और आत्मा की भिन्नता हेतु दूरवर्ती सद्य और विंध्यपर्वत का उदाहरण देकर कहा है कि परमाणु व प्रदेश सद्य व विधि की भाँति दूर-दूर नहीं हैं, फिर दूध और पानी का उदाहरण देकर प्रदेशों से अन्यत्व व अनेकत्व होकर भी स्वरूप से भिन्न नहीं हैं ह्व ऐसा कहा है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व द्रव्य व गुण का भाव (अस्तित्व) एक है। यद्यपि द्रव्य व गुण के नाम भिन्न हैं, परन्तु भाव (अस्तित्व) एक हैं। जैसे दूध व उसकी सफेदी में नाम भेद हैं, पर भावभेद नहीं है, उसी तरह आत्मा व ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि गुणों के नाम भेद से भेद है, पर उसके प्रदेश भिन्न नहीं हैं। आत्मा और उसके ज्ञान-दर्शन में लक्षण, संख्या, संज्ञा आदि से भेद होने पर भी उनमें प्रदेश भेद नहीं है। इसप्रकार गुण-गुणी अभेद हैं ह्व ऐसी अन्तर्दृष्टि से धर्म होता है।

यद्यपि शरीर व कर्मों का आत्मा से दूध-पानी की भाँति एक क्षेत्रावगाह संबंध दिखाई देता है, परन्तु वे एक नहीं है। इसके विपरीत आत्मा और ज्ञान, दर्शन आदि में लक्षण, संज्ञा, संख्या से भेद दिखाई देता है; परन्तु उनमें प्रदेश भेद नहीं है, वे एक हैं, अभिन्न है। उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव एक हैं।<sup>११</sup>

इसप्रकार उक्त गाथा में तथा टीका और हिन्दी पद्य में दूरवर्ती क्षेत्र के लिए सह्य एवं विंध्यपर्वत का एवं निकटवर्ती अन्यपने के लिए दूध-पानी आदि अनेक उदाहरणों द्वारा यही कहा है कि द्रव्य व गुणों में अविभक्त रूप अनन्यपना अन्यता है तथा विभक्तपने अन्यता व अनन्यता नहीं है।

विंध्य पर्वत और दूध-पानी के ये दोनों उदाहरण दूरवर्ती और निकटवर्ती अन्यपने के हैं; आत्मा और गुणों में ऐसा अन्यपना नहीं है। आत्मा व ज्ञानादि गुणों में लक्षण भेद होते हुए भी अनन्यता है।



## गाथा-४६

विगत गाथा में कह आये हैं कि ह्व द्रव्य और गुणों के अविभक्त रूप अनन्यपना होते हुए भी लक्षण भेद से अन्यपना भी है। निश्चय से न तो विभक्तरूप से अन्यपना है और न विभक्तरूप से अनन्यपना ही है।

अब इस गाथा में कहते हैं कि ह्व वस्तु के व्यपदेश (कथन) संस्थान, संख्यायें और विषय अनेक होते हैं। वे व्यपदेश आदि द्रव्यों एवं गुणों के अन्यपने में तथा अनन्यपने में भी हो सकते हैं।

मूलगाथा इस प्रकार है ह्व

**ववदेसा संढाणा, संखा विषया य होंति ते बहुगा।**

**ते तेसिमणणत्ते, अणत्ते चावि विज्जंते ॥४६॥**

(हरिगीत)

संस्थान संख्या विषय बहुविध द्रव्य के व्यपदेश जो।

वे अन्यता की भाँति ही, अनन्यपन में भी घटे ॥४६॥

‘जो द्रव्य के व्यपदेश अर्थात् कथन तथा संस्थान, संख्याएँ और विषय अनेक हैं। वे व्यपदेश आदि द्रव्य एवं गुणों के अन्यपने में तथा अनन्यपने में भी होते हैं।’

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह्व जिसप्रकार ‘देवदत्त की गाय’ इस अन्यपने के वाक्य में षष्ठी विभक्ति का कथन होता है, उसीप्रकार वृक्ष की शाखा, द्रव्य के गुण ह्व ऐसे अनन्यपने के वाक्यों में भी षष्ठी विभक्ति का व्यपदेश होता है। अन्यपने का उदाहरण यह है जैसे ह्व देवदत्त बगीचे में धनदत्त के लिए फल को तोड़ता है ह्व ऐसे अन्यपने में कारक व्यपदेश होता है।

दूसरा दृष्टान्त मिट्टी का दे सकते हैं। जैसे ह्व मिट्टी स्वयं घटभाव को (घड़ा रूप परिणाम को) अपने द्वारा अपने लिए अपने में से अपने में करती है। इसीप्रकार आत्मा में घटा सकते हैं।

आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए, आत्मा में से आत्मा में जानता है। ऐसे अनन्यपने में भी कारक व्यपदेश होता है।

अन्यपने में संस्थान का उदाहरण ह्व 'ऊँचे देवदत्त की ऊँची गाय', अनन्यपने में संस्थान का उदाहरण ह्व विशाल वृक्ष का विशाल शाखा समुदाय। अन्यपने में संख्या का उदाहरण जैसे ह्व देवदत्त की दस गायें। इसीप्रकार सर्वत्र लगा लेना चाहिए।

जयसेनाचार्य इस गाथा के स्पष्टीकरण में कहते हैं कि ह्व व्यपदेश (कथन), संस्थान, संख्या, विषय ह्व इन चार भेदों से द्रव्य व गुणों में सर्वथा प्रकार भेद दिखाते हैं।

व्यपदेश, संख्या, संस्थान एवं विषय चारों प्रकार के भाव अभेद में भी हैं और भेद में भी हैं। इनकी दो प्रकार की विवक्षा है। जब द्रव्य की अपेक्षा से कथन करते हैं तब तो वे चारों भाव अभेद कथन की अपेक्षा कहे जाते हैं और जब अनेक द्रव्य की अपेक्षा कथन किया जाये तो ये ही चारों भेद कथन की अपेक्षा से कहे जाते हैं। जैसे 'पुरुष की गाय' कहना ह्व यह भेद कथन है और 'वृक्ष की शाखा' कहना अभेद का दृष्टान्त है। इसीतरह यही व्यपदेश षट्कारक पर भी लगा सकते हैं।

इसी बात को हीरानन्दजी कहते हैं ह्व

( सवैया इकतीसा )

कारक बखान वस्तु भेद औ अभेद माहिं,  
सोई व्यवदेस नाम द्रव्य-गुण विषै है।  
आकृति विशेष वस्तुरूप संस्थान लसै,  
संख्या गणना प्रकार भला भेद विषै हैं।  
द्रव्य है आधार तथा गुण है अधेयता मैं,  
ऐसा वस्तु भेद नाम वस्तु एक सिखै है।  
तातैं व्यवदेस आदि भेदभाव दिखै तो भी,  
देसभेद सधै नाहिं स्याद्वाद लिखै है ॥२३५॥

( 100 )

वस्तु के अभेद षट्कारक जैसे आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए आत्मा में से आत्मा में स्थिर होता है तथा भेद षट्कारक दो भिन्न-भिन्न द्रव्य में उपर्युक्तानुसार लगते हैं। इसी प्रकार व्यपदेश संस्थान-संख्या, विषय में भी द्रव्य व गुणों में भेद व अभेद दिखाते हैं।

इन काव्यों का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र की टीका में बहुत विस्तार से स्पष्ट रूप से आ गया है, इस कारण इन काव्यों का अर्थ पुनः लिखना विष्टपेषण सा लगा अतः पुनः विस्तार से नहीं लिखा गया है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व "ये व्यपदेश आदि के भाव जो चार प्रकार कहे हैं, वे भेद व अभेद कथन से कहे हैं, उनका अर्थ यह है कि जब एक द्रव्य की अपेक्षा से कथन किया जाय तब अभेद कथन की अपेक्षा समझना और जब अनेक द्रव्यों की अपेक्षा से कथन हो तब व्यपदेश आदि चारों भाव भेद कथन की अपेक्षा कहे ह्व ऐसा समझना।

मकान, रुपया आदि भेद के या अन्यत्व में उदाहरण कहे हैं तथा वृक्ष की शाखा का उदाहरण आत्मा के गुण-गुणी आदि अभेद (अनन्यत्व) के लिये दिया है।

कर्मों को आत्मा का कहना कथन मात्र है; क्योंकि कर्मों का नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। इसलिए आत्मा व कर्म जुदे-जुदे हैं। इसलिए जब ऐसा कथन आवे तब आत्मा को कर्म से भेदरूप जाने तो वह धर्म है। इसप्रकार आत्मा को परद्रव्य से भेदरूप जानना धर्म है। १"

इस गाथा के सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि - एक ही द्रव्य में अभेद षट्कारक होते हैं एवं भेद षट्कारक दो भिन्न-भिन्न द्रव्य लगते हैं।

इसीप्रकार व्यपदेश अर्थात् कथन, संस्थान, संख्या और विषय में भी द्रव्य व गुणों में भेद व अभेद दिखाये हैं। 'पुरुष की गाय' यह भेद कथन है तथा वृक्ष की शाखा है यह अभेद का कथन है।

## गाथा-४७

विगत गाथा में कह आये हैं कि ह्व जो द्रव्य के व्यपदेश, संस्थान, संख्यायें और विषय होते हैं, वे व्यपदेश (कथन) आदि द्रव्य एवं गुणों के अन्यपने में तथा अनन्यपने में भी होते हैं।

प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व जिसप्रकार धन और ज्ञान पुरुष को धनी व ज्ञानी करते हैं, उसीप्रकार ज्ञानीपुरुष के साथ पृथक्त्व तथा एकत्व का व्यवहार है।

मूलगाथा इसप्रकार है ह्व

गाणं धनं च कुर्वदि धणिणं जह गाणिणं च दुविधेहिं।  
भण्णति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू॥४७॥  
(हरिगीत)

धन से धनी अरु ज्ञान से ज्ञानी द्विविध व्यपदेश है।

इस भाँति ही पृथक्त्व अरु एकत्व का व्यपदेश है॥४७॥

“जिसप्रकार धन व ज्ञान से पुरुष धनी व ज्ञानी कहे जाते हैं, उसीप्रकार एक भिन्न पदार्थ के साथ और दूसरे अभिन्न पदार्थ के साथ ह्व ऐसा दो प्रकार से व्यपदेश है। ऐसा तत्त्वज्ञान कहते हैं।

आचार्य अमृत उक्त गाथा में टीका करते हुए कहते हैं कि ह्व ये वस्तुत्व रूप से भेद व अभेद का उदाहरण है। जिसप्रकार (१) भिन्न अस्तित्व से रचित (२) भिन्न संस्थान वाला (३) भिन्न संख्या वाला और (४) भिन्न विषय में स्थित धनिक पुरुष को धनी ह्व ऐसा व्यपदेश पृथक् से किया जाता है तथा जिसप्रकार (१) अभिन्न अस्तित्व से रचित (२) अभिन्न संस्थान वाला (३) अभिन्न संख्या वाला और (४) अभिन्न विषय में स्थित ज्ञानी ऐसा व्यपदेश एकत्व प्रकार से करता है, उसीप्रकार ज्ञानगुण से आत्मा ज्ञानी कहलाता है।

इसके भावार्थ में कहते हैं कि ह्व व्यवहार दो प्रकार का है (१) पृथक्त्व (२) एकत्व। जहाँ भिन्न दो द्रव्यों में एकता सम्बन्ध दिखाया जाय उसे पृथक्त्व व्यवहार कहा जाता है। और जहाँ एक वस्तु में भेद दिखाया जाय उसे एकत्व व्यवहार कहते हैं। यह दोनों प्रकार का सम्बन्ध धन-धनी, ज्ञान-ज्ञानी में व्यपदेशादि चार प्रकार<sup>१</sup> से दिखाया जाता है। धन अपने नाम, संस्थान, संख्या, विषय ह्व इन चार भेदों से जुदा है और पुरुष अपने नाम, संस्थान, संख्या, विषय रूप चार भेदों से जुदा है, परन्तु धन के संबंध से पुरुष धनी कहलाता है। इसी को पृथक्त्व व्यवहार कहा जाता है। ज्ञान और ज्ञानी में एकता है, परन्तु नाम, संख्या, संस्थान विषयों से ज्ञान का भेद किया जाता है। वस्तु स्वरूप को भलीभाँति जानने के कारण उस ज्ञान के समन्ध से ज्ञानी नाम पाता है। इसको एकत्व व्यवहार कहते हैं।

कवि हीरानन्दजी काव्य की भाषा में कहते हैं ह्व

( दोहा )

ज्ञान थकी ज्ञानी लसै, धन तैं हैं धनवान।

एक माहिं अरु आन महिं यौं दोनों विधि जान॥२४८॥

( सवैया इकतीसा )

जैसैं धनपति-ज्ञानी दोई भिन्न-भिन्न अस्ति ताकै,

भिन्न-भिन्न संस्थान भिन्न संख्य गनै है।

भिन्न विषै दोनों माँहि एक परदेस नाहिं,

धनी ऐसा नाम पावै अन्य एक बनै है॥

तैसैं ज्ञान जीव माँहिं एक अस्ति एक संस-

थान एक संख्या एक विषै एक भेद बनै है।

‘ज्ञानी’ व्यपदेश एक एकता प्रकार माहिं,

तैसैं सब भेद नीके श्री जिनेस भनै है॥२४९॥



( दोहा )

जड़ अन्यत परकार है, तरु अन्यत परकार ।

सो सब जिनवानी विषै, जथासरूप निहार ॥२५० ॥

उक्त पद्यों में कवि हीरानन्दजी का कहना है ह कि जैसे धनपति और ज्ञानी ह दोनों भिन्न-भिन्न अस्तित्व वाले हैं, भिन्न-भिन्न संस्थान वाले हैं, भिन्न-भिन्न संख्या वाले हैं तथा भिन्न-भिन्न विषय वाले हैं । दोनों के प्रदेश भी भिन्न-भिन्न हैं, इसके विपरीत ज्ञान और जीव में एक ही अस्ति, एक ही संस्थान, एक ही संख्या और एक ही विषय है । इसप्रकार ज्ञान व ज्ञानी का सारा कथन एकरूप है तथा धन और धनपति दोनों का सारा कथन भिन्न रूप है । धन व धनी में प्रदेश भेद हैं, जबकि ज्ञान व ज्ञानी में प्रदेश नहीं है ।

इस विषय में गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “धन के सम्बन्ध से पुरुष को धनी कहते हैं, परन्तु धन व पुरुष जुदे हैं, दोनों एक नहीं होते । दोनों के आस्तिकाय जुदे हैं । कर्म के कारण आत्मा कर्मी, शरीर के कारण आत्मा शरीरी, प्राणों के कारण आत्मा प्राणी कहा जाता है; परन्तु कर्म, शरीर तथा प्राण से आत्मा का अस्तिकाय जुदा है । दोनों के बीच अभाव की मोटी बज्रशिला है, एक के कारण दूसरा नहीं है । धन चला जाता है, किन्तु पुरुष रहता है । कर्म व शरीर अलग पड़े रह जाते हैं और सिद्ध का आत्मा मोक्ष में अलग रहता है । यदि वे एक अस्तिकाय हों तो कोई जुदा नहीं पड़ना चाहिए । इसलिए ह कर्म से कर्म वाला वगैरह कहना व्यवहार की अपेक्षा है । वास्तव में ऐसा नहीं है; क्योंकि वे सब परपदार्थ हैं । कर्म आदि के प्रदेशों और आत्मा के प्रदेशों में भिन्नता है ।

चैतन्य गुण से आत्मा को ज्ञानी कहते हैं; क्योंकि ज्ञान व आत्मा में प्रदेश भेद रहित एकता है । आत्मा ज्ञान के कारण ज्ञानी कहा जाता है ।

आत्मा केवलज्ञान के कारण केवली, धर्म के कारण धर्मी, इसीतरह सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र के कारण सम्यक्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी एवं सम्यक्चारित्रवान कहलाता है । इनके द्रव्यगुणों में प्रदेश भेद नहीं है ।

जैसे कोई व्यवहार में धन के कारण धनी कहा जाता है, पर धन व धनी में प्रदेश भिन्नता है ह धन व धनी भिन्न-भिन्न द्रव्य है । धन व धनी में ज्ञान-ज्ञानी की आत्मा अभेद नहीं है, क्योंकि ज्ञान व ज्ञानी में प्रदेश भेद नहीं है और धन व धनी भिन्न-भिन्न दो द्रव्य हैं ।

इन दो प्रकार के कथन द्वारा वस्तुस्वरूप के जाननेवाले पुरुष प्रदेश भेदवाले सम्बन्ध को पृथकत्व कहते हैं और प्रदेशों की एकता के सम्बन्ध को एकत्व कहते हैं ।<sup>१</sup>”

तात्पर्य यह है कि ह व्यवहार दो प्रकार का है एक ह पृथकत्व व्यवहार, दूसरा ह एकत्व व्यवहार । जहाँ दो द्रव्यों के साथ एकता बताई जाय वहाँ पृथकत्व व्यवहार है तथा जहाँ एक वस्तु में गुण भेद बताये जायें वहाँ एकत्व व्यवहार है । जैसे ह ज्ञान से ज्ञानी, धर्म से धर्मी कहना ह यह एकत्व व्यवहार है । तथा धन से धनी कहना - यह पृथकत्व का व्यवहार है ।

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा है कि धन व ज्ञान से आत्मा धनी व ज्ञानी कहा जाता है । यहाँ धन व धनी पृथकत्व का लक्षण है तथा ज्ञान व ज्ञानी एकत्व का लक्षण है ।

( 102 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १४४, पृष्ठ ११४४, दिनांक १४-३-५२  
नोट : पृष्ठ ११३२ भी इस गाथा का उल्लेख है, पुनः १४४ पर भी है ।

## गाथा-४८

विगत गाथा में दो प्रथक्-प्रथक् उदाहरण देकर यह बताया है कि धन व ज्ञान पुरुष को धनी व ज्ञानी करते हैं। जिसप्रकार भिन्न अस्तित्व वाले धन व धनपती हैं, उसीप्रकार तथा अभिन्न अस्तित्व वाले ज्ञान व ज्ञानी हैं। धन व धनी दोनों के भिन्न-भिन्न अस्तित्व हैं, भिन्न-भिन्न संस्थान हैं, भिन्न-भिन्न संख्या हैं, वैसे ही अभिन्न अस्तित्व वाले ज्ञान व जीव में एक अस्तित्व, एक संस्थान व एक संख्या आदि हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व 'यदि ज्ञानी व ज्ञान सदा परस्पर भिन्न पदार्थ हों तो दोनों अचेतन ठहरेंगे।' मूलगाथा इस प्रकार है ह्व

**गाणी गाणं च सदा अत्थंतरिदा दु अण्णमण्णस्स ।  
दोण्डं अचेदणत्वं पसजदि सम्मं जिणावमदम् ॥४८॥**  
(हरिगीत)

यदि होय अर्थान्तरपना, अन्योन्य ज्ञानी-ज्ञान में।  
दोनों अचेतनता लहें, संभव नहीं अत एव यह ॥४८॥

यदि ज्ञानी आत्मा और ज्ञान सदैव परस्पर अर्थान्तरभूत (भिन्न पदार्थभूत) हों तो दोनों को अर्थात् आत्मा और ज्ञान-दोनों को अचेतनपने का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि ज्ञान बिना ज्ञानी कैसा? तथा ज्ञानी के बिना ज्ञान किसके आश्रय रहेगा?

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि ह्व 'द्रव्य और गुणों में यदि अर्थान्तरपना अर्थात् भिन्नता हो तो आत्मद्रव्य अपने करण-अंश के बिना अर्थात् ज्ञानरूप साधन के बिना कुल्हाड़ी रहित देवदत्त की भाँति अपने साधन रूप ज्ञान का अभाव होने से जान ही नहीं सकेगा। इसकारण आत्मा को अचेतनपना ठहरेगा।

यदि कोई कहे कि ह्व जिसप्रकार लकड़ी और मनुष्य प्रथक् होने पर भी लकड़ी के संयोग से मनुष्य लकड़ी वाला कहा जाता है, वैसे ही ज्ञान व आत्मा प्रथक् रहकर भी आत्मा को ज्ञान वाला कह देंगे।

सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि लकड़ी और मनुष्य की भाँति ज्ञान आत्मा से प्रथक् नहीं है। आश्रय के बिना गुण टिकेगा कहाँ? निर्विषेण द्रव्य और निराश्रय गुण का जगत में अस्तित्व ही नहीं है।

इसी बात को आचार्य जयसेन ने अग्नि व उष्णता के उदाहरण से स्पष्ट किया है। वे कहते हैं ह्व जैसे उष्णता को अग्नि के प्रथक् करने पर अग्नि शीतल हो जायेगी, उसीतरह आत्मा से ज्ञान को जुदा करने पर दोनों अचेतन (जड़) हो जायेंगे। अतः ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है। यह कहकर आचार्य जयसेन ने आ. अमृतचन्द्र के कथन को ही पुष्ट किया है।

इसी बात को कविवर हीरानन्दजी कहते हैं ह्व

( दोहा )

ग्यानी ग्यान विषैं सदा, अर्थान्तर जो होइ ।  
दुहू अचेतनता लहैं, सम्यक् जिनमत सोई ॥२५१॥

( सवैया इकतीसा )

ग्यानी कौ ज्ञान तैं जुदा जौ पै कहै कोई नर,  
तौ पै करनाच्छ बिना कैसे जीव चेतै है ।  
ग्यानी बिना ज्ञान तौ पै कारण कर्तृत्व बिना,  
चेतक बिना ही ज्ञान मूढ़ भाव लसै है ॥  
ग्यानी ग्यान जुदै मिले, चेतना सुभाव तौ पै,  
द्रव्य कौन गुण कहाँ अस्तिरूप रैतै है ।  
तातैं ग्यान ग्यानी भेदता अभेद विषैं,  
स्याद्वाद साधि सकै तो पै मोछि कैते है ॥२५२॥

( चौपाई )

जैसे करवत धारी कोई काठ चीरना कारज सोई ।  
 जो कहूँ करवत हाथ न आवै तो काहे करि काठ छिदावे ॥२५३॥  
 अर जो करवत होय अकेला काठ चीरना प्रगट दुहैला ।  
 चीरनहारे बिन कौ चीरे करवत काठ जदपि है नीरै ॥२५४॥  
 तातैं छिंदत क्रिया सम्पूर्ण करवत पुरुष दोउ जब पूरन ।  
 तैसे ग्यानी ग्यान जुदाई ग्येय जानता बनै न भाई ॥२५५॥  
 एकमेक जो कहिए दौनों तो है ग्यप्ति क्रिया का हौनौ ।  
 तातैं अविनाभावी कहिए स्याद्वाद जिनवाणी लहिए ॥२५६॥

उक्त पद्यों में कवि ने जो कहा उसका भाव यह है ह्म ज्ञानी व ज्ञान भिन्न नहीं हैं। गुण-गुणी में लक्षण भेद होकर भी वस्तु एक है, अभेद है। जैसे ह्म करौतधारी कोई पुरुष काठ चीरना चाहे, पर काठ न हो तो किसे चीरे? तथा काठ हो और करवत न हो तो किससे चीरे? दोनों हों और चीरने वाला व्यक्ति न हो तो काठ व करवत होते हुए कौन चीरे? इसलिए काठ की छिन्दन क्रिया तभी संभव है जब करवत, काठ व पुरुष तीनों हों।

इसीप्रकार ज्ञानी व ज्ञान जुदे होने पर ज्ञेय का जानना नहीं हो सकता। जब दोनों एक-मेक हों तभी ज्ञप्ति क्रिया बन सकेगी। इसप्रकार कवि ने भी दोनों क्रियाओं को अविनाभावी कहा है। इसप्रकार स्याद्वाद से ही वस्तुरूप की सिद्धि है।

अब इस बात के स्पष्टीकरण में गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्म “आत्मा और चैतन्यगुण का सदा सर्वथा भेद हो तो ज्ञान व ज्ञानी दोनों जड़ हो जायेंगे।

आत्मा और उसका ज्ञान गुण व पर्याय भिन्न हो तो जानन क्रिया नहीं हो सकेगी। ज्ञान की पर्याय परसे या इन्द्रियों से होने का प्रसंग प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में पर्याय ही नहीं रहेगी तथा पर्याय का अभाव होने पर पर्यायवान भी नहीं रहेगा।

धर्म की पर्याय ‘पर’ के कारण मानने पर धर्म का आधार ‘पर’ होने पर धर्म नहीं रहता। तथा धर्म का अभाव होने पर धर्मी ह्म आत्मा ही नहीं रहता।

ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, वीर्य वगैरह पर्यायों द्रव्य के आधार से होती हैं ह्म ऐसा न माने तो समय-समय की पर्यायों द्रव्य के साथ एकता नहीं पा सकतीं। पर से पर्याय होना माने तो पर्याय द्रव्य के बिना ठहरे; परन्तु ऐसा होना संभव नहीं है, क्योंकि द्रव्य पर्याय बिना रहती ही नहीं है।

जो ऐसा मानते हैं कि क्षायिक सम्यग्दर्शन आत्मा के अवलम्बन से नहीं; बल्कि तीर्थकर के पादमूल के कारण होता है ह्म उनका यह मानना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने वालों की मान्यता में अपनी पर्याय अपने द्रव्य के आधार न रहकर परद्रव्य के आधार से ठहरी; जब पर्याय आधार के बिना तो रहती नहीं और पर के आधार से होती नहीं। इसकारण पर के कारण से होना मानना असत् कल्पना है। इसीप्रकार जो ऐसा मानता है कि ह्म तीर्थकर के चरणों में तीर्थकर प्रकृति बँधती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि पर्याय द्रव्य के बिना हो गई तथा पर्याय पर से होना मानने पर द्रव्य पर्याय के बिना रहा ह्म इसप्रकार मानने पर तो द्रव्य व पर्याय ह्म दोनों का नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में जो यह कहा कि ह्म जिसप्रकार अग्नि व उष्णता की भाँति ज्ञान व ज्ञानी में मात्र गुण गुणी का भेद है, वस्तु भेद नहीं। दोनों में तादात्म्य संबंध है, संयोग आदि कोई अन्य सम्बन्ध नहीं है।

( 104 )

## गाथा-४९

विगत गाथा में यह कहा कि ह्य यदि ज्ञानी आत्मा और ज्ञान सदा परस्पर भिन्न पदार्थ हों तो ह्य दोनों को अचेतनपने का प्रसंग प्राप्त होगा।

अब प्रस्तुत गाथा में आत्मा और ज्ञान में समवाय सम्बन्ध का निराकरण करके यह कहा है कि वह आत्मवस्तु ज्ञान के समवाय से ज्ञानी नहीं है, आत्मा और ज्ञान में समवाय सम्बन्ध नहीं, बल्कि दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है, दोनों एक ही हैं। मूलगाथा इसप्रकार है ह्य

**णहि सो समवाया दो अत्यंतरिदो दु णाणदो णाणी।  
अण्णाणीति य वयणं एगत्त पसाधणं होदि ॥४९॥**  
(हरिगीत)

प्रथक् चेतन ज्ञान के समवाय से ज्ञानी बने।  
यह मान्यता नैयायिकी जो युक्तिसंगत है नहीं ॥४९॥

ज्ञान से अर्थान्तरभूत आत्मा अर्थात् ज्ञान से भिन्न आत्मा ज्ञान के समवाय से ज्ञानी बनता है। ऐसा जो नैयायिकों की मान्यता है, वह यथार्थ नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्य “यदि कोई ऐसा कहे कि ज्ञान से अर्थान्तरभूत आत्मा अर्थात् ज्ञान से प्रथक् आत्मा ज्ञान के समवाय से ज्ञानी होता तो उसका ऐसा कहना वास्तव में योग्य नहीं है; क्योंकि ऐसी मान्यता वालों से हमारा प्रश्न यह है कि ‘वह आत्मा ज्ञान का समवाय होने से पहले ज्ञानी है या अज्ञानी? यदि समवाय से पहले आत्मा ज्ञानी है तो ज्ञान का समवाय निष्फल है और यदि वह कहे कि ह्य अज्ञानी है तो उससे पूछते हैं कि अज्ञान के समवाय से अज्ञानी है कि

अज्ञान के साथ एकत्व से अज्ञानी है? प्रथम ह्य यदि अज्ञान के समवाय संबंध से अज्ञानी है तो ज्ञानी के अज्ञान के समवाय का अभाव होने से समवाय ही नहीं रहा। इसलिए अज्ञानी ऐसा वचन अज्ञान के साथ एकत्व को सिद्ध करता ही है। और जब अज्ञान के साथ एकत्व सिद्ध हैं तो ज्ञान के साथ एकत्व सिद्ध क्यों नहीं हो सकता? यदि हो सकता है तो समवाय सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

आचार्य जयसेन ने भी आचार्य श्री अमृतचन्द्र के उन्हीं तर्कों से नैयायिक मत के समवाय सम्बन्ध का निराकरण किया है। ज्ञान व ज्ञानी में तो ज्ञानी व ज्ञानगुण में प्रदेश रहित एकता है। और यदि नैयायिक यह कहें कि एकता नहीं है। जयसेनाचार्य के कहने का तात्पर्य यह है कि ह्य ज्ञान से ज्ञानी प्रथक् है तो हम पूछते हैं कि जब ज्ञानगुण का सम्बन्ध ज्ञानी के पूर्व था ही नहीं या नया हुआ है तो ज्ञानी उसके पहले ज्ञानी था या अज्ञानी? यदि कहोगे कि ज्ञानी था तो नवीन ज्ञानगुण का कोई प्रयोजन नहीं रहता, वह तो स्वरूप से ही अज्ञान गुण से संयोग अज्ञानी था। यदि कहोगे कि अज्ञानगुण के सम्बन्ध से पहले भी अज्ञानी था तो हम पूछेंगे कि जब पहले से ही अज्ञानी था तो फिर नवीन अज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं, स्वभाव से ही वह अज्ञानी ठहरता है।

जैसे सूर्य मेघ पटल द्वारा आच्छादित होने से प्रकाश रहित कहा जाता है, परन्तु उस मेघ के प्रभाव से सूर्य अपने स्वभाव से त्रिकाल पृथक् नहीं होता। मेघ पटल की औपाधिकता से हीन-अधिक प्रभा वाला कहा जाता है, वैसे ही यह आत्मा अनादि पुद्गल की उपाधि के सम्बन्ध से अज्ञानी हुआ प्रवर्तित है, परन्तु वह आत्मा अपने स्वाभाविक अखण्ड केवलज्ञान स्वभाव से किसी काल में भी प्रथक नहीं होता। कर्म की उपाधि से ज्ञान की हीनता-अधिकता कही जाती है। इसकारण निश्चय से ज्ञानी से ज्ञानगुण प्रथक् नहीं है। कर्म की उपाधि से अज्ञानी कहा जाता है।

कवि हीरानन्दजी उपर्युक्त भाव का स्पष्टीकरण करते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

ग्यान समवाय थकी ग्यानी नाम पावै जीव,

समवाय बिना भेदग्यानी के अग्यानी है ।

जौ पै ग्यानी नाम तौ पै ग्यान समवाय वृथा,

अज्ञानी कहावै तौ लौं झूठी सी कहानी है ॥

ग्यानी के अग्यान समवाय होतैं ग्यानी नहीं,

अग्यानी अग्यान तातैं एकता बखानी है ।

ऐसा जान ग्यान से ही ग्यानी कौं अनन्य साधै,

सोड़ समकिति जीव मोक्ष का निदानी है ॥२५९॥

( दोहा )

दरव और गुन और है, और कहत समवाय ।

नैयायिकमत मानतैं वस्तुरूप नसि जाय ॥२६०॥

जुदी वस्तु जो एक ही, है संयोग संबंध ।

सो समवाय कहावतै, जावत नहिं जात्यन्ध ॥२६१॥

नैयायिक के मतानुसार यदि समवाय सम्बन्ध से जीव ज्ञानी नाम पाता है तो समयवाय सम्बन्ध के पहले जीव ज्ञानी था या अज्ञानी? यदि समवाय के पहले भी ज्ञानी था तो फिर ज्ञान का समवाय सम्बन्ध होना व्यर्थ है और अज्ञानी कहना तो मिथ्या कल्पना ही है ।

इस गाथा के सम्बन्ध में गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह 'आत्मा व ज्ञान गुण में प्रदेशभेद रहित एकता है । आत्मा असंख्यात प्रदेशी है तथा गुणों के प्रदेश गुणी से जुदे नहीं है ।

जो जीव शरीर से धर्म होना मानते हैं, अर्थात् शरीर को धर्म का साधन मानते हैं, उन्होंने ज्ञान को आत्मा से जुदा माना । गुण व गुणी को

एक नहीं माना । उन्हें अपने धर्म के लिए बाहर में शोध करनी पड़ेगी; किन्तु सत्य वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है । धर्म तो स्वयं में से ही होता है ।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने वही सब तर्क प्रस्तुत किए हैं, जो आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन स्वामी ने दिये हैं । परन्तु कुछ मान्यताओं का जिक्क करते हुए भी स्वामीजी उन दृष्टान्तों द्वारा सिद्धान्त को समझाते हैं । वे कहते हैं कि ह दृष्टान्त एकदेश (आंशिक) घटता है, सर्वदेश नहीं घटता ।

अन्यमतवालों की चर्चा करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि एक सम्प्रदाय ऐसा मानता है कि केवलज्ञान तो सब में प्रगट ही है, संसारी जीवों में बादलों में ढंके जाज्वल्यमान सूर्य की भाँति ढंका रहने से हम उसे जान नहीं पाते ।

दूसरा सम्प्रदाय ऐसा मानता है कि जैसे 'राख के अन्दर आग है, पर कर्मरूपी रज का राख के कारण हमें दिखाई नहीं देता । उसका प्रभाव राख से ढंका हुआ है । राख हटाने पर जैसे आग को देख सकते हैं वैसे ही कर्मरज या राख हटाने पर आत्मा में व्यक्त केवल ज्ञान देखा जाता है । इसलिए हमें कर्मरूपी राख हटाने का प्रयत्न करना चाहिए ।'

उनका समाधान करते हुए श्री कानजीस्वामी ने कहा है कि ह वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है । केवलज्ञान प्रगटरूप नहीं है, किन्तु शक्ति रूप है । जो यह कहता है कि केवलज्ञान पर कर्मों का आवरण है । जैसे बादल सूर्य को ढँक लेते हैं, ऐसा ही कर्मों ने केवलज्ञान ढँक लिया है । यह मान्यता भी खोटी है; क्योंकि कर्म तो जड़ है, वे आत्मा के केवलज्ञान को रोक नहीं सकते । अरे! जब आत्मा स्वयं में एक अन्तर्मुहूर्त को एकाग्र होता है तो केवलज्ञान स्वयं प्रगट हो जाता है और कर्म स्वयं टल जाते हैं ।<sup>१</sup>

( 106 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १४६, पृष्ठ ११५९, दिनांक १९-३-५२  
नोट : पृष्ठ ५९ से प्रारंभ है, पृष्ठ १६९ पर भी है ।



जो ऐसा मानते हैं कि कर्म टले तो केवलज्ञान हो; पर उनका ऐसा मानना भी मिथ्या है, क्योंकि वे आत्मा से केवलज्ञान होना नहीं मानते।”

इसप्रकार गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अनेक तर्क और युक्तियों से अन्यमत की मिथ्या मान्यताओं का निराकरण करके केवलज्ञान के यथार्थ स्वरूप का एवं उसके प्रगट होने की यथार्थ विधि का प्रतिपादन किया है। तत्त्वार्थसूत्र के नववें अध्याय के २७वें सूत्र में स्पष्ट कहा है कि ह

“उत्तम संहननस्यैकाग्र चिन्तानिरोधो अन्तर्मुहूर्तात्”

उत्तम संहनन वाले मुनिराजों के लगातार एक अन्तर्मुहूर्त तक आत्मा के स्वरूप में लीन होने से घातिया कर्मों का अभाव होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। हम भी सम्यक् मार्ग के अनुसरण से इस दिशा में अग्रसर हो सकते हैं।

जीवराज ने समतारानी से कहा कि “समता ! यदि सम्यग्दर्शन मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है तो मैं दावे से यह कह सकता हूँ कि “वस्तु स्वातंत्र्य का सिद्धान्त उस मोक्ष महल की नींव का मजबूत पत्थर है। जिस तरह गहरी जड़ों के बिना वटवृक्ष सहस्रों वर्षों तक खड़ा नहीं रह सकता, गहरी नींव के पत्थरों के ठोस आधार बिना बहु-मंजिला महल खड़ा नहीं हो सकता; उसी प्रकार वस्तु स्वातंत्र्य एवं उसके पोषक चार अभाव, पाँच समवाय, षटकारक, परपदार्थों का अकतृत्व का सिद्धान्त, कारण-कार्य आदि की ठोस नींव के बिना मोक्ष महल खड़ा नहीं हो सकेगा। अतः इन सिद्धान्तों का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार एवं परिचय होना ही चाहिए।”

– नींव का पत्थर, पृष्ठ-२१

## गाथा-५०

पिछली गाथा में कह आये हैं कि ह ज्ञान व आत्मा में अन्य मत मान्य समवाय सम्बन्ध नहीं है। अन्यमतों में एकमत ऐसा भी है जो मानता है कि ‘आत्मा और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं, दोनों के बीच ऐसा समवाय सम्बन्ध है, जिससे वे दोनों में एकपने का व्यवहार होता है।

उक्त मान्यता का खण्डन कर आत्मा और ज्ञान में तादात्म्य सिद्ध सम्बन्ध बताया है।

अब इस गाथा में समवाय सम्बन्ध का स्वरूप समझाकर अन्यमत द्वारा मान्य आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध का निषेध करते हैं।

मूलगाथा इस प्रकार है ह

समवर्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुद सिद्धो य।

तम्हा दव्व गुणा णं, अजुदा सिद्धि ति णिद्धिडा ॥५०॥

(हरिगीत)

समवर्तिता या अयुतता अप्रथकत्व या समवाय है।

सब एक ही है ह सिद्ध इससे अयुतता गुण-द्रव्य में ॥५०॥

समवाय शब्द का अर्थ समवर्तीपना है, समवर्तीपना ही समवाय है, वही अपृथक्पना और अयुतसिद्धपना है। इसलिए द्रव्य और गुणों की अयुद्धसिद्धि कही है। जैसा कि आत्मा और उसके गुणों में होता है, उनका यह संबंध अनादि-अनन्त तादात्म्य मय सहवृत्ति होने से अयुतसिद्धि है, अन्यमत द्वारा मान्य प्रथक् पदार्थों के समवाय संबंधी यथार्थ नहीं है। जैनमत के अनुसार तादात्म्य सम्बन्ध एक ही द्रव्य के गुणों में होता है, इसी का दूसरा नाम अयुत सिद्ध समवाय सम्बन्ध है।

जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य व गुणों के कभी भी प्रथक्पना नहीं होता। इसलिए द्रव्य व गुणों में अयुत सिद्धि है, युतसिद्ध सम्बन्ध नहीं है।

टीका में आचार्य अमृतचन्द कहते हैं कि ह्व “द्रव्य व गुण एक अस्तित्व से रचित है। इसलिए उनकी अनादि-अनन्त सहवृत्ति ही समवर्तीपना है। समवाय में पदार्थान्तरितपना नहीं है। ह्व यहाँ गुण-गुणी में एक भाव के बिना और किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। द्रव्य और गुणों के एक अस्तित्वमय अनादि-अनन्त धारावाही रूप जो प्रवृत्ति है, उसका नाम ही जिनमत में समवाय है।

तात्पर्य यह है कि ह्व मूलतः सम्बन्ध के दो प्रकार हैं; एक संयोग सम्बन्ध और दूसरा ह्व समवाय सम्बन्ध। जैसे ह्व जीव और उनके गुणों का जो सम्बन्ध है, वह तो भावों या गुणों का एक अस्तित्वमय होता है। जैसे ह्व गुण-गुणी में गुणों के नाश होने पर गुणी का नाश और गुणी के नाश होने पर गुणों का नाश हो जाता है। वही प्रदेश भेद रहित गुण-गुणी का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है। यद्यपि संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादि से गुण-गुणी में भेद है तथापि प्रदेशों की अपेक्षा गुण-गुणी में एकता है।

वही संज्ञा आदि के भेद होने पर भी वस्तुरूप से अभेद होने से अप्रथक्पना है, वही अयुत सिद्धपना है। इसलिए अनादि-अनन्त सहवृत्ति है। द्रव्य व गुणों को ऐसा समवाय होने से उन्हें अयुत सिद्धि है, कभी भी प्रथक्पना नहीं है।”

कवि हीरानन्दजी इसी बात को इसप्रकार कहते हैं ह्व

( दोहा )

समवरती समवाय है, अप्रथक् नहिं जुदसिद्ध ।  
तातैं दर्वगुनौ विषैं, अजुतसिद्ध की वृद्धि ॥२६२॥

( सवैया इकतीसा )

द्रव्य-गुण एक अस्ति का स्वरूप लसै,  
आदि-अन्त बिना सोई सहवृत्ति धारै है ।  
समवरती कहावै समवाय जैन ग्रन्थ,  
संख्या आदि भेद तातैं वस्तु एक सारे हैं ॥

दोऊ अप्रथक् भूत जुदी अस्ति कोई नाहिं,  
यातैं अजुत सिद्ध जुतता विडारै है ।  
तातैं सर्वगुण माहिं ए विसेष सगरै हैं,  
जैनी समकित्ती जीव नीकै कै विचारै हैं ॥२६३॥

( दोहा )

समवरती समवाय है, कहत सयाने लोग ।  
ते अयान जानै नहीं, जिन हिय मिथ्या रोग ॥२६४॥

जैन सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा भले प्रकार विचारते हैं कि ह्व द्रव्य गुण एक अस्तित्वमय हैं, अनादि-अनन्त सहवृत्ति के धारक हैं। वस्तु में संज्ञा, संख्या भेद होते हुए भी एक है। द्रव्य व गुण दोनों अप्रथक्भूत हैं। इस कारण युत सिद्ध सम्बन्ध उनमें नहीं है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि ह्व समवर्ती, समवाय और अपृथक् तथा अयुतसिद्ध एकार्थ वाचक शब्द हैं; इसलिए अपृथक् द्रव्य व गुण में अयुतसिद्ध सम्बन्ध कह सकते हैं। तथा द्रव्य व गुण एक ही अस्तित्व में रहते हैं। आदि-अन्त के बिना सहवृत्ति को धारण किए हैं। जैन ग्रन्थों में समवर्ती को ही समवाय कहा है। संज्ञा, संख्या आदि के भेद होने पर कोई भिन्न वस्तु नहीं है। इसकारण अयुतसिद्ध है। ऐसा जानना।

अन्यमत में गुण-गुणी को जुदा कहा है। वे कहते हैं कि गुण वाद में आकर आत्मा से मिलते हैं ह्व वे समवाय संबंध का ऐसा स्वरूप मानते हैं कि पहले आत्मा में गुण नहीं थे, आत्मा से गुणों का समवाय सम्बन्ध बाद में हुआ है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी समवाय के स्वरूप को समझाते हुए कहते हैं कि ह्व “सभी द्रव्यों में समवाय है, द्रव्य व गुणों के एक अस्तित्व के रूप में अनादि-अनन्त धारावाही रूप जो प्रवृत्ति है, जिनमत में उसका नाम समवाय है। वे आत्मा का ही दृष्टान्त देकर बताते हैं कि ह्व आत्मा वस्तु है, उसमें ज्ञान, आनन्द वीर्य, स्वच्छत्व, प्रभुत्व आदि अनन्तगुण

हैं। उनकी अनादि-अनन्त धारावाही प्रवृत्ति को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अथवा संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों की प्रथकता बतलाते हैं। आत्मा एवं उसके गुणों में संयोग सम्बन्ध नहीं है, किन्तु समवाय अथवा तादात्म्य सम्बन्ध है।

अन्यमत में गुण-गुणी को जुदा कहा तथा वे बाद में मिले ह्व ऐसा कहकर वे उससे मिलने को समवाय सम्बन्ध कहते हैं, किन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है। अनादि-अनन्त आत्मा में गुण एकरूप तादात्म्य भाव से हैं। जैनमत में उसे ही समवाय सम्बन्ध कहते हैं।<sup>१</sup>”

सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि - संबंध दो प्रकार का होता है ह्व (१) संयोग सम्बन्ध अथवा निमित्त-नैमित्तिक संबंध। (२) समवाय सम्बन्ध या तादात्म्य सम्बन्ध। जब द्रव्य का भाव, द्रव्य के अनन्त गुणों का भाव, अनन्त पर्यायों का भाव ह्व इस प्रकार जहाँ अनेक भाव एकरूप होते हैं, उसे ही जिनमत में समवाय सम्बन्ध या तादात्म्य कहते हैं।

जैनमतानुसार तादात्म्य सम्बन्ध को ही समवाय सम्बन्ध कहते हैं, जोकि एक ही द्रव्य में गुण-गुणी सम्बन्ध के रूप में होता है। अन्यमत द्वारा समवाय सम्बन्ध यथार्थ नहीं है। वस्तु (द्रव्य) में संज्ञा संख्या आदि के भेद होते भी वस्तु एक है। द्रव्य व गुण अप्रथक् हैं, इसकारण उनमें अयुततिसिद्ध सम्बन्ध है, युतसिद्ध नहीं है।



१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १४६, पृष्ठ ११६५, दिनांक १७-३-५४ के बाद

### गाथा- ५१-५२

पिछली गाथा में कह आये हैं कि ह्व जहाँ अनेक भाव एक रूप होते हैं, उसे ही समवाय सम्बन्ध या तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं। वही अपृथकपना है, अयुतसिद्ध सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध एक ही द्रव्य के गुणों में होता है।

अब इस गाथा में कहते हैं कि ह्व जैसे वर्ण आदि पुद्गल के बीस गुण यद्यपि परमाणु से अपृथक् हैं, तथापि कथन विशेष से वे अन्यत्व को भी बताते हैं ह्व

मूलगाथा इस प्रकार है ह्व

**वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसेहिं।**

**दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति ॥५१॥**

**दंसण्णाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि।**

**ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो ॥५२॥**

(हरिगीत)

ज्यों वर्ण आदिक बीस गुण परमाणु से अप्रथक् हैं।

विशेष के व्यपदेश से वे अन्यत्व को द्योतित करें ॥५१॥

त्यों जीव से संबद्ध दर्शन-ज्ञान जीव अनन्य हैं।

विशेष के व्यपदेश से वे अन्यत्व को घोषित करें ॥५२॥

परमाणु में प्ररूपित किए जाने वाले वर्ण-रस-गंध-स्पर्श द्रव्य से अनन्य वर्तते हुए विशेषों द्वारा अन्यत्व को प्रकाशित करते हैं, परन्तु वे वर्ण आदि स्वभाव से अन्यरूप नहीं है तथा जीव में निबद्ध दर्शन-ज्ञान अनन्यवर्तते हुए कथन द्वारा प्रथक्त्व को दर्शाते हैं, स्वभाव से पृथक् नहीं है।

इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र अपनी तत्त्वप्रदीपिका अपर नाम समय व्याख्या टीका में कहते हैं कि ह्व ‘स्पर्श-

रस-गंध-वर्ण वास्तव में परमाणु के प्ररूपित किए जाते हैं, दर्शाये जाते हैं। वे वर्ण आदि परमाणु से अभिन्न प्रदेश वाले होने के कारण अभिन्न (अनन्य) होने पर भी संज्ञा, संख्या आदि रूप से कथन करने के कारण विशेषों द्वारा अन्यत्व (भिन्नता) को प्रकाशित करते हैं, दर्शाते हैं। इसप्रकार आत्मा से सम्बद्ध ज्ञान-दर्शन भी आत्मद्रव्य से अभिन्न प्रदेश होने के कारण उनसे अनन्य (एकरूप) होने पर भी, संज्ञा, संख्या आदि कथन के कारणपने के कारण विशेषों द्वारा प्रथकता को प्राप्त होते हैं, परन्तु स्वभाव से सदैव अप्रथकपने को ही धारण करते हैं।

आचार्य जयसेन इस गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में दृष्टान्त सहित गुण-गुणी में कथंचित अभेद बताते हुए उनकी एकता का कथन करते हैं। वे कहते हैं कि ह्व निश्चयनय की अपेक्षा से परमाणुओं में कहे गये वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श गुण प्रदेशों की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य से प्रथक नहीं हैं। और ये ही चारों वर्णादि गुण व्यवहार की अपेक्षा संज्ञा, संख्या आदि भेदों से प्रथक्त्व को भी प्रगट करते हैं।

कवि हीरानन्दजी इस सम्बन्ध में कहते हैं ह्व

( दोहा )

परस वरन रस गन्ध ए, पुद्गल दरब विशेष ।  
दरब माहिं जु अनन्य हैं, अन्य प्रकाशक देख ॥२६५॥  
दरसन-ज्ञान तथा लसै, जीव अनन्य सुभाव ।  
प्रथक्भाव व्यपदेस तैं, निजतैं नहिं प्रकटाव ॥२६६॥

( सवैया इकतीसा )

रूपरस-गन्ध-फास, पुद्गलानुस्वपी हैं,  
एक अविभक्त परदेस तैं कहाये हैं ।  
अनु सो अनन्य संज्ञा व्यपदेस सेती अन्य,  
अन्य परकार तातैं ताही में लहाये हैं ॥  
ऐसैं ही ज्ञान दर्शन सुभाव आत्मा है,  
आप तैं अनन्य देस एकता दिखाये हैं ॥

( 110 )

व्यपदेस आदि भेद तातैं भेदसा दिखाये हैं,

देस भेद बिना दौनों जिननें बताये हैं ॥२६७॥

( दोहा )

जीव दरब गुन कहै दरसन ग्यान अनन्य ।

भेदभाव विवहार मैं बरतै भेद अगम्य ॥२६८॥

उपर्युक्त दोहा २६६ एवं सवैया २६७ में कहा है कि “स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ह्व ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। ये पुद्गल द्रव्य में अनन्यभाव से विद्यमान हैं। दर्शन-ज्ञान ह्व ये जीव के अनन्य स्वभाव हैं। कथन की अपेक्षा इनमें संज्ञा, संख्या आदि भेद हैं, पर ये निज स्वभाव से प्रथक् नहीं हैं।

इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शन है, और ये गुण भी आत्म द्रव्य से अनन्य हैं। कथन की अपेक्षा इनमें संज्ञा, संख्या आदि भेद हैं, पर आत्म वस्तु अभेद हैं ह्व ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

उपर्युक्त दोहा २६८ में कहते हैं कि ह्व दर्शन-ज्ञान जीव द्रव्य के गुण हैं और वे जीव से अनन्य हैं। गुण भेदादि सब व्यवहार से कहे जाते हैं, जो कि अनगिनत हैं।”

इसी भाव को दर्शाते हुए श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “सर्वज्ञ भगवान का मत अनेकान्त है, जो दोनों नये से सिद्ध होता है। इसलिए निश्चय-व्यवहार, भेद-अभेद, गुण-गुणी का विशेष स्वरूप परमागम से जानने योग्य है।

आत्मा दर्शन पर्याय से देखता है एवं ज्ञान पर्याय से जानता है ह्व ऐसा भेद करना व्यवहार है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार आत्मा-द्रव्य सहज शुद्ध चेतन पारिणामिक भावों से युक्त अनादि-अनंत है। स्वाभाविकभाव की अपेक्षा जीव तीनों कालों में टंकोत्कीर्ण अविनाशी है और वहीं जीव उदय, क्षयोपशम व उपशम भावों की अपेक्षा देखें तो सादि-सात है। ●

## गाथा- ५३

विगत गाथा ५१ एवं ५२ में बताया गया है कि ह आत्मा से सम्बद्ध ज्ञान-दर्शन भी आत्मद्रव्य से अभिन्न प्रदेश वाले होने के कारण अनन्य होने पर भी संज्ञादि व्यपदेश के कारणभूत विशेषों द्वारा प्रथक्पने को प्राप्त होते हैं; परन्तु वे स्वभाव से सदैव द्रव्य से अप्रथक् हैं।

अब आगामी तीन गाथाओं में कर्तृत्वगुण का व्याख्यान है, प्रस्तुत गाथा में उन्हीं का उपोद्घात किया जाता है। मूल गाथा इसप्रकार है ह

जीवा अणाइणिहणा संता णंता य जीवभावादो ।

सब्भावदो अणंता, पंचगुणप्पधाणा य ॥५३॥

(हरिगीत)

है अनादि-अनन्त आत्म पारिणामिक भाव से ।

सादि-सान्त के भेद पड़ते उदय मिश्र विभाव से ॥५३॥

जीव पारिणामिकभाव से अनादि-अनन्त है, उदय, उपशम एवं क्षयोपशम भावों की अपेक्षा सादि-सान्त है तथा क्षायिक भाव की अपेक्षा सादि-अनन्त है एवं जीव भाव से भी अनादि-अनन्त है।

यहाँ टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र यह कहते हैं कि ह “जीव सहज चैतन्य लक्षण पारिणामिक भाव से अनादि-अनन्त है तथा औदयिक, औपशमिक एवं क्षायोपशमिक ह इन तीन भावों से सादि-सान्त है और जीव भाव से भी अनादि अनन्त है तथा क्षायिकभाव से सादि-अनन्त है।

यहाँ गाथा में ‘पंचगुणप्पधाणा’ जो कहा ह उससे तात्पर्य यह है कि ह औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक ह इन पाँचों भावों को जीव के पंच प्रधानगुण कहे गये हैं।”

कवि हीरानन्दजी उपर्युक्त भाव को अपनी भाषा में कहते हैं कि ह

( दोहा )

जीव अनादि-निधन कहै, सान्त अनन्त जु भाव ।

सत्ता रूप अनन्त है, पंचमुख्यगुण भाव ॥२६९॥

( सवैया इकतीसा )

सहज चैतन्य पारिणामिक स्वभाव करि,

आदि-अन्त बिना जीव जग में बसतु है ।

औदयिक औपसम छायोपसमिक भाव तातैं,

सादि-सान्त साद्यनन्त छायिक रसतु है ॥

सबही उपाधि गये छायाक प्रगट भाव,

साद्यनन्त बने तीकै मूढ़ता नसतु है ।

सत्ता अनन्ती जीव करम पंक लीन डौले,

पंचभाव भाये सेती ग्यानी ह्वै लसतु है ॥२७०॥

( दोहा )

जीव अभव्य अनन्त हैं, तिनतैं भव्य अनन्त ।

तिनतै बहुरि अभव्यसम भव्य अनन्त महंत ॥२७१॥

पारिणामिक भाव की अपेक्षा जीव अनादि-अनन्त हैं तथा क्षायिकभाव से सादि-अनन्त हैं तथा सत्ता की अपेक्षा अनन्त हैं।

सहज चैतन्य पारिणामिक भाव की अपेक्षा जीव अनादि-अनन्त है। औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा सादि-सान्त तथा क्षायिकभाव की अपेक्षा सादि अनन्त है। जीव की सत्ता अनन्त होते हुए भी कर्म कीचड़ में फँसने से संसार में डोलता है तथा ज्ञानी होकर पंचमभाव के आश्रय सुशोभित होता है।

अभव्य जीव अनन्त हैं, भव्य (मुक्ति की पात्रतावाले) उन अभव्यों से भी अनन्त गुणे अधिक है तथा वे जीव जो भव्य होकर भी अभव्य के समान ही हैं, क्योंकि जिसप्रकार सती विधवा स्त्री के सन्तान की पात्रता



होने पर भी पति के अभाव में कभी सन्तान नहीं होगी, उसीप्रकार के दूरान्दूर भव्य योग्य निमित्तों के अभाव में कभी मुक्त नहीं होंगे ह्व ऐसे जीव उनसे भी अनन्तगुणे हैं।

श्रीकानजीस्वामी इस गाथा के स्पष्टीकरण में कहते हैं कि ह्व

(१) आत्मद्रव्य सहजशुद्ध चेतन पारिणामिक भावों से अनादि-अनन्त हैं। स्वाभाविक भाव की अपेक्षा जीव तीनों कालों में टंकोत्कीर्ण अविनाशी हैं।

(२) जीव सादि-सान्त भी हैं। उदय, उपशम व क्षयोपशम भावों की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं। ये तीनों भाव कर्म की अपेक्षा रखते हैं। समय-समय पर जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्म बँधते हैं एवं छूटते हैं। उन कर्मों की निमित्तापेक्षा वे परिणाम सादि-सान्त हैं।

(३) क्षायिकभाव सादि अनन्त हैं, पारिणामिकभाव अनादि-अनन्त हैं। सत्ता स्वरूप से जीव द्रव्य अनन्त हैं।

जैसे आत्मा का कोई कर्ता नहीं है, उसीप्रकार इन पाँच भावों का भी कोई कर्ता नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में इन्हें 'स्वतत्त्व' कहे हैं। अंत में कहा है कि ह्व विकार रूप होने की जीव की स्वयं की योग्यता है ह्व ऐसा कहकर कर्मों पर से दृष्टि छुड़ाई है तथा अपने स्वभाव पर दृष्टि कराई है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार प्रस्तुत गाथा में आगामी तीन गाथाओं का उपघात किया गया है, जिसमें कहा है कि जीवों को सहज चैतन्य लक्षण पारिणामिक भाव से देखें तो वे अनादि-अनन्त हैं तथा उन्हें ही औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावों से देखें तो वे सादि-सान्त हैं एवं क्षायिकभाव से देखें तो वे सादि-अनन्त हैं। ●

## गाथा- ५४

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व जीवों को सहज चैतन्य लक्षण पारिणामिक भाव से देखें तो वे अनादि-अनन्त हैं तथा उन्हें ही औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिकभावों से देखें तो वे सादि-सान्त हैं एवं उन्हें ही क्षायिकभाव से देखें तो वे सादि अनन्त हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में औदयिक आदि भावों के कारण सादि-सान्तपना और अनादि-अनन्तपना होने में जो विरोध प्रतीत होता है उसका परिहार करते हैं। मूलगाथा इसप्रकार है ह्व

**एवं सदो विणासो असदो जीवस्स हवदि उप्पादो।**

**इदि जिणवरोहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥५४॥**

(हरिगीत)

इस भाँति सत्-व्यय अर असत् उत्पाद होता जीव के।

लगता विरोधाभास सा पर वस्तुतः अवरुद्ध है ॥५४॥

इसप्रकार जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है ह्व ऐसा जिनवरों ने कहा है। जो कि अन्योन्य विरुद्ध होकर भी अविरुद्ध है।

आचार्य अमृतचन्द समय व्याख्या टीका में कहते हैं कि ह्व “जीवों को औदयिक आदि भावों के कारण सादि-सान्तपना और अनादि-अनन्तपना होने में विरोध नहीं आता; क्योंकि वास्तव में पाँच भाव रूप से स्वयं परिणमित होने वाले जीवों के मनुष्यत्वादि औदयिकभाव की अपेक्षा सत् का विनाश होता ही है और देवत्वादि औदयिकभाव की अपेक्षा ही असत् का उत्पाद भी होता ही है। ऐसा कहने से मूलतः सत् का विनाश भी नहीं और असत् का उत्पाद भी नहीं हुआ।

पूर्वोक्त गाथा १९ में कथन के साथ विरोध-सा प्रतीत होने पर भी

वस्तुतः विरोध नहीं है; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय के कथन से सत् का नाश नहीं होता। अतः सत् लक्षण वाले जीव का भी सर्वथा नाश नहीं है। यहाँ पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा सत् का नाश व असत् का उत्पाद कहा है।

यहाँ यद्यपि जीव को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से अनादि-अनन्त व सादि-सान्त कहा गया है; परन्तु ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए कि पर्यायार्थिकनय के विषयभूत सादि-सान्त जीव आश्रय करने योग्य नहीं; अपितु द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत अनादि-अनन्त टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी आत्मा ही आश्रय करने योग्य हैं।

आचार्य जयसेन की टीका का भावार्थ लिखते हुए कहा गया है कि ह जिनवाणी में दो नय कहे हैं (१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिकनय से वस्तु का न तो उत्पाद है और न नाश है। तथा पर्यायार्थिक नय से नाश भी है और उत्पाद भी है। जैसे कि ह समुद्र नित्य-अनित्य स्वरूप है। द्रव्य की अपेक्षा तो समुद्र नित्य है और कल्लोलों की अपेक्षा उपजना-विनशना होने के कारण जल की कल्लोल अनित्य है। इसीप्रकार द्रव्य द्रव्यदृष्टि से नित्य तथा पर्यायदृष्टि से उसकी पर्यायें अनित्य जानना चाहिए।

कवि हीरानन्दजी अपनी काव्य की भाषा में कहते हैं कि ह

( दोहा )

सत् विनसै उपजै असत्, जीवभाव असमान।

यहु विरोध अविरोध है, जिनवर कथन प्रमान ॥२७३॥

( सवैया इकतीसा )

नहीं पंचभावों सों जीव परिणमें सदा,

तातैं औदयिक रूप, पर भाव नासै है।

वेदभाव असाता का ताका उतपात करै,

यामै तो विरोध भावनैक न विकासै है।

दर्व नैन देखे सेती दर्व एक सासुता है,

( 113 )

पर्यय नैन होतासा नासता सा भासै है।

दर्व पर्याय दौ नौ नय का विलास जातैं,

ज्ञानी वस्तुतत्व पावै मोखपास पासै है ॥२७३॥

( दोहा )

दख लखन पर्यजै लखन, जो लखि जानै जीव।

सिवमारग सोई लखै जग में मुगत सदीव ॥२७५॥

यहाँ कवि कहते हैं कि - पर्यायदृष्टि से सत् का नाश एवं असत् का उत्पाद होता है तथा जीव द्रव्य स्वभाव से अविनाशी है।

द्रव्यदृष्टि से देखने पर द्रव्य अविनाशी है तथा पर्यायदृष्टि से वस्तु नाशवान दिखती है। ये दोनों नयों का विलास है। ज्ञानी वस्तु को द्रव्यदृष्टि से देखकर मोक्षमार्ग में अग्रसर होते हैं।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह “भगवान के मत में दो नय कहे हैं ह (१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नय से वस्तु उपजती-विनसती नहीं है। अनादि-अनन्त एक रूप रहती है। तथा पर्यायार्थिकनय से वस्तु में उत्पाद-व्यय होता है। जैसे आत्मा कायम रहकर मनुष्यरूप से मरण देवरूप उत्पन्न होता है।”

तात्पर्य यह है कि ह द्रव्यापेक्षा वस्तु कायम रहकर पर्याय अपेक्षा से परिणमन शील है। इसप्रकार वस्तु अपेक्षा बिना विरुद्ध दिखने पर भी नयों की अपेक्षा अविरुद्ध है।

## गाथा- ५५

विगत गाथा में जो सत् का विनाश एवं असत् का उत्पाद कहा है वह पर्यायार्थिकनय से कहा गया है। द्रव्यार्थिकनय से सत् का नाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता।

प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्य पर्यायार्थिक नय से निमित्त सापेक्ष नारक, तिर्यचादि नामकर्म की प्रकृतियों के निमित्त से सत्भाव का नाश और असत् भाव का उत्पाद होता है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्य

णेरइयतिरियमणुया देवा इदि णामसंजुदा पयडी।  
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं ॥५५॥

(हरिगीत)

तिर्यच नारक देव मानुष नाम की जो प्रकृति हैं।

सद्भाव का कर नाश वे ही असत् का उद्भव करें ॥५५॥

उक्त गाथा में जीव के उत्पाद-व्यय की कारणभूत कर्म उपाधि को दिखाया है। नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव नामों वाली नामकर्म की प्रकृतियों में कहा गया है कि पर्यायार्थिकनय से नारक, तिर्यच, मनुष्य व देव नामक नामकर्म की प्रकृतियाँ सत्भाव का नाश और असत्भाव का उत्पाद करती हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्य “यह जीव के सत्भाव का उच्छेद और असत् भाव के उत्पाद में निमित्तभूत उपाधि का प्रतिपादन है।

जिसप्रकार समुद्ररूप से असत् के उत्पाद और सत् के उच्छेद का अनुभवन न करने वाले ऐसे समुद्र को चारों दिशाओं में क्रमशः बहती हुई हवायें कल्लोलों सम्बन्धी असत् का उत्पाद और सत् का उच्छेद करती हैं

अर्थात् अविद्यमान तरंग के उत्पाद में तथा विद्यमान तरंग के नाश में निमित्त बनती है।

तात्पर्य यह है कि ह्य जीव अपने आत्मीक स्वभावों से उपजता विनशता नहीं है, सदा टंकोत्कीर्ण है; परन्तु उस ही जीव के अनादि कर्मोपाधि के वश से चार गति नामकर्म का उदय उत्पाद-व्यय दशा को करता है।

हिन्दी कवि हीराचन्दजी इसी भाव को काव्य की भाषा में कहते हैं ह्य  
( सवैया इकतीसा )

जैसे जल रासि माहिं-असत् का उत्पाद,

सत् का उच्छेद नाहिं तोयरासि नामी है।

तामें क्रमरूप वहै लहरी-समूह सोई,

उपजै उछेद होइ तोय बिसारमी ॥

तैसें जीवभाव विषैं सत् का उछेद और,

उपजैं असत नाहिं क्रमभाव भामी है।

क्रम में उदीयमान चारों गति नामकर्म,

उदै नास करै भेद जानै सिव गामी है ॥२७७॥

उक्त पद्यों में कवि कहते हैं कि ह्य जैसे जलराशि अर्थात् समुद्र (द्रव्य) में असत् का उत्पाद और सत् का विनाश नहीं होता, बल्कि उसकी पर्याय रूप लहरों में ही पवन के निमित्त उत्पाद-व्यय होता है, वैसे ही जीव भाव में सत् का विच्छेद व असत् का उत्पाद नहीं होता, बल्कि निमित्त सापेक्ष पर्यायों में ही चार गति रूप से उत्पाद व्यय होता है।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी उक्त भावों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ह्य जैसे समुद्र अपने स्वरूप से स्थिर हैं, अपनी उत्पाद-व्यय अवस्था को प्राप्त नहीं होता; परन्तु चारों दिशाओं से हवा के आने पर समुद्र में लहरों का उत्पाद-व्यय होता है। पवन के कारण लहरें नहीं होती। यदि हवा के

कारण हों तो आकाश में लहरें उठना चाहिए। पानी में लहरें उठने की योग्यता है तो हवा को निमित्त कहा जाता है।

इसीप्रकार जीवद्रव्य अपने त्रिकाली शुद्धस्वभाव से उत्पन्न एवं नष्ट नहीं होता; सदा टंकोत्कीर्ण स्वभाव चैतन्य मूर्ति है; परन्तु अनादि कर्मों की उपाधि के निमित्त से, चारों गति नाम कर्मों की उपाधि के निमित्त से, चारों गति नाम कर्मों के उदय से नवीन अवस्था को करता है तथा पुरानी अवस्था का नाश करता है।

यहाँ 'परद्रव्य के वश अर्थात् कर्म के निमित्त से ऐसा हुआ' ऐसा कहना व्यवहार है; स्वयं अपने शुद्ध स्वभाव से चूककर देवादि पर्यायों में उत्पन्न होने की योग्यता कहें तो देवनाम कर्म के उदय को निमित्त कहा जायेगा।

अज्ञानी जीव को भ्रम होता है कि कर्मोदय के कारण जीव स्वर्ग या नर्क में गया, पर ऐसा नहीं होता। जीव की जैसी उपादानगत योग्यता होती है, तब कर्मोदय को निमित्त कहा जाता है।<sup>१</sup>

इस गाथा का तात्पर्य यह है कि ह्व कर्म किसी को राग-द्वेष कराता नहीं है; किन्तु जब जीव स्वयं राग-द्वेष करे तभी राग-द्वेष होते हैं। आत्मा में १४८ प्रकृतियाँ हैं ही नहीं, इसलिए कर्म के ऊपर से लक्ष्य छोड़ देना चाहिए तथा आत्मा वीतराग स्वरूप परम आह्लाद स्वरूप चैतन्य प्रकाश वाला है वही उपादेय है। आत्मा ज्ञाता है ह्व ऐसा जान कर स्व में एकाग्र हो, यही कथन का सार है।

●

( 115 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १४७, गाथा-१५५, पृष्ठ-११७७, दिनांक १९-३-५२

## गाथा- ५६

विगत गाथा में कहा है कि ह्व नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव नामों वाली कर्म प्रकृतियाँ सत्भाव का नाश और असत्भाव का उत्पन्न करती हैं।

अब इस गाथा में कहते हैं कि ह्व उदय से युक्त, उपशम से युक्त और पारिणामिक, क्षय, क्षयोपशम से युक्त जीव के पाँच भाव हैं और उन्हें अनेक प्रकारों में विस्तृत किया जाता है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**उदयेण उवसमेण य खण्ण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।**

**जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु वित्थिण्णा ॥५६॥**

(हरिगीत)

उदय उपशम क्षय क्षयोपशम पारिणामिक भाव जो।

संक्षेप में ये पाँच हैं विस्तार से बहुविध कहे ॥५६॥

उक्त गाथा में कहते हैं कि ह्व उदय से युक्त उपशम से युक्त, क्षय से युक्त, क्षयोपशम भावों से युक्त और परिणाम अर्थात् पारिणामिक भावों से युक्त जीव के पाँच भाव हैं और उन्हें अनेक प्रकार से विस्तृत किया जाता है, अर्थात् भेद करके देखें ये सभी ५३ प्रकार के प्रभेदों में हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में प्रत्येक भाव का अर्थ करते हुए कहते हैं कि ह्व फलदान सामर्थ्य से उद्भव होना उदय है। कर्मों का अनुभव उपशम भाव है, उद्भव तथा अनुद्भव का मिश्ररूप क्षयोपशम भाव है। कर्मों का अत्यन्त वियोग होना अर्थात् आत्यंतिक निवृत्ति होना क्षय है। द्रव्य के स्वरूप की प्राप्ति परिणाम या पारिणामिक भाव है। इसप्रकार जीव के ये पाँच भाव हैं।

इन पाँचों भावों में एक पारिणामिक और चार औपाधिक भाव हैं। अर्थात् उपशमादि चार भाव कर्म सापेक्ष हैं और एक पारिणामिकभाव भावभूत या कर्म निरपेक्ष है। इस पारिणामिक भाव के जो भव्यत्व-अभव्यत्व दो भेद कहें, वे भी कर्म निरपेक्ष हैं। यद्यपि कर्म की अपेक्षा भव्य-अभव्य भाव जाने जाते हैं। जिनके कर्मों का नाश होता है, वे भव्य तथा जिनके कर्मों का नाश नहीं होता वे अभव्य हैं, जिस जीव का जैसा स्वभाव है, वैसा ही होता, इस भव्य-अभव्य स्वभाव-भवस्थिति के ऊपर हैं, कर्म जनित नहीं हैं।

कवि हीरानन्दजी अपनी कविता में कहते हैं ह

( दोहा )

क्षायिक उपसम उदय है, क्षय-उपसम परिणाम।

पंच भाव ए जीवकै, बहुत अरथकै धाम ॥२७९॥

( सवैया इकतीसा )

कर्म-फल उदैरूप औदयिक भाव लसै,

उदै का अभाव भाव औपसम जान्या है।

उदै-अनुउदै दोऊ छय-उप-समभाव,

कर्म के विनास सैती क्षायिक बखान्या है॥

दर्व रूप लसै तातैं सोई परिणाम कहै,

ऐई पाँचौं भाव जीव धारक प्रमान्या है।

चारि हैं अशुद्ध हेय सुद्ध एक छायिक हैं,

सोई उपादेय कालजोग तैं पिछान्या है ॥२८०॥

( दोहा )

इनही पाँचों भाव का करता जीव सदीव।

काललब्धि बलतैं लसै छायिक भाव सुकीव ॥२८१॥

उक्त छन्दों में सर्वप्रथम कवि कहता है कि ह्व जीव के क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि पाँच भाव कहे हैं, जो अपने में गंभीर अर्थ छुपाये हैं।

फिर सवैया छन्द में पाँचों भावों की परिभाषायें दी हैं। तथा कहा है इनमें चार तो अशुद्ध हैं, हेय हैं तथा एक क्षायिक भाव शुद्ध है, वही उपादेय है, जिसे हमने काललब्धि के आने पर पहचान लिया है।

जीव इन पाँचों भावों को सदैव कर्ता है, परन्तु क्षायिकभाव काललब्धि के आने पर प्रगट होता है। इन सबमें एक परम पारिणामिकभाव ही उपादेय है।

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी भावार्थ में कहते हैं कि ह्व “ये पाँच भाव जो जीव के होते हैं, इनमें चार भाव कर्मों के निमित्त से होते हैं, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव तथा क्षायिकभाव ये तीनों भाव उपचार से मोक्ष के कारण हैं। वस्तुतः निश्चयकारण तो द्रव्य है। औदयिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक भाव हेय हैं तथा क्षायिकभाव प्राप्तव्य है तथा चारों भाव कर्म सापेक्ष हैं, तथा पाँचवाँ त्रिकाली स्वभाव पारिणामिक भाव कर्म की अपेक्षा के बिना होता है, अतः वह आश्रय करने की अपेक्षा उपादेय है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में पाँच भावों के स्वरूप एवं उनकी हेयौपादेयता का कथन किया है।



## गाथा- ५७

विगत गाथा में उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और पारिणामिक भावों का संक्षेप में कथन किया है।

प्रस्तुत गाथा में कह रहे हैं कि जीव के विभाव भावों का कर्ता तो जीव स्वयं है तथा निमित्त द्रव्यकर्म हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं ।  
सो तस्स तेण कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढिदं ॥५७॥

(हरिगीत)

पुद्गल करम को वेदते, आतम करे जिस भाव को।

उस भाव का वह जीव कर्ता, कहा जिनवर देव ने ॥५७॥

कर्म को वेदता हुआ जीव जैसे भावों को करता है, वह उन भावों का उस प्रकार से कर्ता है ह ऐसा जिन शासन में कहा है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द कहते हैं कि ह “यह जीव के औदयिकादि भावों के कर्तृत्व प्रकार का कथन है; जीव द्वारा द्रव्य कर्म व्यवहारनय से अनुभव में आता; और वह अनुभव में आता हुआ जीव भावों का निमित्त मात्र कहलाता है। वह निमित्त मात्र होने से जीव द्वारा कर्मरूप से अपना भावकर्मरूप (कार्य रूप) भाव किया जाता है। इसलिए जीव द्वारा जो भाव जिसप्रकार से किया जाता है, उस भाव का उस प्रकार से वह जीव कर्ता है।

कवि हीरानन्दजी इसी बात को काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

दर्वकर्म चैतै जीव लोकविवहार मांहि,

तातैं दर्वकर्म जीव भावों का निमित्त है।

( 117 )

नाना राग-दोष रूप जीवों के विभाव बढै,

ताही का करता जीव जगमांहिं नित्त है।

चारि हैं अशुद्धभाव पर के निमित्त सेती,

एक परिनामी भाव सदा सुद्ध वित्त है।

पर का निमित्त डारि अपना स्वरूप धारि,

सुद्ध भाव करता है, सोई समचित्त ॥२८३॥

( दोहा )

भाव-करम करता रहै, निहचै जीव असुद्ध।

सुद्ध-भाव करतार फुनि, निहचै सुद्ध प्रबुद्ध ॥२८४॥

लोक के व्यवहार में जीवों के भावों में द्रव्य कर्मों को निमित्त कहा है। तथा नाना राग-द्वेष के रूप में जो भाव कर्म हैं, जीव उनका कर्ता है। जगत में जीव के औदयिक आदि चार अशुद्ध भाव हैं तथा एक परिणामिक भाव शुद्ध है, क्योंकि उसे किसी कर्म की अपेक्षा नहीं हैं। निमित्त को नष्टकर तथा अपने स्वरूप को प्राप्त करके जो जीव शुद्ध भाव करता है वह समकित्ता होता है, वीतरागी होता है।

भावार्थ यह है कि ह इस संसारी जीव के अनादिकाल से द्रव्यकर्म का सम्बन्ध है। वह जीव व्यवहारनय से उस द्रव्यकर्म का भोक्ता है। जीव जब जिस द्रव्य कर्म को भोगता है, तब उस ही द्रव्यकर्म का निमित्त पाकर उस जीव के जो चिद्विकार होते हैं, वही चिद्विकार जीव का कार्य है। इस कारण भाव कर्मों का कर्ता आत्मा को कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिन भावों से आत्मा परिणमित होता है, वह उन्हीं भावों का कर्ता होता है।

इस सम्बन्ध में गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी भावार्थ में कहते हैं कि ह

“संसारी जीवों के द्रव्य कर्मों का अनादि से सम्बन्ध है। वे संसारी जीव उन कर्मों में उदय के हर्ष-शोक के परिणाम करते हैं ह्व ऐसा कहा जाता है, जैसे कि - जब जीव रोटी-दाल, भात का उपभोग करते हैं तब उस प्रकार के विकारी परिणामों को जीव भोगते हैं। उसमें वे रोटी, दाल-भात रूप संयोगी पर पदार्थ निमित्त हैं, इसलिए उन पर पदार्थों को भोगते हैं - ऐसा व्यवहार से कहने में आता है।

इसीप्रकार जीव हर्ष-शोक को भोगता है, यह निश्चय है तथा जड़ कर्म को भोगता है, यह उपचार कथन है।<sup>१</sup>”

तात्पर्य यह है कि ह्व कर्म जीव में राग की प्रेरणा कराता नहीं है अर्थात् कर्म के उदय के अनुसार भाव नहीं होते, किन्तु अपनी तत्समय की योग्यता से जैसे अपने परिणाम हों, उन्हीं परिणामों का कर्ता जीव होता है। स्वभावकर्ता तो जीव है ही, किन्तु विकार भी स्वतंत्रपने जीव ही करता है, किन्तु वह विकार जीव का स्वरूप नहीं है। त्रिकाली शुद्ध स्वरूप ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है ह्व ऐसा समझकर उस शुद्ध आत्मा को ही जो उपादेय मानता है, उस यथार्थ दृष्टिवांत को ही धर्म होता है।

इसीप्रकार जीव हर्ष-शोक को भोगता है, यह निश्चय है तथा कर्म को भोगता है, यह उपचार कथन है।



१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १५०, दिनांक २०-३-५२ पृष्ठ-११९५

## गाथा- ५८

विगत गाथा में कहा गया है कि कर्म को वेदता हुआ जीव जैसे भाव करता है वह उस भाव का उस प्रकार से कर्ता होता है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व पुद्गल कर्म के बिना जीव के उदय, उपशम क्षय और क्षयोपशम नहीं होते। इसलिए ये चारों जीवभाव कर्म कृत हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**कम्मेण बिणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।**

**खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥५८॥**

(हरिगीत)

पुद्गलकर्म विन जीव के उदयादि भाव होते नहीं।

इससे कर्म कृत कहा उनको वे जीव के निजभाव हैं ॥५८॥

कर्म बिना जीव को उदय, उपशम, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव नहीं होते। इसलिए ये चारों ही भाव कर्मकृत हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व यहाँ निमित्त मात्र होने से द्रव्य कर्मों को औदयिकादि भावों का कर्तापना कहा है; क्योंकि द्रव्य कर्मों के बिना जीव को औदयिक आदि चार भाव नहीं होते। इसलिए क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा औपशमिक भावों को कर्मकृत कहा है। पारिणामिक भाव तो अनादि-अनंत निरुपाधिक -स्वाभाविक ही है।

यहाँ यह प्रश्न संभव है कि ह्व क्षायिक व उपशम को कर्मकृत किस अपेक्षा से कहा?

**समाधान** यह है कि ह्व क्षायिक भाव भी तो कर्मक्षय द्वारा होता है, इसलिए कर्मकृत हैं तथा औपशमिकभाव कर्म के उपशम से उत्पन्न होने के कारण कर्मकृत ही हैं। इस कारण इन्हें भी कर्मकृत मानना योग्य है।

कवि हीरानन्दजी इन्हीं भावों को काव्य में इसप्रकार कहते हैं ह  
( दोहा )

करम बिना ए होहिं नहिं, उदय और उपसंत ।  
छयोपशम-क्षय जीव कै, तातैं करम करंत ॥२८५ ॥

( सवैया इकतीसा )

करम बिना जीवों कै उदय औ औपशम,  
क्षय औ छयोपसम कहौ कैसैं मानिए ।  
तातैं च्यारों एई दर्व कर्म की अवस्थारूप,  
सुद्ध परिनामवस्था जीव की बखानिए ॥  
इनहीं अवस्था माहिं, जीव-परिनाम जोई,  
सोई भाव कर्मरूप चारों भेद ठानिए ।  
यातैं दर्व कर्म रूप, हेत भावकर्म का है,  
असद्भूत नय तातैं, जग माहिं जानिए ॥२८६ ॥  
( चौपाई )

परिणामिक निरुपाधि कहावै, स्वाभाविक सहभाव दिखावै ।  
लसै अनादि-अनन्त दरवकै, निज परिनाम सरूप सरवकै ॥२८७ ॥  
छायिकभाव करमकै खयतैं सादि अनंत सुभाव अखय तैं ।  
कर्म उदै जब उपसम पावै, तब औपशमिकभाव कहावै ॥२८८ ॥  
ऐसैं करम उदैतैं जानौ, भाव प्रगट औदयिक बखानौ ।  
छय-उपसम फुनि याही विधि है, उदयाभाव समन परिसिध है ॥२८९ ॥  
तातैं करम किये यौं मानी, करम निमित्त लसै परधानी ।  
असद्भूत यहु नय विस्तारा, जानहु जिनवाणी करि सारा ॥२९० ॥  
( दोहा )

इनमें छायिक भाव जो, सादि अनंत कहाय ।  
सोई सम्यकवंत कौ, उपादेय दिखराय ॥२९१ ॥

जीव के उदय, उपशम, क्षय एवं क्षयोपशम ह्ये चारों भाव करम के बिना नहीं होते, इसलिए ये चारों भाव द्रव्य कर्म की अवस्थारूप हो गये हैं। तथा शुद्ध पारिणामिक भाव जीव की अवस्था है।

ये सारे भाव द्रव्य कर्म के हेतु रूप असद्भूतनय से जीव के कहे गये हैं। यह पारिणामिक भाव निरुपाधिक है, अनादि-अनंत है। शेष चार भावों में क्षायिक भाव मोह कर्मों के क्षय से सादि-अनन्त है। कर्म के उपशम से औपशमिक, कर्मों से उदय से औदयिक भाव नाम पाते हैं। यह सब असद्भूतनय का विस्तार है इनमें एक क्षायिकभाव ही सादि-अनन्त है और उपादेय है।

२८७ से २९० तक चार चौपाइयों में पाँचों भावों के नाम एवं अत्यन्त सरल शब्दों में संक्षेप में स्वरूप कहा है, जिसे पद्य में पढ़कर भी जाना जा सकता है, अतः अर्थ नहीं लिखा।

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “इस गाथा में कहा है कि ह्ये जीव को रागद्वेष आदि परिणामों का कर्ता व्यवहारनय से कहा है। कर्म में भी उदय, उपशम, क्षयोपशम व क्षय अवस्थायें होती हैं। द्रव्य कर्म अपनी शक्ति से उस भावरूप परिणमन करते हैं। आत्मा उनका निमित्त पाकर उन पर लक्ष्य कर स्वयं अपने राग-द्वेषरूप परिणाम करता है। निमित्त करवाता नहीं है, बल्कि जीव निमित्त पर लक्ष्य करके स्वयं उसरूप परिणमित होता है।”<sup>१</sup>

यहाँ पारिणाणिक भाव को छोड़कर शेष उक्त चार भावों का कर्ता जीव को व्यवहारनय से कहा गया है, पारिणामिक भाव निरुपाधिक है, कर्म निरपेक्ष स्वाभाविक भाव है, उसे कर्म के उदय, उपशम क्षय क्षयोपशम आदि की अपेक्षा नहीं है, वह अनादि-अनन्त है, शेष चारों भाव कर्म सापेक्ष हैं, क्षायिक भाव में भी कर्म के अभाव की अपेक्षा है अतः वह कर्म सापेक्ष ही है।

( 119 )

## गाथा- ५९

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व कर्म बिना जीव के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम भाव नहीं होते। इसलिए ये चारों भाव कर्मकृत हैं, कर्म निमित्तक हैं।

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि ह्व निश्चय से आत्मा तो अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व भावो जदि कम्म कदो, अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।

ण कुणदि अत्ता किंचि वि, मुत्ता अण्णं सगं भावं॥५९॥

(हरिगीत)

यदि कर्मकृत हैं जीव भाव तो कर्म ठहरे जीव कृत।

पर जीव तो कर्त्ता नहीं निज छोड़ किस्सी पर भाव का॥५९॥

यदि जीव के भावकर्म द्रव्यकर्मकृत हों तो आत्मा भी द्रव्यकर्म का कर्त्ता ठहरे, जो संभव नहीं है; क्योंकि आत्मा तो अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए कहते हैं कि - “यदि औदयिक आदि जीव के भाव द्रव्यकर्म द्वारा किये जाते हों तो जीव उसका (औदयिक आदि रूप भावों का) कर्त्ता नहीं है ह्व ऐसा सिद्ध होता है और जीव का अकर्तृत्व तो इष्ट (मान्य) है नहीं; इसलिए जीव द्रव्यकर्म का कर्त्ता होना चाहिए; किन्तु ऐसा तो हो नहीं सकता; क्योंकि निश्चयनय से आत्मा अपने भावों को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।”

इसी बात को कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह्व

( दोहा )

कर्म करै जो भावकर्म कौं तौ जीव न करतार।

निज स्वभाव तजि और कछु, जीव न करैत्रिकार (ल) ॥२९२॥

( सवैया इकतीसा )

औदयिक आदि जीव के स्वभाव कहै,

जौ तौ दरब कर्म रूप इनका करैया है।

तौ तौ भाव कर्म का करता जीव नाहि सूझै,

भाव का अकरतार लोक का फिरैया है॥

ऐसी सो बने नाहिं, भाव कर्म दुरै जाँहि,

तातै अपने भावों का आप मैं बरैया है।

दर्वकर्म कौन कहौ और याकौ करै कौन,

आनकर्ता जीव पूछै पक्ष का धरैया है॥२९३॥

( दोहा )

गुरु कौ पूछे शिष्य इक, मिथ्यातमकरि वौन।

भाव करम यहु जीव का दरब करम कहौ कौन? ॥२९४॥

उक्त काव्यों का सार यह है कि यदि द्रव्यकर्म ही भाव कर्मों के कर्त्ता है तो जीव के भावों को द्रव्यकर्म का कर्त्ता होना चाहिए, जबकि जीव तो अपने भाव के सिवाय अन्य किसी का कर्त्ता है ही नहीं।

औदयिक आदि भावों को जो जीव का कर्तृत्व कहा सो उन भावों का कर्त्ता तो पुद्गल द्रव्य कर्म है।

यदि भावकर्म का कर्त्ता जीव नहीं है तो भावकर्म का अकर्त्ता जीव लोक में परिभ्रमण क्यों करेगा? नहीं करेगा। इसलिए जब तक जीव संसार में राग-द्वेषमय है, तब तक उसे भाव कर्मों का कर्त्ता मानना उचित ही है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “यदि सर्वथा प्रकार से द्रव्यकर्मों को भावकर्मों का कर्त्ता माना तो जीव भाव कर्म का कर्त्ता कैसे ठहरेगा? तात्पर्य यह है कि ह्व द्रव्यकर्मों को भावकर्मों का सर्वथा कर्त्ता माना जावे तो आत्मा भाव कर्मों का अकर्त्ता हो जायेगा तथा जड़कर्म के कारण विकार होगा तथा जड़ कर्म नष्ट हो तो धर्म हो ह्व ऐसी कर्मों की अधीनता होगी तथा द्रव्य कर्म में निमित्त कौन होगा? इसलिए कर्म के

कारण राग-द्वेष नहीं होते, किन्तु अपने राग-द्वेष-रूप विकारी भाव स्वयं के कारण ही होते हैं और द्रव्यकर्म उनमें निमित्त होते हैं। ऐसा जानना।

तात्पर्य यह है कि ह्र औदयिक आदि विकारी भावों का कर्ता रागी जीव है, कर्म नहीं।

यदि सर्वथा द्रव्यकर्म को ही औदयिक आदि विकारी भावों का कर्ता कहें तो आत्मा विकार का कर्ता ठहरता नहीं है तथा यदि अकेला द्रव्यकर्म ही विकार का कर्ता हो तो आत्मा की पर्याय में संसार सिद्ध नहीं होता।

कोई कहे कि आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता है, इस कारण संसार का अभाव नहीं होगा तो उससे कहते हैं कि ह्र ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म जड़ की पर्याये हैं। जड़ की दशा आत्मा में क्या करें? जड़ तो आत्मा से भिन्न है इसलिए आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है; क्योंकि जीव चेतन द्रव्य हैं वह अपने भावकर्म को छोड़कर अन्य कुछ भी परद्रव्य सम्बन्धी भाव को नहीं करता।

आत्मा अपने में शुभ-अशुभ भाव करता है और सम्यग्दर्शन आदि प्रगट कर सकता है, पर जड़ की क्रिया नहीं कर सकता।”<sup>१</sup>

गाथा ५८ में कर्म का निमित्तपना बताने के लिए कहा था कि कर्म राग-द्वेष आदि भावों का कर्ता है। यहाँ गाथा ५९ में स्पष्ट करते हैं कि औदयिक, उपशम, क्षयोपशम व क्षायिकभाव रूपी कर्म आत्मा के हैं। जिसतरह आत्मा पर का कर्ता नहीं है, उसीप्रकार परद्रव्य भी आत्मा के कर्ता नहीं हैं।

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा है कि ह्र यदि औदयिक आदि जीव के भाव द्रव्यकर्म कृत हों तो जीव भावों का कर्ता नहीं है ह्र ऐसा सिद्ध होगा और जीव का सर्वथा अकर्तृत्व तो अभीष्ट है नहीं, जीव अपने औदयिक आदि भावकर्मों का कर्ता तो है ही।



( 121 )

## गाथा- ६०

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्र यदि जीव के भाव द्रव्यकर्मकृत ही हों तो जीव को द्रव्यकर्मों का कर्ता होना चाहिए, सो यह तो संभव नहीं है, क्योंकि जीव तो अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।

अब प्रस्तुत गाथा में यह कहते हैं कि जीव के रागादि भावों का निमित्त द्रव्यकर्म है। द्रव्यकर्मों के निमित्त कारण भावकर्म होते हैं ह्र ऐसा कहते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्र

**भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि।**

**ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥६०॥**

(हरिगीत)

कर्मनिमित्तिक भाव होते अर कर्म भावनिमित्त से।

अन्योन्य नहिं कर्ता तदपि, कर्ता बिना नहिं कर्म है ॥६०॥

जीवों के भावों का निमित्त द्रव्य कर्म हैं और द्रव्य कर्मों का निमित्त जीव के भाव हैं; परन्तु वास्तव में वे एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं। तथा कर्ता के बिना कर्म होते हों ह्र ऐसा भी नहीं है। अर्थात् कर्ता के बिना कर्म होते भी नहीं हैं।

आचार्य अमृतचन्द कहते हैं कि इस गाथा में जो कहा गया है वह गाथा ५९ में कहे पूर्वपक्ष के समाधान रूप सिद्धान्त है।

वे कहते हैं कि ह्र व्यवहार से निमित्त मात्रपने के कारण औदयिक आदि भावकर्मों का कर्ता द्रव्यकर्म है तथा द्रव्यकर्म का कर्ता जीव का भाव है। निश्चय से जीवभावों का अर्थात् रागादि भावकर्मों का कर्ता न तो द्रव्यकर्म हैं और न द्रव्यकर्मों के कर्ता भावकर्म हैं; क्योंकि निश्चय से जीव के परिणामों का कर्ता जीव है और द्रव्यकर्मों का कर्ता पुद्गल हैं।



कवि हीरानन्दजी उक्त कथन को अपनी भाषा में कहते हैं ह

( दोहा )

भाव करमतैं होत है, करम भावतैं होइ ।

लोकि सही करता नहीं, करता बिना न कोई ॥२९५ ॥

( सवैया इकतीसा )

विवहार नय देखै कारन है दर्व कर्म-

रूप तातैं जीवभाव हेतु दर्वकर्म मान्या है ।

नवा कर्मबन्धन है जीवभाव कारण तैं,

तातैं दर्वकर्म हेतु जीव भाव जान्या है ॥

निहचै सरूप कोई करता काहू का नाहिं,

वस्तु का सरूप वस्तु माहिं पहिचान्या है ।

जीवभाव जीव करै दर्वकर्म कर्म बरै,

ग्याता सुद्ध रूप जानि मिथ्या मोह भान्या है ॥२९६ ॥

( दोहा )

भाव करै सब दरब कौं, दरब करै सब भाव ।

निमित्त नैमित्तिक भाव तैं, सोहे सकल कहाव ॥२९७ ॥

व्यवहारनय से देखें तो भावकर्मों के बंधन में द्रव्यकर्म कारण हैं तथा नये द्रव्य कर्मबंधन में जीवभाव अर्थात् भावकर्म कारण है । इसलिए द्रव्यकर्म का हेतु भावकर्म को माना है ।

निश्चय से देखें तब तो कोई किसी का कर्ता नहीं है, वस्तु का स्वरूप स्वयं वस्तु से हैं ।

जीव का भाव जीव स्वयं कर्ता है और उनका निमित्त पाकर द्रव्यकर्म स्वयं अपनी योग्यता से बंधते हैं । ज्ञाता ने ऐसा शुद्ध स्वरूप समझकर मिथ्यात्व का नाश किया है ।

कवि २९७वें दोहे में कहते हैं कि ह्व भावकर्मों से द्रव्यकर्म तथा द्रव्यकर्मों से भावकर्म बंधते हैं । दो द्रव्यों में ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है ।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी उक्त गाथा के भावार्थ को इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि ह्व निश्चय से जीवद्रव्य अपने भावकर्म-रागद्वेष विकार अथवा अविकारी चेतन भावों का कर्ता है तथा पुद्गलद्रव्य निश्चय से अपने द्रव्य कर्मरूप अवस्था का कर्ता है ।

व्यवहारनय की अपेक्षा से देखें तो जीव द्रव्यकर्म की अवस्था का कर्ता है तथा द्रव्यकर्म जीव के विभाव भाव का कर्ता है । यहाँ जो व्यवहार से कर्ता कहा, वह निमित्त बताने के लिए कहा है । जीव जब रागद्वेष करता है तब रागद्वेष का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वहाँ स्वयं बंधते हैं ह्व ऐसा बताने के लिए यह कहा है कि ह्व जीव ने कर्म बाँधे हैं तथा जब जीव राग-द्वेष करता है तब कर्म का उदय होता है ह्व यह बताने के लिए ऐसा कहा है कि ह्व कर्म के उदय से जीव में विभाव हुआ । कर्म में आत्मा के राग को निमित्त तथा आत्मा के राग में कर्म का निमित्त बताने के लिए ऐसा कथन किया है ।<sup>१</sup>”

इसप्रकार उपादान-निमित्त कारण के भेद से जीव का कार्य व कर्मों का कार्य निश्चयनय व व्यवहारनय द्वारा होता है ।

जीव राग करता है यह कथन निश्चय का है और ‘जीव भाषा बोलता है’ ह्व यह कथन व्यवहारनय का है । ‘भाषा की पर्याय पुद्गल से होती हैं’ ह्व यह निश्चय वचन है तथा ‘भाषा से ज्ञान होता है’ यह व्यवहार वचन है । ‘स्वयं से ज्ञान होता है’ ह्व यह निश्चय है । ‘एक दूसरे से एक दूसरे में कार्य होता है’ ह्व ऐसा मानना अज्ञान है ।

## गाथा- ६१

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व जीव के राग-द्वेष आदि भाव कर्मों का निमित्त द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्म भावकर्मपूर्वक होते हैं ह्व ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, यद्यपि ये निमित्त एक-दूसरे के कर्ता नहीं है, तथापि जब उपादान में स्वयं की योग्यता से कार्य होता है, तब ये निमित्त भी होते ही हैं। इनका ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

अब इस ६१वीं गाथा में कहते हैं कि ह्व अपने भाव को कर्ता हुआ आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता नहीं है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

कुर्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स ।  
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेदव्वं ॥६१॥

(हरिगीत)

निजभाव परिणत आत्मा कर्ता स्वयं के भाव का।

कर्ता न पुद्गल कर्म का यह कथन है जिनदेव का ॥६१॥

अपने स्वभाव को करता हुआ आत्मा वास्तव में अपने भाव का कर्ता है, पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं।

यहाँ अपने स्वभाव का कर्ता जो कहा, उसका अर्थ शुद्ध निश्चय से केवलज्ञानादि स्वभाव का कर्ता समझना तथा अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावों को भी जीव का ही विभाव स्वभाव समझना।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व “निश्चय से जीव को अपने भावों से अभिन्न कारक रूप होने से जीव का ही कर्तृत्व है और पुद्गल कर्मों का अकर्तृत्व है। ऐसा समझना।”

इसी विषय में कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह्व

( दोहा )

निज स्वभाव करता सता, जीव करै निजभाव।

पुद्गल कर्म करै नहीं, यहु जिनवचन लखाव ॥२९८॥

( सवैया इकतीसा )

निहचै कै जीव एक अपना सुभाव करै,

शुद्ध अथवा अशुद्ध जग में सुछन्द है।

पर का स्वरूप तिहुँ कालविषैं नाहिं चरै,

पर का करैया नाहिं चेतना का कन्द है ॥

पर की पर छाँही काँ पर रूप करता है,

आपा-पर-भासमान आत्मा आनंद है।

केवल प्रतच्छ ज्ञानी शुद्ध आत्मा कहानी,

जानी जिन जीव ताकाँ वंदना अमंद है ॥२९९॥

( दोहा )

सुद्ध-असुद्ध सुभाव का, जीव दरब करतार।

पुद्गल दरब कर्म करै, असद्भूत विवहार ॥३००॥

कवि हीरानन्द कहते हैं कि ह्व आत्मा अपने स्वभाव को करते हुए अपने निज स्वभाव का ही कर्ता है, पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं।

यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा अपने केवलज्ञानादि शुद्ध स्वभाव भावों का ही कर्ता है तथापि अशुद्धनिश्चयनय से रागादि अशुद्ध भावों का कर्ता भी कहा जाता है। आगे कहा है कि ह्व निश्चय से जीव अपने शुद्ध अथवा अशुद्ध स्वभाव को करते हुए जग में स्वछन्द रहता है; किन्तु पर का स्वरूप तो तीनकाल में कभी भी नहीं करता। आत्मा पर का कर्ता नहीं है, मात्र चेतना का कंद है, चेतनामय है। आत्मा पर की परछाई से प्रथक् रहता हुआ अपने पराये के भेदज्ञानपूर्वक अपने आनन्द स्वभाव में

मग्न रहता है। शुद्धात्मा के स्वरूप को एवं केवलज्ञान स्वभाव को जिसने जान लिया है, उनकी कवि वंदना करते हैं।

उक्त भावों को व्यक्त करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “यहाँ मूल गाथा में तथा श्री जयसेनाचार्य की टीका में राग-द्वेष परिणामों को जीव का स्वभाव कहा है; क्योंकि आत्मा स्वयं स्वतंत्रपने उक्त राग-द्वेष के भावों को करता है। ‘कर्म के कारण जीव विकार करता है’ ह्व यह तो निमित्त का कथन है। तथा जीव जितनी मात्रा में राग-द्वेष करता है, उतने प्रमाण में जड़कर्म बंधते हैं ह्व ऐसा होते हुए भी जड़कर्म की अवस्था का कर्ता आत्मा नहीं है। जड़ की अवस्था तो जड़ के कारण होती है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि ह्व कर्म के कारण विकार होता है। उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है, आत्मा तो त्रिकाल स्वतंत्र है। उसकी समय-समय होने वाली विकारी या अविकारी पर्यायें भी स्वतंत्र है। यदि एक पर्याय को पराधीन माना जावे तो द्रव्य भी पराधीन हो जायेगा।<sup>१</sup>”

उक्त कथन में स्वामीजी ने जो राग-द्वेष के परिणामों को स्वभाव कहा है, वह एक तो संसारी जीव अपेक्षा से कहा है, दूसरे राग-द्वेष जीव को ही होते हैं, जड़ में नहीं। तीसरे विभाव स्वभाव को भी स्वभाव कहने का व्यवहार है। जैसे अमुक व्यक्ति क्रोधी स्वभाव है आदि।

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा है कि ह्व आत्मा वस्तुतः अपने स्वभाव को करता हुआ अपने भावों का कर्ता है तथा पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं है।



( 124 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १५४, गाथा-६१, पृष्ठ-१२२६ दि. २४-३-५२

## गाथा- ६२

विगत गाथा में ऐसा कहा है कि ह्व अपने स्वभाव-विभाव परिणामों को करता हुआ जीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, पुद्गलमयी द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व कर्म अपने स्वभाव से अपने को करते हैं तथा जीव भी कर्म स्वभावभाव से अर्थात् औदयिक आदि भावों से बराबर अपने को करता है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं ।  
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥६२॥**

(हरिगीत)

**कार्मण अणु निज कार्कों से क्कम पर्यय परिणमं ।  
जीव भी निज कार्कों से विभाव पर्यय परिणमं ॥६२॥**

‘कर्म अपने स्वभाव से अपने को करते हैं और जीव भी कर्म स्वभाव भाव से अपने को करता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र विशेष स्पष्टीकरण करते हुए टीका में कहते हैं कि ह्व निश्चयनय से अभिन्नकारक होने से कर्म व जीव स्वयं स्वरूप से अपने-अपने भाव के कर्ता हैं। एक दूसरे के कर्ता नहीं।

निश्चय से जहाँ कर्म को कर्ता कहा वहाँ जीव कर्ता नहीं है और जीव रूप कर्ता के कर्म कर्ता नहीं है जहाँ कर्मों के कर्तापन है वहाँ जीव कर्ता नहीं है और जहाँ जीव कर्ता है वहाँ कर्मों को कर्तृत्व नहीं।

भावार्थ यह है कि ह्व पुद्गल के परिणामन में पुद्गल ही षट्कारक रूप हैं। (१) पुद्गल स्वतंत्ररूप से द्रव्यकर्म को करनेवाला होने से पुद्गल

स्वयं ही कर्ता है। (२) पुद्गल स्वयं ही द्रव्यकर्म रूप परिणामित होने की शक्ति वाला होने से वह स्वयं ही करण है। (३) पुद्गल द्रव्य कर्मों को प्राप्त करता होने से वह ही कर्म है। (४) अपने में से पूर्व परिणाम का व्यय करके द्रव्य कर्मरूप परिणाम करता होने तथा पुद्गल द्रव्य ध्रुव रहने से पुद्गल स्वयं ही अपादान है। (५) अपने को द्रव्यकर्म रूप परिणाम देता होने से पुद्गल स्वयं ही सम्प्रदान है। (६) अपने आधार से द्रव्यकर्म कर्ता होने से पुद्गल स्वयं ही अधिकरण है।

इसीप्रकार (१) जीव स्वतंत्ररूप से जीवभाव को करता होने से जीव स्वयं ही कर्ता है; (२) स्वयं जीवभावरूप से परिणामित होने की शक्तिवाला जीव स्वयं ही करण है; (३) जीवभाव को प्राप्त करता होने से जीवभाव कर्म है; (४) अपने को जीवभाव देता होने से जीव स्वयं ही सम्प्रदान है; (५) अपने में से पूर्व भाव का व्यय करके (नवीन) जीवभाव करता होने से और जीवद्रव्यरूप से ध्रुव रहने से जीव स्वयं ही अपादान है; (६) अपने में अर्थात् अपने आधार से जीवभाव करता होने से जीव स्वयं ही अधिकरण है।

इसप्रकार, पुद्गल की कर्मोदयादिरूप से या कर्मबंधादिरूप से परिणामित होने की क्रिया में वास्तव में पुद्गल ही स्वयमेव छह कारकरूप से वर्तता है इसलिये उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है तथा जीव की औदयिकादि भावरूप से परिणामित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही छह कारकरूप से वर्तता है इसलिये उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। पुद्गल की और जीव की उपर्युक्त क्रियाएँ एक ही काल में वर्तती हैं तथापि पौद्गलिक क्रिया में वर्तते हुए पुद्गल के छह कारक जीवकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं। वास्तव में किसी द्रव्य के कारकों को किसी अन्य द्रव्य के कारकों की अपेक्षा नहीं होती।

कवि हीरानन्दजी इसी बात को इस प्रकार कहते हैं :ह

( दोहा )

कर्म करै निजभाव कौं, निज सुवाभाव करि लीन ।  
तैसें जीव सदा लसै, निज सुभाव परवीन ॥३०१॥  
निहचै नै कारक छहौं वस्तु अभेद बखान ।  
जो यहु जानै भेद सब सो नर सम्यक्वान ॥३०२॥  
( सवैया इकतीसा )

कर्मरूप पुद्गल है सोई करताररूप,  
पावने कौ जोगि परिनाम रूप कर्म है ।  
कर्मरूप पाइवे की सक्तिरूप करन है,  
कर्मरूप आश्रय का सम्प्रदान धर्म है ।  
एकरूप नासभयै आप ध्रौव्य अपादान,  
आश्रय मान रूप का आधारत्व परम है ।  
एई छहौं कारक सौं कर्म परिनाम लसै,  
निहचै अभेद अंग कर्मरूप सर्म है ॥३०३॥  
( दोहा )

कर्म करमकौं जो करै, अरु अपनैकौं आप ।

कैसें फल आतम लहै, करम देइ फल-ताप ॥३०४॥

उक्त पद्यों में कहा है कि ह जिसप्रकार कर्म निजस्वभाव में लीन रहकर निज भाव के ही कर्ता हैं, उसीप्रकार जीव भी सदैव अपने स्वभाव में ही सुशोभित होते हैं। जो व्यक्ति इस रहस्य को जानते हैं, वे ही सम्यक्त्व के धारी ज्ञानी हैं।

कवि ने सवैया इकतीसा में षट्कारकों का स्वरूप कहा है। अन्तिम दो पंक्तियों में वे कहते हैं कि ह इन ही षट्कारकों से कर्म का परिणामन सोभनीक है, जो कि निश्चय से एक अभेदरूप ही है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी उक्त भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ह्व कर्मरूप से परिणमित हुए पुद्गल स्कंध निश्चय से अपने स्वभाव से यथार्थ जैसे के तैसे अपने स्वरूप को करते हैं। तथा जीवपदार्थ भी अपने स्वरूप द्वारा आपको आपरूप करता है।<sup>१</sup>”

जीव व पुद्गलों में जो अपने-अपने कर्ता कर्म करण अभेद षट्कारक होते हैं; उनके स्वरूप की सविस्तार चर्चा करते हुए श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व इसप्रकार पुद्गल द्रव्य स्वतंत्र रूप से एकसमय में छह कारक रूप से परिणमन करता है। जीव द्रव्य के कारण नहीं परिणमता। इन्हें अभेद षट्कारण कहा; क्योंकि ये पर में नहीं है और जीवादि के षट्कारक उसके अपने कारण होते हैं, वे भी स्वयं के कारण ही होते हैं, पर के कारण नहीं होते। इसीप्रकार पुण्य-पाप के षट्कारक भी अपने-अपने होते हैं।

इसप्रकार इस गाथा के माध्यम से जीव व पुद्गल के स्वतंत्र षट्कारकों की चर्चा की।



१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १५४, गाथा-६७, दिनांक २४-३-५२, पृष्ठ-१२२७

## गाथा- ६३

विगत गाथा ६२ में कहा है कि ह्व कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को करते हैं और वैसा ही जीव भी कर्म स्वभावभाव से (औदयिक आदि भावों से) अपने को करते हैं।

अब इस ६३वीं गाथा में पूर्व पक्ष प्रस्तुत कहते हुए तर्क दिया गया है कि ह्व जब जीव व कर्म में परस्पर अकर्तापन है तो अन्य का दिया फल अन्य क्यों भोगे? मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करोदि अप्पाणं।**

**किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥६३॥**

(हरिगीत)

यदि कम्म करते कम्म को, आत्म करे निज आत्म को।

क्यों कम्म फल दे जीव को, क्यों जीव भोगे कम्म फल ॥६३॥

यदि कर्म कर्म को करे और आत्मा आत्मा को करे तो कर्म आत्मा को फल क्यों देगा तथा आत्मा उसका फल क्यों भोगेगा?

आचार्य अमृतचन्द उक्त भाव का स्पष्टीकरण करते हुए टीका में कहते हैं कि ह्व यदि कर्म और जीव को परस्पर अकर्तापना हो तो ऐसा प्रश्न उत्पन्न होगा कि ह्व अन्य का दिया हुआ फल अन्य क्यों भोगे? पर ऐसा तो है नहीं।

शास्त्रों में तो ऐसा कथन आता है कि ह्व पौद्गलिक कर्म जीव को फल देते हैं और जीव पौद्गलिक कर्मों का फल भोगता है। यदि जीव कर्म को करता ही न हो तो जीव से नहीं किया गया कर्म जीव को फल क्यों देगा? और जीव अपने से नहीं किए कर्म के फल को क्यों भोगेगा? जीव से नहीं किया गया कर्म जीव को फल दे और जीव उस फल को भोगे ह्व यह तो किसी प्रकार न्याययुक्त नहीं है।



इसप्रकार 'कर्म कर्म को ही करता है और आत्मा आत्मा को ही करता है' यह बात सर्वथा सही नहीं है। इसके निराकरण के लिए अगली गाथा कहेंगे।

कवि हीरानन्दजी इसी बात को इसप्रकार कहते हैं ह  
( दोहा )

करम करम कौं जो करै, अरु अपने कौं आप।  
कैसेँ फल आतम लहै, करम देइ फल ताप ॥३०४॥  
( सवैया इकतीसा )

जैसेँ के पुद्गलाणु अपना करम करै,  
और की अपेक्षा नाहिं वस्तुरूप लागे है।  
ऐसेँ ही आतम आप भाव सुद्धासुद्ध करै,  
पर की अपेक्षा नाहिं आपरूप जागै है।  
आनकर्म आनफल ताका भोगवत हारा,  
आन कहौ कैसे बने साँचा अंग भागै है।  
स्याद्वाद जैनी जीव वस्तु जथा थान साधै,  
निहचै विवहारी कै वस्तु तत्त्व आगे है ॥३०५॥

दोहा नं. ३०४ में पूर्वपक्ष की ओर से कहा है कि ह यदि करम अपना कार्य करे तथा जीव अपना कार्य करे तो करम का फल आत्मा कैसे प्राप्त करे? और कर्म आत्मा को फल क्यों कर देवे?

आगे यह कहा है कि ह "इसप्रकार अन्य कर्म करे और अन्य फल भोगे ह ऐसा कैसे संभव है? जैन तो स्याद्वादी हैं, अतः वे तो वस्तु अपेक्षा लगाकर यथार्थ स्वरूप सिद्ध करते हैं, निश्चय व्यवहार की अपेक्षा लगाकर वस्तुतत्त्व साधते हैं।

इस गाथा को स्पष्ट करते हुए सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी प्रश्न-उत्तर के रूप में कहते हुए प्रश्न करते हैं कि ह "रूपी कर्म अपने रूपी स्वरूप का कर्ता है तो अरूपी आत्मा जड़ स्वरूप रूपी कर्मों को कैसे भोगे? तथा जड़कर्म चैतन्य स्वरूप अरूपी आत्मा को कैसे फल देवे?

समाधान करते हुए वे स्वयं कहते हैं कि ह निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा जिसप्रकार किसी भी प्रकार से कर्म को भोगता नहीं है, उसीप्रकार

कर्म भी आत्मा को फल नहीं देता, किन्तु आत्मा जब अपने अज्ञान के कारण राग-द्वेष के परिणाम करता है तब परपदार्थों को सुख-दुःख दाता मान लेता है तथा ऐसा कहता है कि कर्मों ने फल दिया है।

अज्ञानी जीव को आत्मा व पर पदार्थों की खबर नहीं है, इसकारण वह मानता है कि ह 'मैं इन जड़ पदार्थों को भोगता हूँ।' छुरी लगने पर अज्ञानी छुरा का अनुभव नहीं करता, बल्कि राग-द्वेष का अनुभव करता है। कहते हैं कि ह 'जब किसीका अग्नि में हाथ पड़ जावे तो वह अग्नि का अनुभव नहीं करता, उसके प्रति अपने राग-द्वेष का ही अनुभव करता है। यदि पर पदार्थ के (इष्ट-अनिष्ट) संयोग के कारण दुःख हो तो केवली भगवान को दुःख होना चाहिए; क्योंकि वे तो सब जानते हैं, समुद्घात के समय वे नरक में भी जाते हैं तो भी उन्हें दुःख नहीं होता; क्योंकि उन्हें राग-द्वेष नहीं है। अज्ञानी को भी पर के कारण दुःख नहीं है, शरीर में रोग आने पर वह ऐसा मानता है कि 'मुझे रोग आया, इसलिए दुःखी हूँ। रोग के प्रति वह जो द्वेष अनुभवता है, उसका उसे दुःख है।

यदि जीव स्वयं को पर से जुदा माने एवं ऐसा माने कि विकार क्षणिक है। मैं तो शुद्ध चैतन्य द्रव्य हूँ ह ऐसा भान करे तो धर्म हो; किन्तु अज्ञानी को शुद्ध चैतन्य स्वभाव का भान नहीं है, इसकारण वह विपरीत मान्यता करता है। बिच्छू काटने पर उसके डंक का अनुभव नहीं करता; किन्तु द्वेष का अनुभव करता है।"

इसप्रकार इस गाथा में कहा है कि ह अपने राग-द्वेष का परिणाम करते हुए तथा उन राग-द्वेष को पर के कारण हुए मानकर अज्ञानी पर रूप अनुभव करता है। किन्तु जड़ पदार्थ से आत्मा जुदा है, ऐसा नहीं मानता। इसकारण वह अज्ञान व राग-द्वेष का अनुभव करता हुआ ऐसा मानता है कि ह 'मैं परपदार्थों को भोगता हूँ। कर्मों ने मुझे फल दिया और मैं उस फल को भोगता हूँ' ह ऐसा मान रहा है। उस समय भी जो परिणाम करता है, वे परिणाम भी स्वयं से ही करता है, कर्मों के कारण नहीं करता, किन्तु कर्मों ने फल दिया और मैं उन्हें भोगता हूँ ह ऐसा मानकर परद्रव्य सम्बन्धी सुख-दुःख मान लेता है।

## गाथा- ६४

विगत गाथा में प्रश्न किया गया है कि ह्व यदि कर्म कर्म को करे और आत्मा आत्मा को करे, दोनों अपना-अपना कार्य करते हैं तो कर्म आत्मा को फल क्यों देगा? और आत्मा उसका फल क्यों भोगेगा?

अब इस गाथा में समाधान करते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व  
ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।  
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं ॥६४॥

(हरिगीत)

करम पुद्गल वर्गणायें अनन्त विविध प्रकार कीं।  
अवगाढ-गाढ-प्रगाढ हैं सर्वत्र व्यापक लोक में ॥६४॥

तीनों लोक सर्वत्र विविध प्रकार के अनन्तान्त सूक्ष्म और बादर पुद्गलकाय से अवगाहित होकर भरा हुआ है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में ऐसा कहते हैं कि ह्व कर्मयोग्य पुद्गल अर्थात् कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध अंजनचूर्ण से भरी हुई डिब्बी की भाँति समस्त लोक में व्याप्त हैं, इसलिए जहाँ आत्मा है वहाँ कहीं से लाये बिना वे पुद्गलस्कन्ध स्थित हैं। अतः बिना किए परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से कर्म का फल भोगेंगे ॥६४॥

इसी बात को कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह्व

( दोहा )

सूक्ष्मबादर भेद करि, नंतानन्त प्रकार।  
विविध भाँति पुग्गल खचित, सकल लोक अनिवार ॥३०७॥

( सवैया इकतीसा )

जैसैं के अंजनचूर संपुट संपूरन में,  
रीति ठौर कोई नाहिं अंजन घनाई है।  
तैसैं कर्म लाइक कैं पुग्गल समूहभया,  
लोकाकास भासमान सबतैं सुहाई है।  
ऐसैं लोकाकास मांहिं आत्मा जहाँ है तहाँ,  
पुद्गल समूह रास बनी ही बनाई है।  
या तैं जीव कर्म दोनों एकमेक एकै ठौर,  
जैनी जिनवाणी जानि सांची बात पाई है ॥३०८॥

( दोहा )

छहाँ दरवकरि सरव नभ, व्यापक अति अवगाढ।  
परत्वभावकरि बढत नहिं, निज-सुभावकरि बाढ ॥३०९॥

यहाँ कवि का कहना है कि सूक्ष्म एवं बादर (स्थूल) के भेद से पुद्गल अनेक प्रकार के हैं। सम्पूर्ण लोक में विविध प्रकार के पुद्गल भरे हुए हैं।

आगे कहा कि ह्व जैसे कि अंजन की डिब्बे में अंजन ठसाठस भरा है, किंचित् भी जगह खाली नहीं है, उसीप्रकार लोक में पुद्गल समूह भरे हुए हैं। सम्पूर्ण लोकाकास में जहाँ आत्मा है वहीं पुद्गल की राशि विद्यमान हैं। इसलिए जीव व कर्म ह्व दोनों एक ही जगह एकमेक भरे हुए हैं।

इस संदर्भ में गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “तीनों लोक पुद्गल स्कन्धों के द्वारा भरपूर भरे हुए हैं। वे पुद्गल परमाणु अतिसूक्ष्म हैं तथा अतिबादर भी हैं एवं अपरिमित संख्या वाले हैं। और वे परमाणु व स्कंध के भेद से अनेक प्रकार के हैं।

तीनों लोकों में जीव भरे हुए हैं; कोई भी जगह जीवों से खाली नहीं

है। इसीप्रकार पुद्गल स्कन्ध भी अतिप्रगाढ़ रूप से भरे हुए हैं। वे अतिसूक्ष्म भी हैं और अति स्थूल भी हैं। उनकी संख्या भी अमाप है। दो परमाणुओं के स्कन्ध से लगाकर अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध अनेक विचित्रता लिए हुए हैं। औदारिक, कार्माण एवं तैजस शरीर के परमाणुओं के स्कन्ध भी ठसाठस भरे हुए हैं।

जिसतरह जगत में मकानों का प्लास्टर जुदी-जुदी जाति का होता है वह अपने-अपने कारण से होता है, कारीगर से नहीं होता, उसीप्रकार अनेक प्रकार की विचित्रता वाले परमाणु के स्कन्ध स्वयं के कारण होते हैं, अन्य के कारण नहीं।

निगोदिया जीव चाहे नीचे हों या सिद्धशिला पर हों तो भी कर्म बाँधते ही हैं तथा कर्मों का नाश कर सिद्धशिला में रहने वाले सिद्ध (मुक्त) जीव कर्म नहीं बाँधते। केवली समुद्घात करते समय जहाँ केवली हैं, वहीं निगोद के जीव भी हैं। केवली भगवान को योग के कारण एक समय को कर्म आते हैं और दूसरे समय खिर जाते हैं तथा उसी स्थान पर रहनेवाले निगोदिया जीव मोहनीय कर्म का बंध करते हैं। एक ही क्षेत्र में रहने वाले मुनि अमुक बंध बांधते हैं तथा अज्ञानी अन्य प्रकार के कर्म बांधते हैं।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में कहा है कि ह्र जीवों की पात्रता एवं धर्म एवं अधर्म के भावों के आधार पर कर्मों का बन्ध एवं निर्जरा आदि होते हैं, क्षेत्र के कारण नहीं। तथा गाथा में भी यही कहा है कि ह्र तीनों लोक सर्वत्र विविध प्रकार के अनन्तानन्त सूक्ष्म और बादर पुद्गलों से भरा है।

●

( 129 )

### गाथा- ६५

विगत गाथा में कहा है कि ह्र कर्म योग्य पुद्गल वर्गणायें अंजनचूर्ण से भरी हुई डिब्बी के समान समस्त लोक में व्याप्त हैं, इसलिए जहाँ आत्मा है, वहीं कहीं से लाये बिना ही वे सूक्ष्म व स्थूल पुद्गल वर्गणायें भी स्थित हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्र जब आत्मा अपने भाव को करता है, तब वहाँ रहने वाले पुद्गल अपनी तत्समय की योग्यता से जीव में अवगाहरूप से प्रविष्ट होकर कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्र

**आत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोगला सभावेहिं।**

**गच्छंति कम्मभावं अण्णण्णोगाहमवगाढा ॥६५॥**

(हरिगीत)

**आतम क्खे क्रोधादि तब पुद्गल अणु निजभाव से।**

**कम्मत्व परिणत होंय अर अन्योन्य अवगहान क्खे ॥६५॥**

आत्मा जब अपने मोहराग-द्वेषरूप भावों को करता है, तब वहाँ रहनेवाले पुद्गल कर्म अपने भावों से जीव में विशिष्ट प्रकार से अन्योन्य अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द समय व्याख्या टीका में यह बताते हैं कि ह्र “अन्य द्वारा किये बिना कर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?

आत्मा वास्तव में संसार अवस्था में पारिणामिक चैतन्य स्वभाव को छोड़े बिना ही अनादि बन्धन वद्ध होने से अनादि मोह-राग-द्वेष द्वारा रागादि अविशुद्ध भावों से परिणमित होता है। वह संसारी आत्मा जहाँ और जब अपने भावों को राग-द्वेष रूप करता है, वहाँ और उसी समय उसी भाव को निमित्त बनाकर कार्माणवर्गणायें परस्पर अवगाह रूप से प्रविष्ट हो कर्मपने को प्राप्त होती हैं।

इसप्रकार जीव द्वारा किये बिना ही पुद्गल स्वयं कर्मरूप से परिणमित होते हैं।”

कवि हीरानन्दजी इस गाथा के भाव पद्य में प्रस्तुत करते हैं ह

( दोहा )

निज सुभाव आतम करै, पुग्गल सहज सुभाव ।

करमभाव करि परिनवै, एकै खेत रहाव ॥३१०॥

( सवैया इकतीसा )

संसारी अवस्था में जीव चेतना बिहारी,

आदि अन्त बिना, मोह-राग-दोष भस्या है।

चीकनै असुद्ध भाव, जाही समै करै जीव,

ताही समय कर्ता ह्वै लोकभाव धर्या है ॥

ताही कौ निमित्त मानि जीव परदेस विसै,

कर्मपुंज लगै गाढ़ एक भाव कर्या है ।

अपने सुभाव न्यारै एकभाव धारै लसै,

स्याद्वाद वाणी हीतैं जीवलोकतर्या है ॥३११॥

( दोहा )

निहचै करि जो देखिये, वस्तु सरब निज रूप ।

पर स्वरूप धारक नहीं, पैविवहार अनूप ॥३१२॥

उक्त काव्यों में कवि का कहना है कि ह्व आत्मा और पुद्गल दोनों एक ही क्षेत्र में रहकर अपने-अपने स्वभाव में रहते हैं। पुद्गल करम अपने जड़ भाव से परिणमन करते हैं तथा आत्मा अपने ज्ञानभाव से परिणमता है।

आगे सवैया में कवि कहते हैं कि ह्व संसारी अवस्था में चेतना विहारी जीव अनादि से मोह-राग-द्वेष से भरा है। जब जीव रागादि

अशुद्ध भाव करता है, उसी समय पर का कर्ता बनकर संसारी भाव को धारण करता है। उस कर्तृत्वभाव का निमित्त पाकर जीव को कर्मबंध होता है तथा जीव जब अपने स्वभाव को धारण करता है, तब स्याद्वादवाणी के आश्रय से तर जाता है। निश्चय से देखें तो वस्तु अपने स्वरूप ही है, पर रूप का धारक नहीं है; किन्तु व्यवहार से संसारावस्था में मोही-रागी-द्वेषी है।

इस संदर्भ में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “आत्मा संसार अवस्था में अनादिकाल से परद्रव्य के निमित्त से मिथ्यात्व रागादि भावों रूप परिणम रहा है। आत्मा पर से जुदा हैं ह्व ऐसा भान किए बिना अशुद्ध भाव रूप से परिणमता है। आत्मा स्वभाव से तो अरूपी शुद्ध चैतन्य स्वभावी हैं तथा संसार अवस्था में कर्म संयुक्त रूपी एवं जड़स्वभावी हैं।

यद्यपि जीव व कर्म दोनों भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु शरीर, कर्म और कुटुम्ब मेरे हैं ह्व ऐसे मिथ्यात्व के कारण अपने चैतन्य स्वभाव से चूकने की भूल से एवं पर के लक्ष्य से स्त्री-पुत्र-कर्म व जड़ शरीर मेरा है एवं मैं उनका हूँ ह्व ऐसे अज्ञानभाव से जीव मोह-राग-द्वेष रूप परिणमता है।

आत्मा स्वभाव से जड़ कर्म, जड़ शरीर एवं चिद्विकार से जुदा है ह्व अबतक ऐसा भेद नहीं किया। अनादिकाल से निगोद से लेकर सब संसारी जीव स्वयं के कारण जब विभावरूप परिणमन करते हैं और कर्म भी स्वयं के कारण स्वतंत्रपने बंधते हैं, क्योंकि ज्ञानी ज्ञानभाव का कर्ता है तथा अज्ञानी अपने अज्ञान भाव कर्ता है न! इस तरह जड़ व चेतन की दोनों क्रियायें स्वतंत्र हैं।”

( 130 )

अज्ञानी को ऐसी वस्तु की स्वतंत्रता की खबर नहीं है। अतः वह ऐसा मानता है कि ह्व मेरे कारण शरीर चलता है एवं शरीर से आत्मा में कार्य होते हैं? उसे यह भी खबर नहीं है कि ह्व जीव में जो रागादि भाव होते हैं, उनका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें स्वयं अपनी उपादान शक्ति से आठ कर्म रूप होते हैं तथा वे परमाणु उन कर्मों के कर्ता होती हैं। जीव उन कर्मों का कर्ता नहीं है। कर्म अपने स्वयं के कारण कर्म रूप परिणमते हैं। वे अपने में उपादान कारण हैं तथा जीव के राग-द्वेष उनमें निमित्त होते हैं।<sup>१</sup>”

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि ह्व जब जीव अपनी तत्समय की योग्यता से रागादि अशुद्ध भाव करता है, उस समय वहीं पर स्थित कार्माण वर्गणायें अपनी स्वतंत्र योग्यता से कर्मरूप होकर परिणमित होती हैं। ह्व दोनों में ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सहज सम्बन्ध है।

यद्यपि उस सरला की सहेली ने निजानन्द की नाराजगी के भय से यह बात सरला के मुँह पर कहने की हिम्मत तो नहीं की; फिर भी यह बात किसी तरह सरला के कान में पड़ ही गई। इसी से तो लोग कहते हैं कि - ‘दीवारों के भी कान होते हैं।’ अतः ऐसी बात कहना ही नहीं चाहिए, जिस बात को किसी से छिपाने का विकल्प हो और प्रगट हो जाने का भय हो।’ जो भी बातें कहो, वे तौल-तौल कर कहो, ऐसा समझ कर कहो, जिन्हें सारा जगत जाने तो भी आपको कोई विकल्प न हो, भय न हो; बल्कि जितने अधिक लोग जाने, उतनी ही अधिक प्रसन्नता हो।

— सुखी जीवन, पृष्ठ-३१

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, नं. १५६, गाथा-६५, दि. २६-३-५२, पृष्ठ-१२४० से ४३

## गाथा- ६६

विगत गाथा में कहा है कि ह्व आत्मा जब मोह-राग-द्वेषरूप भाव करता है तब वहीं स्थित पुद्गल वर्गणायें अपने स्वभाव से जीव के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व कर्मों की विचित्रता (बहु प्रकारपना) अन्य द्वारा नहीं की जाती। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**जह पोग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती ।  
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥६६॥**

(हरिगीत)

ज्यों स्कन्ध रचना पुद्गलों की अन्य से होती नहीं।

ज्यों कर्म की भी विविधता परकृत कभी होती नहीं ॥६६॥

जिसप्रकार पुद्गल द्रव्यों की अनेक प्रकार की स्कंधरचना पर के किए बिना ही होती दिखाई देती है, उसीप्रकार कर्मों की बहु प्रकार की संरचना पर से अकृत ही होती है।

समयव्याख्या टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्रजी कहते हैं कि ह्व “कर्मों की विचित्रता अन्य द्वारा नहीं की जाती ह्व ऐसा यहाँ कहा है।

जिसप्रकार चन्द्रसूर्य प्रकाश की उपलब्धि होने पर संध्या, बादल, इन्द्रधनुष आदि अनेक प्रकार के पुद्गल स्कन्धों के भेद अन्य कर्ता की अपेक्षा बिना ही उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अपने योग्य जीव परिणाम की उपलब्धि होने पर ज्ञानावरणादिक अनेक प्रकार के कर्म भी अन्य कर्ता की अपेक्षा बिना ही उत्पन्न होते हैं।

( 131 )

तात्पर्य यह है कि ह्व कर्मों की विविध-प्रकृति, प्रदेश स्थिति अनुभाग रूप विचित्रता भी जीवकृत नहीं है, पुद्गलकृत ही हैं ॥६६॥



कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( दोहा )

जैसें पुद्गल दरब कै, सहजि बहुत परकार ।  
जैसे करम समूह है, बिना और करतार ॥३१३॥

( सवैया इकतीसा )

जैसें नभ माँहि चन्द-सूरज का निमित्त पाय,  
नानाकार रूप होई अनदर्व पूरै है ।  
कहूँ साँझ फूले कहूँ वादर अनेक रूप,  
इन्द्र का धनुष परिवेष चन्द-सूर है ॥  
तैसे कारमन पुंज लोकाकास माहि भरै हैं,  
करै काहु नाहिं सदा साहजीक नूर है ।  
जीव का निमित्त पाय, आठकर्मरूप होइ,  
वस्तु का स्वभाव और मानै सोई-कूर है ॥३१४॥

( दोहा )

सोई वस्तु-सुभाव है, जो परभाव न लेइ ।  
पर मिलाप यद्यपि लसै, तदपि आपरस देइ ॥३१५॥

जिसप्रकार पुद्गल द्रव्य सहजभाव से स्वयं ही अनेक प्रकार से परिणमित होता है, उसीप्रकार कर्म समूह भी सहज ही बिना कर्ता के स्वयमेव परिणमनशील है ।

जिसतरह आकाश में चन्द्र एवं सूर्य का निमित्त पाकर अणु स्वयं नाना रूप से परिणमता है तथा जिसप्रकार आकाश में इन्द्र धनुष के रूप में जो आकृति बनती है, वह स्वतः हो सकती है, उसीप्रकार आकाश में जो कार्माण समूह भरे हुए हैं, उन्हें किसी ने बनाया नहीं है । वे जीव के भावों

का निमित्त पाकर आठ कर्म के रूप में स्वतः परिणमित होकर रहते हैं । यही वस्तु का स्वरूप है ।

इसी बात को गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “जैसे पुद्गल द्रव्यों के नाना प्रकार के भेदों से परिणत स्कन्ध अन्य द्रव्यों के द्वारा न किए जाकर अपनी स्वयं की शक्ति से उत्पन्न हुए स्कन्धों के रूप में देखे जाते हैं, वैसे ही कर्मों की विचित्रता है ।

जिसतरह पुद्गलद्रव्य के जो अनेक प्रकार के स्कन्ध देखे जाते हैं, वे स्कन्ध स्वयं के कारण हुए हैं, आत्मा के कारण या अन्य किसी दूसरे द्रव्यों के कारण नहीं, उसीप्रकार कर्मों की विचित्रता समझना । यद्यपि जितनी मात्रा में जीव राग करता है, उतनी मात्रा में ही कर्म बँधते हैं तो भी जीव जब उनका कर्ता नहीं है तो फिर जीव शरीर का या बाह्य पदार्थों का कर्ता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता ।<sup>१</sup>”

सम्पूर्ण कथन करने का तात्पर्य यह है कि ह कर्मों की जो विचित्रता है, प्रकृति, प्रदेश आदि रूप से बहुप्रकरता है, वह प्रकृति-प्रदेश-स्थिति एवं अनुभागरूप विचित्रता जीवकृत नहीं है, पुद्गलकृत ही है ।

## गाथा- ६७

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व जिसप्रकार पुद्गल द्रव्यों की अनेक प्रकार की स्कन्ध रचना पर से किए बिना ही होती दिखाई देती है, उसीप्रकार कर्मों की बहु प्रकरता भी पर से अकृत है।

प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व कर्मों की विचित्रता (बहु प्रकारता) अन्य द्रव्यों से नहीं की जाती। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

जीवा पोगलकाया अण्णण्णोगाढगहणपडिबद्धा।

काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं देंति भुज्जन्ति॥६७॥

(हरिगीत)

जीव अर पुद्गलकरम, पय-नीरवत प्रतिबद्ध हैं।

करम फल देते उदय में जीव सुख-दुःख भोगते॥६७॥

जीव और पुद्गलकाय परस्पर अवगाह्य से एक-दूसरे से बद्ध हैं, काल से पृथक् होने पर कर्म सुख-दुःख देते हैं एवं जीव भोगते हैं।

आचार्यश्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व “निश्चय से जीव और कर्म को निज-निज रूप का ही कर्तृत्व है, तथापि व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि ह्व ‘जीव को कर्मफल देते हैं और जीव कर्मफल को भोगता है, ऐसा कहना अनुचित नहीं है, क्योंकि यह कथन परस्पर विरोधी नहीं है।’

जीव में मोह-राग-द्वेष की स्निग्धता (चिकनाई) के कारण तथा पुद्गल स्कन्ध स्वभाव से ही स्निग्ध होने के कारण परस्पर बद्धरूप से रहते हैं। जब वे परस्पर पृथक् होते हैं तब उदय पाकर खिर जाने वाले पुद्गल कर्म सुख-दुःख रूप आत्मपरिणामों के निमित्त मात्र होने की अपेक्षा निश्चय से और इष्टानिष्ट विषयों के निमित्त मात्र होने की अपेक्षा

व्यवहार से सुख-दुःखरूप फल देते हैं तथा जीव निमित्तमात्रभूत द्रव्यकर्म से निष्पन्न होनेवाले सुख-दुःख रूप आत्मपरिणामों के भोक्ता होने की अपेक्षा निश्चय से तथा इष्टानिष्ट विषयों के भोक्ता होने की अपेक्षा व्यवहार से सुख-दुःखरूप फल भोगते हैं।”

इसी गाथा में कवि हीरानन्दजी काव्य की भाषा में कहते हैं ह्व

( दोहा )

जीव और पुद्गल दुहू, आपस मैं मिलि एक।

कालपाय बिछुरै दुहू, दाता भुगता टेक॥३१६॥

( सवैया इकतीसा )

मोह-राग-द्वेष तीनों जीव चिकनाई ए है,

नेह रूक्ष चिकनाई अनु कै अनूप है।

बंध की अवस्था में दोनों मिलि एकमेक,

अवगाहकारी तातैं बंधै अंधकूप है॥

थिति पूरी होतनासै भासै सुख-दुःखरूप,

निश्चै-विवहार देसै अनु का स्वरूप है।

जीव निहचै सुभाव विवहारी विषैभाव,

दौनों भाव भोगी लसै जानै सोई भूप है॥३१७॥

कवि के कहने का अर्थ यह है कि ह्व जीव और पुद्गल दोनों परस्पर में मिलकर एक हो जाते हैं तथा समय पाकर बिछुड़ते हैं तथा सुख-दुःख देते भी हैं और भोगते भी हैं, अर्थात् पुद्गलकर्म दुःख देते हैं और जीव भोगते हैं।

मोह-राग-द्वेष जीव की चिकनाई है तथा ह्व स्नेह-रूक्ष अणु की चिकनाई है, बंध की अवस्था में दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। जब ये स्थिति पाकर परस्पर पृथक् होते हैं तब कर्म के रूप में पुद्गल स्कन्ध फल देते हैं और जीव भोगते हैं। जो दोनों के ज्ञाता रहते हैं वे ही ज्ञानी हैं, चैतन्यराज हैं।”

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “जो जीव द्रव्य के और पुद्गलास्तिकाय के प्रदेश पुंज अनादिकाल से परस्पर अत्यन्त सघन मिलाप से बन्ध अवस्था को प्राप्त हैं, वे ही जीव एवं पुद्गल उदयकाल की अवस्था में अपना रस देकर खिरते हैं। तब कर्म साता असाता के रूप सुख-दुःख देते हैं और जीव भोगते हैं।

निश्चय से तो आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है, परन्तु वह जब अपने स्वभाव से चूककर विकार भाव करता है, तब पुद्गल वर्णायें अपने कारण कर्मरूप से परिणमित होती हैं तथा ये कर्म वर्णायें जीव को अनादिकाल से घने रूप में बाँध लेतीं रही हैं, अर्थात् अनादिकाल से जीव और कर्म एक क्षेत्रावगाह रूप से रह रहे हैं।

आत्मा आत्मा रूप से तथा जड़ जड़ रूप से परस्पर कर्मरूप होते हैं। किसी एक कारण दूसरे का परिणामन नहीं है। जब पुद्गलकर्म अपना रस (अनुभाग) देकर खिर जाते हैं तब साता या असाता संयोग की प्राप्ति जीव को होती है। अज्ञानी जीव उनमें भले-बुरे की कल्पना करते हैं। इसकारण वे कर्मों के फल को भोगते हैं। ऐसा कहा जाता है।

किसी को पैसा मिले, किसी को रोग हो, किसी के पुत्र की मृत्यु हो, किसी को सर्प काटे ह्व ये सब प्रसंग स्वयं के कारण होते हैं तथा पापकर्म का उदय उसमें निमित्त होता है तथा जो जीव अपने राग से हर्ष-शोक करता है, वह उस जनित दुःख को भोगते हैं। ह्व ऐसा कहा जाता है।<sup>१</sup>”

तात्पर्य यह है कि ह्व शुभ-अशुभ बाह्य पदार्थों में कर्म निमित्त कारण हैं। सबको कर्म के अनुसार संयोगों की प्राप्ति होती है, किन्तु अज्ञानी पर में सुख-दुःख की कल्पना करता है, जो यथार्थ नहीं है।

●

( 134 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, नं. १५८, गाथा-६७, दिनांक २७-३-५२, पृष्ठ-१२४५

## गाथा- ६८

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय अन्योन्य ग्रहण द्वारा परस्पर बद्ध हैं, जब वे परस्पर प्रथक् होते हैं तब उदय पाकर खिर जाने वाले पुद्गल आत्मा के सुख दुःख में निमित्त होते हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं, जो इसप्रकार है ह्व

**तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोध जीवस्स ।**

**भोक्ता हु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ॥६८॥**

(हरिगीत)

चेतन कर्म युत है अतः कर्ता-कर्म व्यवहार से।

जीव भोगे कर्मफल नित चैत्य-चेतक भाव से ॥६८॥

जीव के भाव से युक्त द्रव्यकर्म निश्चय से अपने भावों के कर्ता हैं और व्यवहार से वे द्रव्यकर्म जीवभाव के कर्ता हैं; परन्तु चेतनभाव के कारण कर्मफल का भोक्ता तो मात्र जीव है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व की व्याख्या का उपसंहार है। इसलिए ऐसा निश्चित हुआ कि ह्व कर्म निश्चय से अपना कर्ता है और व्यवहार से जीवभाव का कर्ता है; जीव भी निश्चय से अपने भाव का कर्ता है और व्यवहार से कर्म का कर्ता है, पर भोक्ता तो वह किसी का भी नहीं है; क्योंकि जो अनुभूति चैतन्यपूर्वक हो, उसी को यहाँ भोक्तृत्व कहा है। यहाँ चैतन्यपूर्वक अनुभूति का सद्भाव नहीं है। इसलिए चेतनपने के कारण मात्र जीव ही कर्मफल का भोक्ता है।

कवि हीरानन्दजी इसी भाव को काव्य में कहते हैं :ह्व

( दोहा )

कर्म करै निजभाव कौं, जीव भावकौं सोइ ।  
भुगता एकै जीव है, भाव-करमफल दोइ ॥३१९॥

( सवैया इकतीसा )

जैसें दर्ब कर्म करै निहचै सुभाव आप,  
विवहारनय देखैं परभाव कर्ता है ।  
जैसें जीव करै निजभाव कौं निहचै रूप,  
विवहारनय सोई परभाव धर्ता है ॥  
जैसें दौनों नयों करि जीव भोगता कहावै,  
दुःख सुख भाव और इष्टानिष्ट-भर्ता है ।  
तैसें भोगी कर्म नाहिं चेतना अभाव तातैं,  
ग्यानी ग्यान-भाव भावै राग-दोष हर्ता है ॥३२०॥

द्रव्यकर्म निश्चय से ही निजभाव का कर्ता है और व्यवहार से जीव राग-द्वेष आदि भावों का कर्ता कहा जाता है तथा भोक्ता एक मात्र जीव ही है, कर्म चेतनत्व के अभाव के कारण भोक्ता नहीं, ज्ञानी ज्ञान भाव के कारण राग-द्वेष का हर्ता है ।

प्रस्तुत सवैया में कहा है कि ह जिसप्रकार निश्चय से द्रव्यकर्म अपने स्वभाव का कर्ता है तथा व्यवहारनय से परभाव का कर्ता है तथा जिसप्रकार निश्चय से जीव अपने भाव का कर्ता है और व्यवहार से परभाव का कर्ता है तथा जिसप्रकार दोनों नयों से जीव को ही सुख-दुःख आदि का भोक्ता कहा जाता है । परद्रव्यों में चेतनत्व के अभाव के कारण जीव ही सुख-दुःख का भोक्ता है एवं ज्ञानी ज्ञानभाव के कारण राग-द्वेष का हर्ता है ।

इसी बात को गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार कहते हैं कि “वस्तुतः द्रव्यकर्म अपने परिणामों अर्थात् ज्ञानावरणादि परिणामों के उपादान कर्ता हैं तथा व्यवहार से जीव के राग-द्वेषादि के भाव कर्ता कहे जाते हैं ।

इसीप्रकार जीव द्रव्य अपने अशुद्ध चेतनात्मक भावों का उपादान रूप से कर्ता है, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म को अशुद्ध चेतनात्मक भाव निमित्तभूत हैं । इस कारण व्यवहार से जीव द्रव्यकर्म का भी कर्ता है ।

जीव अपने अशुद्ध परिणामों का कर्ता है, द्रव्य कर्मों का कर्ता नहीं; परन्तु जो नवीन कर्म स्वयं के कारण बंधते हैं । उसमें जीव के विकारी परिणाम निमित्त होते हैं । इस कारण जीव द्रव्य कर्मों का कर्ता व्यवहार से कहा जाता है ।”<sup>१</sup>

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार जीव अथवा कर्म निश्चय-व्यवहार नयों से एक दूसरे के परस्पर कर्ता हैं उसीप्रकार दोनों भोक्ता नहीं है । निश्चय से जीव अपने परिणामों का कर्ता है, व्यवहार से जीव जड़ कर्मों का कर्ता है । निश्चय से परमाणु अपने ज्ञानावरणादि पर्यायों का कर्ता है, व्यवहार से राग-द्वेष का कर्ता है । इसप्रकार कर्ता में जीव व कर्म हूँ दोनों में परस्पर निश्चय व व्यवहार लागू पड़ता है; परन्तु इसीप्रकार भोक्तापन में दोनों परस्पर लागू नहीं पड़ते; क्योंकि भोक्तापन अर्थात् हर्ष-शोक का परिणाम अकेले जीवद्रव्य में होता है तथा वह स्वयं चैतन्यस्वरूप है । पुद्गल अचेतन है, उसमें सुख-दुःख के वेदन का गुण नहीं है । इसकारण पुद्गल द्रव्य निश्चय या व्यवहार से भोक्ता नहीं है ।

## गाथा- ६९

विगत गाथा में आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का उपसंहार है। वहाँ कहा है कि ह्व इसलिए ऐसा निश्चित हुआ कि कर्म निश्चय से अपना कर्ता है तथा व्यवहार से जीव भावों का कर्ता है। जीव भी निश्चय से अपना कर्ता है और व्यवहार से कर्म का कर्ता है। तथा भोक्ता मात्र जीव ही है; जो कर्म अचेतन है जड़ है अतः वे भोक्ता नहीं हैं।

आगे कर्म संयुक्तपने की मुख्यता से प्रभुत्व गुण का व्याख्यान है।

मूलगाथा इसप्रकार है ह्व

एवं कत्ता भोक्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं ।  
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥६९॥

(हरिगीत)

इसतरह कर्मों की अपेक्षा जीव को कर्ता कहा।

इसी अपेक्षा जीव मोहाच्छन्न हो, भ्रमता पिण्णै संसार में ॥६९॥

इसप्रकार आत्मा अपने कर्मों का कर्ता-भोक्ता होता हुआ मोहाच्छादित होकर अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व यह कर्म संयुक्तपने की मुख्यता से प्रभुत्वगुण का व्याख्यान है।

प्रभुत्व शक्ति के कारण जिसने अपने भावकर्मों एवं द्रव्यकर्मों द्वारा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को ग्रहण किया है, उस आत्मा का अनादि मोहाच्छादितपने के कारण विपरीत अभिप्राय की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञान अस्त हो गया है, इसलिए वह अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्व

( दोहा )

ऐसैं करता-भोगता, आतम करम सुकीव ।

मोह-छन्न हींडे जगत, पार न लहै कदीव ॥३२२॥

( सवैया इकतीसा )

जग में अनादि जीव अपना विभाव करै,

ताही का भुगता तातैं प्रभुसक्ति धारै है ।

बिना आदि मोह लग्या, तातैं विपरीत बग्या,

सांची ज्ञान ज्योति छाई मूढ़ता विथारै है ॥

पर का सहाय लीना अपना विसार दीना,

नानाकार रूप कीना बाहिर निहारै है ।

इष्टविषैं सुखी होइ दुःखी है अनिष्ट माहिं,

मिथ्यादृष्टि अंध डोलै नैक न संभारै है ॥३२३॥

( दोहा )

संसारी संसार में, करनी करै असार ।

साररूप जानै नहीं, मिथ्यापन काँ टार ॥३२४॥

उक्त पद्यों में जो कुछ कहा गया है उसका संक्षिप्त सार यह है कि ह्व 'जग में अनादि काल से जीव विभावरूप परिणमन कर रहा है। और उसी के फल का भोक्ता है, इससे सिद्ध है कि उसमें प्रभुत्व शक्ति है अर्थात् वह प्रभुत्व गुण के कारण ही विभाव भावों का कर्ता-भोक्ता होता है। अनादि से मोहाच्छन्न है, इसकारण उसके विपरीता है। जब सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट हो जाती है तब वह मूढ़ता का त्याग कर देता है।

जब तक मिथ्यादृष्टि रहती है तबतक पर में इष्टानिष्ट कल्पनायें करके सुखी-दुःखी होता रहता है।

इस विषय में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी अज्ञानी की मान्यता बताते हुए कहते हैं कि ह्व "अज्ञानी जीव कहता है कि ह्व जैसे जादूगर डोरी



खेंचकर पुतली को नचाता है, उसीतरह कर्मरूपी डोरी के खिंचने से संसारी जीव नाचते हैं, परन्तु उसकी यह मान्यता भूलभरी है।

अज्ञानी की भूल का ज्ञान कराते हुए कहा है कि जीव अपनी भूल से ही अनेक विभाव पर्यायें धारण करके संसार में परिभ्रमण करता है। कहा भी है ह 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' किसी कर्मादि ने हैरान किया नहीं है; क्योंकि कर्म तो जड़ हैं, वे परिभ्रमण कराते नहीं हैं। इसलिए जीव कर्मों के कारण हैरान नहीं होता।

'स्वयं के अज्ञान के कारण ही जीव का स्वतंत्र रूप से विभाव रूप परिणमन होता है।' ह जब ऐसा जाने तब स्वभावरूप होने की योग्यता प्रगट होती है तथा तभी मुक्ति का मार्ग खुलता है।

जिसतरह आत्मा भूल करने में प्रभु है उसीप्रकार धर्म करने में भी प्रभु है। अपने ज्ञानानन्द स्वभाव की रुचि करके उसमें रमणता करना धर्म है। अनुकूल शरीर व उत्तम संहनन से धर्म नहीं होता।

जब आत्मा स्वयं अपना स्वभाव भूलकर अपने में अपराध करता है तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। पुण्य-पाप दोनों दोष हैं, वे आत्मा के गुण नहीं है। जो जीव पुण्य से तथा शरीर से धर्म मानता है, वह चार गति में परिभ्रमण करता है।

आत्मा की वर्तमान पर्याय की योग्यता से भूल होती है, पर पदार्थ से भूल नहीं होती। पर पदार्थों का तो आत्मा में अभाव है।''

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि ह जीव अनादि से अविद्या रूप से परिणमन कर रहा है। ज्ञानावरणादि जड़कर्मों का उदय जड़ में है। कर्म विकार कराता नहीं है। स्वयं अपने स्वभाव की प्रभुता को भूला हुआ है और अज्ञान भाव से परिणम रहा है तो ऐसी स्थिति में कर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है। इसप्रकार जीव द्रव्य निश्चय से राग-द्वेष का एवं निमित्त रूप से कर्म का कर्ता-भोक्ता होता है। ●

( 137 )

१. श्री प्रवचन प्रसाद नं. १५८, के चार पृष्ठ आगे दि. १९-३-५२, भावार्थ पृष्ठ १२५८-५९

## गाथा - ७०

विगत गाथा में कहा है कि ह अज्ञानी जीव अपने ज्ञानावरणादिक कर्मों के उदय से कर्ता-भोक्ता होता हुआ मोहाच्छादित होकर अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह सम्यग्दृष्टि जीव गुणस्थान परिपाटी के क्रम से मोक्षमार्ग को प्राप्त कर मोह का उपशम तथा क्षय करके अनन्त आत्मीक सुख का भोक्ता होता है। मूलगाथा इसप्रकार है ह

**उवसंतखीणमोहो मगं जिणभासिदेण समुवगदो ।**

**णाणाणुमग्गचारी णिक्वाणपुरं वजदि धीरो ॥७०॥**

(हरिगीत)

**जिन वचन से पथ प्राप्त कर उपशान्त मोही जो बने।**

**शिवमार्ग का अनुसरण कर वे धीर शिवपुर को लहें ॥७०॥**

जिस पुरुष ने जिन वचनों द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त करके तथा दर्शनमोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम को प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है, वह पुरुष शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह "यह कर्मवियुक्तपने की मुख्यता से प्रभुत्वगुण का व्याख्यान है। जब यही आत्मा जिनाज्ञा द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त करके उपशान्त मोहपने एवं क्षीणमोहपने के कारण विपरीताभिनिवेश नष्ट हो जाने पर सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है तथा कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अधिकार को समाप्त करके सम्यक् रूप से प्रभुत्व शक्तियुक्त होता हुआ सम्यग्ज्ञान का अनुसरण करनेवाले मार्ग से विचरता है, तब वह विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धिरूप मोक्षपुर को प्राप्त करता है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी इसप्रकार कहते हैं ह

( दोहा )

सान्त-खीन करि मोह कौं, जिनसासन कौं जानि ।

ज्ञानपंथ अनुगमन करि, सिवपुर करि पहिचानि ॥३२५ ॥

( सवैया इकतीसा )

इहै जीव जाही समै जिनवानी-पन्थ जानै,

सान्त खीनमोही होइ मिथ्या हठ नासै है ।

सत्यज्ञान-ज्योति जागै कर्ता सा भोगता लागै,

सरवग रूप एक प्रभुता विलासै है ॥

ग्यान-पंथ सूधा एक ताहि मैं गमन करै,

भमनै का भाव झारै सुद्ध परकासै है ।

केवल विमल एक सुद्ध सदकाल रहै,

सोई जगवास नासि मोखपास वासै है ॥३२६ ॥

कवि हीरानन्दजी उक्त काव्यों में कहते हैं कि ह “जिसने जिनशासन का रहस्य जानकर मोह का उपशमन एवं क्षय किया है तथा सम्यग्ज्ञान पन्थ का अनुगमन किया है, वह मोक्षमार्गी है, शिवपथ का पथिक है ।

यह जीव जिससमय जिनशासन का मार्ग पा लेता है, वह मिथ्यात्व का नाशकर सम्यग्ज्ञानी होकर उपशांत मोही एवं क्षीणमोही हो जाता है । तथा सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है ।

कवि आगे कहते हैं कि ज्ञान का मार्ग सीधा है, ज्ञानी उसी में गमन करता है । संसार में परिभ्रमण करने के भव का अभाव करता है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रकाश करता है तथा जो मात्र निर्मल एक शुद्ध स्वरूप में सदाकाल रहता है वह जगवास का नाश करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

इसी तरह के भाव को व्यक्त करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते

हैं<sup>१</sup> कि ह “जो अपनी फल विपाक दशारहित उपशम भाव को अथवा क्षयभाव को प्राप्त हुआ है तथा असत् वस्तु में प्रतीतरूप मोहकर्म जिसका नष्ट हो गया है, वह अपने स्वरूप में निश्चल सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षनगर में गमन करता है ।

जीव को जो उपशम या क्षायिक समकित होता है, वह अपनी प्रभुता से होता है, कर्मों के उपशम के कारण नहीं; यद्यपि कर्म के उपशम का समय और आत्मा में उपशम समकित होने का समय एक है, तथापि कर्म के उपशम के कारण समकित नहीं होता । जब जीव अपने शुद्धचिदानन्द स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा करता है तब कर्मों का उपशम कर्मों के कारण होता है । कर्म आत्मा में कुछ करते नहीं हैं । तथा आत्मा कर्म में कुछ भी नहीं करता । दोनों में स्वतंत्र क्रिया होती है ।

गुरुदेव कहते हैं कि ह प्रभुत्व शक्ति तो अनादि-अनन्त है । प्रभुत्व शक्ति दो नहीं हैं; परन्तु जिसको उस शक्ति का भान तो है नहीं है तथा राग-द्वेष के परिणाम करता है तो वे ह ‘परिणाम भी वह अपनी प्रभुत्व शक्ति से ही करता है; क्योंकि विकार करने में भी उसकी प्रभुता है और स्वभाव का भान होने पर शुद्धता प्रगट करने में भी स्वयं की प्रभुता है ।’<sup>१</sup>

इसप्रकार इस गाथा में पर्याय की प्रभुता की बात की है । तथा स्वतंत्र पर्याय का ज्ञान कराने के लिए प्रमाण ज्ञान कराया है तथा कहा है कि ह जो सम्यग्दृष्टि जीव गुणस्थान परपाटी के क्रम से जिनवचनों द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त करके दर्शनमोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम को प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

## गाथा- ७१-७२

विगत गाथा में कहा है कि ह्व जो जिनवचन से मोक्षमार्गी होकर उपशांत तथा क्षीणमोही हो गये हैं, अर्थात् जिन्हें दर्शनमोह का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हुआ है तथा ज्ञान के अनुसरण करने वाले मार्ग में विचरते हैं, वे धीर पुरुष निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

अब प्रस्तुत गाथाओं में कहते हैं कि ह्व चैतन्यलक्षण से तो आत्मा एक ही है; किन्तु विविध अपेक्षाओं से उसे दो, तीन, चार, पाँच, छैः, सात, आठ, नौ और दस भेदवाला भी आगम में कहा है।

मूलगाथा इसप्रकार है ह्व

एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो होदि ।  
चदुचंक्रमणो भणिदो पंचग्गुणप्पधाणो य॥७१॥  
छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभंगसब्भावो ।  
अट्टासओ णवट्टो जीवो दसट्टाणगो भणिदो॥७२॥

(हरिगीत)

आत्म कहा चैतन्य से इक, ज्ञान-दर्शन से द्विविध।  
उत्पाद-व्यय-ध्रुव से त्रिविध, अर चेतना से भी त्रिविध॥७१॥  
चतुपंच षट् व सप्त आदिक भेद दसविध जो कहे।  
वे सभी कर्मों की अपेक्षा जिय के भेद जिनवर ने कहे॥७२॥

मूलतः तो वह महान आत्मा एक ही है, किन्तु भेद, लक्षण, गति आदि की अपेक्षा अनेक भेदवाला कहा गया है। जैसे ह्व पाँच मुख्य गुणों से पाँच भेदवाला भी कहा है। इसीप्रकार अनुश्रेणी गमन अपेक्षा छह भेदवाला, सात भंगों की अपेक्षा सात भेदवाला, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों अथवा सम्यक्त्वादि आठ गुणों के आश्रयरूप आठ भेदवाला, नौ अर्थरूप और दसस्थानगत भेदवाला कहा गया है।”

आचार्यश्री अमृतचन्द्र टीका में और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि ह्व वह महान आत्मा वस्तुतः तो (१) नित्य चैतन्य उपयोगी होने से एक ही हैं। (२) दूसरे, ज्ञान-दर्शन भेदों के कारण दो भेदवाला है। (३) कर्मफल चेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना के भेदों से अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य त्रिलक्षण भेदों की अपेक्षा तीन भेदवाला है। (४) चार गतियों में भ्रमण करता है, इसकारण चतुर्विध भ्रमण वाला है। (५) पारिणामिक, औदयिक, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ह्व इन पाँच भावों की मुख्यता से पाँच मुख्यगुणों की प्रधानता वाला है। (६) चार दिशाओं एवं ऊपर-नीचे इसप्रकार छह दिशाओं में भवान्तर गमन होने के कारण छह अपक्रम सहित हैं। (७) सात भंगों द्वारा जिसका सद्भाव है ऐसा सात भंगपूर्वक सद्भाववान हैं। (८) आठ कर्मों अथवा सम्यक्त आदि के भेद से आठ प्रकार का तथा (९) नवपदार्थ रूप से वर्तता है, इसलिए नव अर्थरूप है। (१०) पृथ्वी, जल अग्नि वायु साधारण व प्रत्येक वनस्पति तथा द्वि, त्रि, चतु एवं पंचेन्द्रियरूप दस स्थानों में प्राप्त होने से दस स्थानगत हैं।

इसी भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्व

( दोहा )

एक जीव दुय भेद है, त्रय लच्छिन गति चारि ।  
पंच अग्रगुन जास मैं, षट्काय क्रम धारि॥३२८॥  
सपतभंग सद्भाव हैं, अष्टाश्रय नव भेद ।  
दस-थानक गति देखिए, जीव-दरव निरभेद॥३२९॥

( सवैया इकतीसा )

चेतनासरूप एक ग्यान द्रग उपयोग,  
दोइ भेद ज्ञान आदि चेतना त्रिभेद है ।  
चारों गतिरूप धरै पंच भाव भेद वरै,  
विग्रह सक्रमैरूप षोढा गति भेद है ॥  
अस्ति नास्ति आदि लसै सात अंग-वानी भेद,  
आठ करम पद्धति पदारथ निवेद है ।

दस थान वरती है चेतन दरब एक,

जानै जिनवानीवाला वस्तु निरभेद है॥३३०॥

उक्त छन्दों में कवि हीरानन्द ने वस्तु के विविध दृष्टिकोणों या विविध पहलुओं को उजागर करते हुए दस बोल कहे हैं, जो इसप्रकार हैं ह

(१) चेतनास्वरूप आत्मा एक (२) ज्ञान-दर्शन गुणों के भेदों से देखें तो आत्मा के दो गुण हैं। (३) ज्ञान चेतना, कर्म चेतना एवं कर्मफल चेतना हूँ ऐसे तीन भेद हैं। (४) चार गतियों की अपेक्षा से देखें तो जीव के चार प्रकार हैं, (५) पाँच भावों की अपेक्षा जीव के पाँच भेद हैं। (६) चार दिशाएँ एवं ऊपर-नीचे इस प्रकार से विग्रह गमन की अपेक्षा जीव के छह भेद हैं। (७) सात भंग की अपेक्षा सात भेद हैं, कर्मों एवं गुणों की अपेक्षा आठ प्रकार हैं तथा (९) नौ पदार्थों के भेद से जीव के नौ प्रकार हैं तथा (१०) दस स्थानगत भेद होते हुए भी उक्त दस स्थानवर्ती चेतन द्रव्य एक ही है। इसप्रकार मूल वस्तु निर्भेद है, उसमें कोई भेद नहीं है।

इन दो गाथाओं पर चर्चा करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने विशेष यही कहा है कि हूँ जीवों में समय-समय पर जो नवीन अवस्थाएँ होती हैं, वे सब जीव के ही विभाव स्वभाव हैं। जीवों को समय-समय पर जुदे-जुदे राग-द्वेष के भाव होते हैं। काम, क्रोध, मिथ्यात्व, समकित, केवलज्ञान, सिद्धदशा वगैरह का जो उत्पाद होता है, वह जीव की तत्समय की योग्यता से स्वयं के कारण ही होता है, किसी कर्मादि के कारण नहीं। यद्यपि उत्पाद स्वतंत्र बताया है; पर द्रव्य मात्र उत्पाद जितना ही नहीं है; किन्तु परिपूर्ण है।<sup>१</sup>

इसप्रकार इन गाथाओं में द्रव्य तथा पर्याय को विभिन्न प्रकारों तथा विविध विकल्पों का ज्ञान कराया है। ●

( 140 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १६०, पृष्ठ-१२७४, दिनांक ३१-३-५२

गाथा- ७३

विगत गाथा ७१-७२ में कहा है कि वह महान आत्मा वस्तुतः तो नित्य चैतन्य उपयोगी होने से एक ही है, परन्तु विविध अपेक्षाओं से या विभिन्न धर्मों की अपेक्षा उसके यहाँ १० भेद किये हैं।

प्रस्तुत गाथा में मुक्त व संसारी जीवों के गमन का व्याख्यान है।

मूलगाथा इसप्रकार है ह

पयडिद्विदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को ।

उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति॥७३॥

(हरिगीत)

प्रकृति थिति अनुभाग बन्ध प्रदेश से जो मुक्त हैं।

वे उर्द्धगमन स्वभाव से हैं प्राप्त करते सिद्धपद॥७३॥

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश बंध से सर्वतः मुक्तजीव ऊर्ध्वगमन करता है। शेष संसारी जीव मरणांत में चारों विदिशाओं को छोड़कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊर्द्ध एवं अधो हूँ इन छह दिशाओं में गमन करते हैं। तथा मुक्त जीवों के स्वाभाविक रूप से ऊर्द्ध गमन होता है।

आचार्य अमृतचन्द्रजी टीका में कहते हैं कि हूँ “बद्ध जीव को कर्म निमित्तिक षड्विधगमन होता है, मुक्त जीव को भी स्वाभाविक ऊर्द्धगमन होता है हूँ ऐसा यहाँ कहा है।”

भावार्थ यह है कि हूँ समस्त रागादिभाव रहित जो शुद्धात्मानुभूति लक्षण ध्यान के बल द्वारा चतुर्विध बंध से सर्वथा मुक्त हुआ जीव स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादिगुणों से वर्तता हुआ एक समयवर्ती अविग्रहति द्वारा स्वाभाविक उर्द्धगमन करता है।

कवि हीरानन्दजी काव्य में इसी भाव को व्यक्त करते हैं ह

( दोहा )

प्रकृति-थिती अनुभाग सौं, अरु प्रदेश सौं बन्ध ।  
मुक्तजीव ऊरध चलैं विदिसा विनगति अंध ॥३३१॥

( सवैया इकतीसा )

जग में अनादि जीव बंधन विधान बंध्या,  
प्रकृति प्रदेस बंधौ की योगतैं विलोकिए ।  
थिति और अनुभाग होंहि हैं कषाय सेती,  
एई चारों बंध भेद जीवभाव रोकिए ॥  
भवतैं भवान्तर कौं चलै चारों दिसा और,  
ऊरध अधोविभाग जहाँ जाकौं लोकिए ।  
बंधन सौं मोख होय ऊरघ कौं जाय सोई,  
रज्वी गति ग्रन्थ विषैं सदाकाल धोकिए ॥३३२॥

उक्त छन्दों में कवि हीरानन्द ने इसप्रकार कहा है कि ह्व जग में अनादि से जीव प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंधों से बंधे हैं। इनमें प्रकृति व प्रदेशबंध में योग निमित्त हैं तथा स्थिति व अनुभाग में कषाय निमित्त होती है। जन्मान्तर के लिए जीव चारों दिशाओं में एवं ऊपर-नीचे गमन करता है।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी भावार्थ में कहते हैं<sup>१</sup> कि “जो जीव आठों कर्मों का अभाव करता है, वह एक समय में अपने ऊर्द्धगमन स्वभाव से श्रेणीबद्ध प्रदेशों द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मोक्षगामी जीव अर्द्धगमन स्वभाव से एकसमय में लोकाग्र में पहुँच जाता है तथा समस्त संसारी जीव मात्र दिशाओं में गमन करते हैं, चार-विदिशाओं में नहीं जाते।<sup>२</sup>”

यहाँ तक जीव द्रव्य का व्याख्यान पूर्ण हुआ। अब आगे पुद्गल द्रव्य अस्तिकाय का व्याख्यान करेंगे।

( 141 )

गाथा- ७४

विगत गाथा में जीवास्तिकाय का समापन करते हुए कहा है कि ह्व प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध एवं प्रदेशबंध से सर्वतः मुक्त जीव ऊर्द्धगमन करता है, शेष सभी संसारी जीव चार विदिशाओं को छोड़कर छः दिशाओं में गमन करते हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में पुद्गलास्तिकाय का व्याख्यान करते हैं।

मूलगाथा इसप्रकार है ह्व

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू ।

इदि ते चदुव्वियप्पा पोग्गलकाया मुणेदव्वा ॥७४॥

( हरिगीत )

स्कन्ध उनके देश अर परदेश परमाणु कहे ।

पुद्गलकाय के ये भेद चतु यह कहा जिनवर देव ने ॥७४॥

पुद्गल काय के चार भेद हैं ह्व १. स्कन्ध २. स्कन्धदेश ३. स्कन्ध प्रदेश और ४. परमाणु ।

आचार्य अमृत टीका में कहते हैं कि ह्व यह पुद्गलद्रव्य के भेदों का कथन है। ये पुद्गल द्रव्य कदाचित् स्कन्ध पर्याय से, कदाचित् स्कन्धदेश रूप पर्याय से, कदाचित् स्कन्ध प्रदेशरूप पर्याय से और कदाचित् परमाणु रूप पर्याय से यहाँ लोक में हैं। इसप्रकार उनके चार भेद हैं; पुद्गल द्रव्य के अन्य कोई भेद नहीं है।

कवि हीरानन्दजी उक्त भाव को काव्य में कहते हैं :ह्व

( दोहा )

खंद-खंददेसी लसै, खंद प्रदेस बखान ।

परमाणु ए चारि विध, पुद्गल-दरब प्रमाण ॥३३४॥

( सवैया इकतीसा )

याही लोक विषैं एक पुद्गल अनेकरूप,  
 खंध परजाय करि काहू काल होई है ।  
 खंधदेसरूप परजाय काहू काल होई,  
 काहूकाल खंधपरदेस रूप सोई है ॥  
 काहू काल परमानू परजाय रूप होई,  
 चारों भेद पुद्गल कै और नाहिं कोई है ।  
 तातैं और भेद कोई पुद्गल का नाहीं कहा,  
 एक अंग सरवंग कहे मिथ्या जोई है ॥३३५ ॥

इन छन्दों में कवि कहते हैं कि ह् स्वन्ध, स्वन्धदेस, प्रदेश और परमाणु पुद्गल के ये चार प्रकार हैं ।

इस लोक में एक पुद्गल द्रव्य अनेक रूपों में हैं ह् किसी एक पर्याय में उसका स्वन्ध रूप होता है, किसी दूसरी पर्याय में स्वन्धदेस रूप होता तो किसी तीसरी पर्याय में प्रदेशरूप तथा चौथी पर्याय में परमाणु रूप अवस्था होती है । ये चारों भेद पुद्गल के हैं, इनके सिवाय पुद्गल का और कोई भेद नहीं है ।

इसी बात को गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इसप्रकार कहते हैं कि ह् पुद्गल के स्वन्ध, स्वन्ध का आधा भाग, चौथा भाग एवं परमाणु इसप्रकार ये चार प्रकार पुद्गल हैं; जोकि मात्र जानने योग्य हैं । उन्हें कोई न बना सकता है और न तोड़ सकता है । इसलिए जीव को पुद्गल के कर्तृत्व का अभिमान छोड़ देना चाहिए ।

अज्ञानी जीव पर पदार्थों के ग्रहण-त्याग के स्वामी होते हैं तथा धर्म के नाम पर थोड़ा पर पदार्थों को त्यागने का अभिमान करके ऐसा मानते हैं कि ह् 'मैंने इतने पदार्थों को त्यागा है' जबकि पर पदार्थों को छोड़ना व ग्रहण करना जीव के हाथ में है ही नहीं । ज्ञानी जीव भी मात्र उन पदार्थों

के प्रति ममत्व के भाव को छोड़ते हैं । परपदार्थ अपने समय में स्वतः छूटते हैं, उनके त्याग व ग्रहण का कर्ता जीव नहीं है ।

जब पुद्गल एकत्रित होकर रहते हैं या छूटे-खुल्ले (बिखरे) रहते हैं तब वे मिलते-बिछुड़ते हुए छोटे-बड़े स्वन्धों के रूप में रहते हैं । जब वे स्वयं के कारण ही अर्द्ध भाग रूप होते हैं, तब वे पुद्गल स्वन्धदेस के रूप में होते हैं; उन्हें इन रूप अन्य कोई करता नहीं है, वे स्वतः ही उक्त चार रूप में परिणमित होते हैं । जो ऐसा ज्ञान करे तो पुद्गलों के कर्तृत्व का अभिमान छूट जाता है और ज्ञानी मात्र उनका ज्ञाता रह जाता है ।

अज्ञानी माता-बहिनें घर की वस्तुओं में ममता करतीं हैं । भाई लोग रुपया-पैसा आदि में अपनापन करते हैं और यह मानते हैं कि वह स्वन्ध की अवस्था हम से होती है । रुपयों की, रोटी की, शाक वगैरह जड़ पदार्थों की जो अवस्था होती है जबकि वह पुद्गलपरमाणु के कारण होती है, जीव उसका कर्ता नहीं है । ह् ऐसा ज्ञान करे तो पुद्गल में कर्तृत्व का अभिमान छूट जाता है । और स्वयं केवल ज्ञाता रह जाता है ।<sup>१</sup>

इसप्रकार इस गाथा में पुद्गल के चार भेद बताये हैं तथा गुरुदेवश्री ने पुद्गल के विषय में अज्ञानी की मान्यता बताते हुए उनमें ममत्व त्याग की प्रेरणा दी है तथा कहा है कि ह् जो पुद्गल के चार भेद कहे, उन्हें अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाकर अपने स्वरूप में स्थिर होने का पुरुषार्थ करना चाहिए ।



## गाथा- ७५

विगत गाथा में कहा है कि ह पुद्गलकाय के चार भेद हैं ह (१) स्कंध, (२) स्कंधदेश, (३) स्कंध प्रदेश और (४) परमाणु।

अब प्रस्तुत गाथा में पुद्गलकाय के पूर्वोक्त चार भेदों का विशेष कथन करते हैं ह मूलगाथा इसप्रकार है ह

**खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति ।**

**अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥७५॥**

(हरिगीत)

स्कन्ध पुद्गलपिंड है, अर अद्ध उसका देश है।

अर्धाद्ध को कहते प्रदेश, अविभागी अणु परमाणु है ॥७३॥

समस्त पुद्गल पिण्डात्मक वस्तु स्कन्ध है, उसके आधे को देश कहते हैं। आधे से भी आधे को प्रदेश कहते हैं एवं वस्तु के अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द टीका में कहते हैं कि ह यह पुद्गलद्रव्य के भेदों का वर्णन है।

अनन्तानन्त परमाणुओं से निर्मित होने पर भी जो एक हो, वह स्कन्ध नामक पर्याय है; उसकी आधी स्कंधदेश नामक पर्याय है, आधी की आधी स्कंधप्रदेश नामक पर्याय है। इसप्रकार भेद के कारण (पृथक होने के कारण) द्विअणुक स्कन्ध पर्यन्त अनन्त स्कन्ध प्रदेश रूप पर्यायें होती हैं। निर्विभाग एक प्रदेशवाले स्कन्ध का अन्तिम अंश एक परमाणु है।

इस गाथा की टीका में जयसेनाचार्य स्कन्ध, देश, प्रदेश व परमाणुओं की दो प्रकार से व्याख्या करते हैं। प्रथम तो उन्होंने कहा कि ह अनन्त परमाणु पिण्डता का घट-पट आदि रूप जो विवक्षित सम्पूर्ण वस्तु है उसे स्कन्ध संज्ञा है। भेद द्वारा उसके जो पुद्गल विकल्प होते हैं उन्हें निम्नोक्त दृष्टान्त से समझना।

मानलो कि ह १६ परमाणुओं से निर्मित एक स्कन्ध है अर्थात् पुद्गलपिण्ड है और वह छूटकर उसके टुकड़े होते हैं तो ८ परमाणुओं वाला टुकड़ा देश कहायेगा। ४ परमाणुओं वाला टुकड़ा (चतुर्थ भाग टुकड़ा) प्रदेश है और अविभागी छोटे से छोटा टुकड़ा परमाणु है।

पुनश्च, जिसप्रकार १६ परमाणु के पूर्ण पिण्ड को यदि स्कन्ध संज्ञा है तो १५ से ९ परमाणुओं तक के किसी भी टुकड़े की भी स्कन्ध संज्ञा है। तथा ८ परमाणुवाले उसके अर्द्ध भाग के टुकड़े को, 'देश' संज्ञा है तो ७ से ५ तक के परमाणु को (टुकड़े) को भी देश संज्ञा ही होगी।

इसीप्रकार ४ परमाणु वाले उसके चतुर्थ भाग रूप टुकड़े को प्रदेश संज्ञा है तो उसे लेकर २ परमाणु तक के किसी भी टुकड़े की प्रदेश संज्ञा है।

कवि हीरानन्दजी कहते हैं कि ह

( दोहा )

सकल वस्तु का खंध है, तिसका आधा देस।

चौथाई परदेस है, परमानू निरवेस ॥३३७॥

( सवैया इकतीसा )

पुगल अनंतानंत भेद संघात वसतैं,

भाग बिना एक कोई खंधनाम सार है।

तामैं चार भेद कहै खंध नाम सारा रूप,

ताका आधा देस नाम प्रगट विचार है ॥

आधा देस आधा होइ परदेस नामी सोइ,

अनू नाम अविभागी चौथा परकार है।

एई चारों भेद एक पुगल अभेद रूप,

इनहीं का जहाँ तहाँ जग में विथार है ॥३३८॥

( दोहा )

जिनवानी मैं भेद बहु कहवत अगम अपार।

सुलपमति के कारण कहे चार परकार ॥३३९॥

भेद और संघात के कारण पुद्गल के अनन्तानन्त भेद हैं। अर्थात् अणुओं एवं स्कन्धों के मिलने-बिछुड़ने की अपेक्षा पुद्गल के अनन्त भेद हो जाते हैं तथा दो या दो से अधिक परमाणुओं के मेल से स्कन्ध बनते हैं।

पुद्गल पिण्ड के मुख्यतः चार भेद इसप्रकार हैं ह (१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश एवं (४) अणु। (१) स्कन्ध (२) स्कन्ध का आधा देश, (३) देश का आधा प्रदेश (४) प्रदेश का अविभागी अंश अणु होता है। जिनवाणी में स्कन्ध के बहुत भेद कहे हैं, परन्तु अल्प मतियों को स्थूलरूप से पुद्गल के उक्त चार ही प्रकार कहे हैं।

इसी बात को गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह (१) स्कन्ध पुद्गल के अनन्त परमाणुओं से बना हुआ एक पिण्ड है। यह दूसरों के द्वारा बनाया नहीं गया है। शरीर, वाणी कर्म के स्कन्ध की अवस्था जीव से नहीं होती। रोटी शाक आदि के स्कन्ध किसीसे हुए नहीं हैं, वे सब भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं। “मैं पर का कर्ता नहीं हूँ। मैं तो मात्र ज्ञायक हूँ” ह ऐसा स्वयं को जानने पर परपदार्थ स्वयं ही जानने में आ जाते हैं।

(२) स्कन्धदेश : ह पुद्गल स्कन्ध का आधा भाग स्कन्ध देश है।

(३) स्कन्धप्रदेश : ह स्कन्ध का चौथा भाग स्कन्ध प्रदेश है।

(४) परमाणु : ह जिसके दो भाग नहीं हो सकें, उसे पुद्गलपरमाणु कहते हैं।”

तात्पर्य यह है कि ह स्कन्ध, स्कन्धदेश एवं स्कन्धप्रदेश ह इन तीनों के अनन्त-अनन्त भेद हैं। यहाँ भेद की अपेक्षा से अनन्त की बात है। परमाणु में एक ही प्रकार है; यद्यपि परमाणु संख्या में अनन्त हैं, किन्तु भेद एक प्रकार का ही है।

## गाथा- ७६

विगत गाथा में कहा गया है कि ह पुद्गलकाय के चार भेद हैं ह (१) स्कंध, (२) स्कंधदेश, (३) स्कंध प्रदेश और (४) परमाणु।

अब प्रस्तुत गाथा में पुद्गल के छः भेदों को कहते हैं।

मूलगाथा इसप्रकार है ह

बादरसुहुमगदाणं खंधाणं पोगगलो त्ति ववहारो ।

ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पणं ॥७६॥

(हरिगीत)

सूक्ष्म-बादर परिणमित स्कन्ध को पुद्गल कहा।

स्कन्ध के षट्भेद से त्रैलोक्य यह निष्पन्न है ॥७६॥

बादर और सूक्ष्मरूप से परिणत स्कन्धों को पुद्गल कहने का व्यवहार है। वे छह प्रकार के हैं, जिनसे तीन लोक निष्पन्न है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयव्याख्या टीका में कहते हैं कि ह (१) जिनमें संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि षट्स्थान पतित वृद्धि-हानि होती है ह ऐसे स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप गुण विशेषों के कारण पूरण-गलन धर्मवाले होने से तथा स्कन्ध पर्याय के आविर्भाव और तिरोभाव की अपेक्षा भी परमाणुओं में पूरण-गलन स्वभाव घटित होने से परमाणु निश्चय से पुद्गल है।

कवि हीरानन्दजी गाथा के उक्त भाव को इसप्रकार कहते हैं ह

( दोहा )

बादर सूच्छिम खंध हैं, तिनका पुद्गल नाम ।

छह प्रकार तिनकों कहत, तीन लोक अभिराम ॥३४०॥

( सवैया इकतीसा )

रूप-रस-गंध-पर्श षट्गुणी वृद्धि-हास,

पूरै-गलै धर्म तातै पुद्गल विसेष है ।

पुद्गल अनेक एक परजै अनन्य यातै,

खंध परजाय नाम पुद्गल सलेख है ॥

तैसैं थूल सूच्छिम है पुद्गल विभाव तामैं,

भेद षट् तिनही कै लोकरूप वेख है ।

नानाकाररूप सृष्टि गोचर अगोचर है,

जानै जिनवाणी वाला मूढ़ कौं अलेख है ॥३४१॥

उक्त पद्यों में कहा है कि बादर-सूक्ष्म पौद्गलिक स्कन्धों का नाम पुद्गल है। ये छः प्रकार के होते हैं।

पुद्गल रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवान हैं, षट्गुणी वृद्धि-हानि रूप हैं तथा ये पूरण-गलन स्वभावी होने से पुद्गल कहे जाते हैं।

अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य अनेक पुद्गल परमाणुओं के मिलाप या बिछुड़ने रूप पर्यायों से एक स्थूल स्कन्ध पर्यायरूप अथवा सूक्ष्म स्कन्ध पर्याय रूप होते हैं, जोकि मूलतः षट् भेदरूप हैं।

इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “जो ऐसा मानते हैं कि ह्व ‘मैं पुद्गलों को परिवर्तन कर सकता हूँ’ वे मूढ़ हैं। ऐसा मानने वालों को धर्म नहीं होता।

यहाँ बताया है कि ह्व स्कन्धों में घटना-बढ़ना होता रहता है। इसलिए इन्हें पुद्गल कहते हैं तथा परमाणु को पुद्गल कहने का कारण बताते हुए कहा है कि परमाणुओं में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि गुणों में षट्गुणी वृद्धि-हानि, होती रहती है, इसलिए परमाणु भी पुद्गल हैं।

एक परमाणु में प्रथम समय में एक गुणी चीकास हो, दूसरे समय में उससे अनन्तगुणी चीकास अर्थात् चिकनाई हो जाती है। दूध के परमाणुओं का स्वाद और स्पर्श आदि किसी थोड़ी मिठास में वृद्धि होकर बहुत

मिठास और स्पर्श आदि रूप हो जाती है। कोई शीत परमाणु उष्ण हो जाता है, कोई मीठा परमाणु खट्टा यह सब जड़ में होता है।

तात्पर्य यह है कि पुद्गल स्कन्ध अपने स्थूल सूक्ष्म परिणामों के भेदों से तीन लोक में प्रवर्त रहा है। उसके आगम में छः भेद कहे हैं, जो इसप्रकार हैं। (१) बादर-बादर (२) बादर (३) बादर सूक्ष्म (४) सूक्ष्म-बादर (५) सूक्ष्म (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म।

१. बादर-बादर :ह्व जो पुद्गल पिण्ड टुकड़े होने पर पुनः जुड़ते नहीं हैं। जैसे ह्व पत्थर, लकड़ी आदि।

२. बादर :ह्व घी, तैल आदि प्रवाही पदार्थ जोकि प्रथक् होने पर पुनः मिल जाते हैं।

३. बादर-सूक्ष्म :ह्व जो दिखाई तो दें, परन्तु हाथ वगैरह से पकड़ में नहीं आते। जैसे चन्द्रा की चाँदनी।

४. सूक्ष्म-बादर :ह्व जो वस्तु आँख से नहीं दिखती घ्राण आदि से ग्रहण होती है ह्व जैसे गंध आदि।

५. सूक्ष्म :ह्व जो स्कन्ध इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, ऐसी कर्मवर्गणायें।

६. सूक्ष्म-सूक्ष्म :ह्व कर्म वर्गणाओं से भी अतिसूक्ष्म दो परमाणुओं का स्कन्ध, तीन अणुओं का स्कन्ध आदि।

इसप्रकार इस गाथा में स्कन्धों के ६ भेद कहे। यहाँ ज्ञातव्य है कि ये भेद स्कन्ध के हैं। गोम्मटसार में जो पुद्गल के ६ भेद कहे, उसमें पाँच बोल तो ह्व ऊपर कहे अनुसार ही हैं, छटवाँ भेद एक परमाणु का लिया है।”

इसप्रकार इस गाथा में पुद्गल द्रव्य का सामान्य कथन किया है।

गाथा- ७७

विगत गाथा में पुद्गल का स्वरूप कहा एवं उसके छः प्रकार बताये ।  
अब प्रस्तुत गाथा में परमाणु का स्वरूप कहते हैं ।

मूलगाथा इसप्रकार है ह

सर्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू ।

सो सस्सदो असदो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥७७॥

(हरिगीत)

स्कन्ध का वह निर्विभागी अंश परमाणु कहा ।

वह एक शाश्वत मूर्तिभव अर अविभागी अशब्द है ॥७७॥

सर्व स्कन्धों का जो अन्तिम भाग है, सबसे छोटा अविभागी अंश है, उसे परमाणु कहते हैं । वह अविभागी, एक, शाश्वत तथा मूर्तरूप से उत्पन्न होनेवाला है और अशब्द है ।

आचार्य अमृतचन्द टीका में कहते हैं कि यह परमाणु की व्याख्या है ह पूर्वोक्त स्कन्ध रूप पर्याय का जो अन्तिम भेद छोटे में छोटा अंश है, वह परमाणु है । वह एकप्रदेशी है, उसका कोई विभाग नहीं होता अतः वह एक है, नित्य है, अविनाशी है, अनादि-अनंत है तथा रूप रस, गंध व स्पर्श से उत्पाद होने से मूर्त है, अशब्द है; क्योंकि शब्द परमाणु का गुण नहीं है ।

कवि हीरानन्दजी काव्य की भाषा में जो कहा ह वह इसप्रकार है ह

( दोहा )

सकल खंद का अन्त जो, तिसहि कहत परमानु ।

नित्य सबद बिन एक है, मूरत भागलु कान, ॥३४२॥

( सवैया इकतीसा )

खंद रूप परजै का अंतभेद परमानु,

सौई है विभाग बिना तातैं अविभागी है ।

निर्विभाग एक परदेस तातैं एक लसै,

दर्वरूप नासै नाहिं सासुतां विभागी है ॥

रूप आदि मूरति तैं मूरतीक नाम पावै,

भाषा पर्याय तातैं भाषा रूप त्यागी है ।

सुद्ध गुण परजय सौं, सदा सुद्ध परमानु,

सौई तौ प्रतीति आनै जाकै जोति जागी है ॥३४३॥

( दोहा )

अविभागी परमानु यह पुग्गल दरब जथार्थ ।

खंधरूप नाना लसै सो विभाव परमार्थ ॥३४४॥

उक्त काव्यों में कवि कहते हैं कि ह स्कन्ध का अविभागी अंश परमानु है । वह परमानु नित्य है, शब्द रहित है तथा एक है, शाश्वत है । शुद्ध गुणपर्यायवान है । वह विभावभाव से नाना प्रकार के स्कन्धों में रहता है ।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह ये जो स्थूल स्कन्ध दिखाई देते हैं, ये कार्य हैं, इसलिए इनका कारण होना चाहिए । परमाणुओं में अनेकपना कायम नहीं रहता; क्यों एकत्र छूटे परमाणु एकत्र होने पर स्कंध बन जाते हैं तथा छूटे रहने पर एक-एक परमाणु प्रथक्-प्रथक् रहते हैं ।

गुरुदेव भावुक होकर कहते हैं देखो! यह सर्वज्ञ का विज्ञान है! स्कन्ध में से छूटा होते ही जो परमाणु रह जाता है, वह स्वयं की तत्समय की योग्यता से ही रहता है । जीव के कारण पुद्गल में फेरफार नहीं होता ।

परमाणु के खण्ड नहीं होते । स्कंध का अन्तिम भेद परमाणु है । वह

सूक्ष्म-सूक्ष्म अर्थात् अतिसूक्ष्म होता है। वह परमाणु त्रिकाल अविनाशी है। एक परमाणु में शब्दरूप होने की योग्यता नहीं है। जब एक परमाणु दूसरे अनंत परमाणुओं के साथ मिले तो शब्दरूप होने की योग्यता आती है। परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं; परन्तु उसमें शब्दरूप परिणमन की योग्यता नहीं है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा, टीका एवं हिन्दी गद्य-पद्य में यह कहा है कि ह्व जो ये सूक्ष्म-स्थूल सब पुद्गल स्कन्ध दिखाई देते हैं, वे कार्य हैं। जो कार्य होता है, उसका कारण अवश्य होता है। कारण के बिना कार्य नहीं होता।

देखो, स्कन्ध में से छूटकर जो पुद्गल परमाणु रूप रहता है वह स्वयं अपने कारण रहता है, जीव या पुद्गलादि के कारण नहीं रहता।

यद्यपि परमाणु एक प्रदेशी हैं, तथापि उसमें स्वयं में स्कन्धरूप होने की योग्यता है।

इसी कारण परमाणु को पुद्गलास्तिकाय कहा जाता है। वह परमाणु निरंश है; क्योंकि उस परमाणु के दो भाग नहीं हो सकते।



१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, नं. १६८, पृष्ठ-१३३१, दि. १५-४-५२

### गाथा- ७८

विगत गाथा में परमाणु का स्वरूप कहा गया है। वहाँ कहा है कि ह्व सर्व स्कन्धों का अन्तिम भाग परमाणु है।

अब प्रस्तुत गाथा में भी परमाणु का ही विशेष स्वरूप कहते हैं।

मूलगाथा इसप्रकार है ह्व

आदेसमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।

सो णेओ परमाणु परिणामगुणो सयमसहो॥७८॥

(हरिगीत)

कथनमात्र से मूर्त है, अर धातु चार का हेतु है।

परिणामी तथा अशब्द जो परमाणु है उसको कहा॥७८॥

जो आदेश मात्र से अर्थात् कथन मात्र से मूर्त हैं तथा जो पृथ्वी आदि चार धातुओं का कारण है, वह परमाणु है, जो कि परिणाम गुणवाला है और स्वयं अशब्द है।

टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह्व परमाणु भिन्न-भिन्न जाति के नहीं होते। मूर्तत्व के कारणभूत जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण हैं, उनका परमाणु से कथन मात्र ही भेद किया जाता है। वस्तुतः तो परमाणु एक प्रदेशी अर्थात् अप्रदेशी होता है तथा समस्त परमाणु समान गुणवाले होते हैं। किसी भी परमाणु में यदि एक भी गुण कम हो तो उस गुण के साथ अभिन्न प्रदेशी परमाणु ही नष्ट हो जायेगा; इसलिए समस्त परमाणु समान गुणवाले ही होते हैं। वे भिन्न-भिन्न जाति के नहीं हैं।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह्व

( दोहा )

कथन मात्र ही मूर्ति है, भूमि आदि का हेतु।

परमानू परिणाम गुण, निज असवद गुण हेतु॥३४५॥

( सवैया इकतीसा )

रूपादि गुण कौ और परमानू दरव कौ,  
नाम मात्र भेदलसै देस भेद नाहीं है ।  
मही-तोय-तेज-वायु च्यारों का कारनरूप,  
परमाणू नाम तामैं चित्र परछाँहीं है ॥  
जैसैं तामैं गंध आदि विकत-अविकत है,  
तैसैं कै सब्दरूप नैक न दिखाहीं है ।  
एक परदेस अनू सबद है खंद जन्य,  
ऐसैं परमाणु भेद जिनवाणी माहीं है ॥३४६ ॥

उपर्युक्त छन्दों में यह कहा गया है कि रूपादि गुण और परमाणु द्रव्य में नाम मात्र का भेद है, कथनमात्र भेद है, प्रदेश भेद नहीं है। पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु चारों का एक नाम परमाणु है, चारों परमाणु रूप हैं। जैसे उन परमाणुओं में गंध आदि व्यक्त एवं अव्यक्त हैं, वैसे वे परमाणु शब्दरूप से दिखाई नहीं देते। अणु एक प्रदेशी हैं तथा शब्द स्कन्ध जन्य हैं। जिनवाणी में ऐसा परमाणु भेद कहा है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इसके भावार्थ में कहते हैं कि ह “परमाणु द्रव्य शक्तिवान हैं तथा उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण चार गुण हैं।

शक्तिवान द्रव्य गुण के बिना नहीं होता। उसमें स्पर्श रस गंध वर्ण की शक्ति है, परमाणु निर्विभाग है। वह स्कन्ध का अन्तिम अंश है। वह आदि-मध्य-अन्त में एक ही है। इसकारण परमाणु के दो भाग नहीं होते। पृथ्वी, अग्नि, वायु वगैरह जुदे-जुदे पुद्गल के परमाणु नहीं हैं, किन्तु परमाणु ही जुदी-जुदी अवस्था धारण करते हैं। कोई पृथ्वी रूप परिणमते हैं कोई पानी रूप परिणमते हैं।”<sup>१</sup>

इसप्रकार इस गाथा में परमाणु के स्वरूप में यह कहा है कि ह परमाणु भिन्न जाति के नहीं होते। मूर्तत्व के कारणभूत जो स्पर्शादि हैं, उनका परमाणु से कथन मात्र ही भेद किया जाता है। वस्तुतः तो परमाणु एकप्रदेशी ही होता है तथा समस्त परमाणु समान गुण वाले ही होते हैं।●

१. श्री सदगुरु प्रवचन प्रसाद, नं. १६८, पृष्ठ-१३३३-३४, दि. ८-४-५२

गाथा- ७९

विगत गाथा में यह कहा गया है कि जो आदेश (कथन) मात्र से मूर्त हैं तथा पृथ्वी आदि चार धातुओं का कारण वह परमाणु है। शब्द स्कन्धजन्य है, स्कन्ध परमाणु का संघात है। शब्द पुद्गल स्कन्ध की पर्याय है, आदि। ह मूलगाथा इसप्रकार है ह

सद्दो खंधप्पभवो, खंधो परमाणुसंगसंघादो ।

पुट्टेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो ॥७९॥

(हरिगीत)

स्कन्धों के टकराव से शब्द उपजें नियम से।

शब्द स्कन्धोत्पन्न है अर स्कन्ध अणु संघात है ॥७९॥

शब्द स्कन्धजन्य है, स्कन्ध परमाणुदल का संघात है अर्थात् स्कंध परमाणु से मिलकर बना है और उन स्कन्धों के स्पर्शित होने-टकराने से शब्द उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार वे नियतरूप से उत्पाद्य हैं।

समय व्याख्या टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह शब्द पुद्गल स्कन्ध पर्याय है।

इस लोक में बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलंबित तथा भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ध्वनि शब्द है। वह शब्द अनन्त परमाणुओं की स्कन्धरूप पर्याय है।

बहिरंग साधनभूत महा स्कन्धों द्वारा शब्द परिणमरूप उत्पन्न होने से वह स्कन्धजन्य हैं, क्योंकि महास्कन्ध पट रूप टकराने से शब्द उत्पन्न होता है।

पुनश्च यह बात विशेष समझाई जाती है ह एक दूसरे में प्रविष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त होकर अपने स्वभाव से ही निर्मित अनन्त परमाणुमयी शब्द योग्य वर्गणाओं से समस्त लोक भरपूर होने पर भी जहाँ-जहाँ बहिरंग



कारण सामग्री उदित होती है, वहाँ-वहाँ वे वर्गणायें शब्दरूप से स्वयं परिणमित होती हैं; इसप्रकार शब्द नियतरूप से उत्पाद्य हैं, उत्पन्न कराने योग्य हैं; इसलिए वह स्कन्धजन्य है। शब्द नियतरूप से उत्पाद्य (उत्पन्न कराने योग्य) है, इसलिए वह स्कन्धजन्य हैं। इसी बात को कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह

( दोहा )

सबद खंध-भव मानिए, अनु समूह का खंध।

खंध-खंध मिलि धरषणा, उपजै सबद प्रबंध ॥३४८॥

( सवैया इकतीसा )

अपने सुभावकरि शब्दरूप वर्गनाकै,

जहाँ तहाँ नभ माहिं अस्तिभाव रूढ़ै है।

आतमा समीप लगै खंध सब्दरूप पुंज,

काल पाय उदै होहिं धुनिभार गूढ़ै है ॥

उपादान धुनि खंध कारन वरग आन,

धुनिकै बड़ाउ तातैं नभ माहिं छूढ़ै है।

यातैं सब्द परजाय कारनतैं होइ जाय,

जथारूप जानै नाहिं मिथ्यामती मूढ़ै है ॥३४९॥

( दोहा )

एक सब्द संजोगतैं, सब्द बरगना-पुंज।

सब्द रूप ह्वै परिनवै, जहँलुगि पहुँचे गुंज ॥३५०॥

अपने काव्य में कवि कहते हैं कि शब्द स्कन्ध जन्य हैं तथा स्कन्ध अणुओं का समूह है। स्कन्ध के घर्षण से शब्द उत्पन्न होते हैं।

आगे सवैया में कवि कहता है कि अपने स्वभाव से शब्दरूप वर्गणाओं से यत्र-तत्र आकाश में वर्गणाओं का अस्तित्व है, आत्मा से संबंध होने पर स्कन्ध काल पाकर शब्द रूप हो जाते हैं। इसतरह एक शब्द के संयोग से शब्द वर्गणा का पुंज जहाँ तक आवाज पहुँचती है; शब्दरूप परिणमते हैं।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि - “शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। कोई भाव वाली वस्तु है जिसकी पर्याय पलटकर शब्द उत्पन्न होते हैं। अनन्त परमाणुओं के मिलाप से स्कन्ध होते हैं। उन स्कन्धों से परस्पर मेल होता है, तब भाषा वर्गणा के परमाणु शब्द रूप से परिणमते हैं।

भावार्थ यह है कि द्रव्य कर्णेन्द्रिय के निमित्त से भाव कर्णेन्द्रिय के द्वारा जो आवाज जानने में आती है, उसे शब्द कहते हैं। शब्द ज्ञान नहीं है और ज्ञान शब्द नहीं है। वीतरागी का उपदेश भी परमाणु की पर्याय है वे शब्द अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध से उत्पन्न होता है।

जहाँ-जहाँ शब्द करने की बाह्य सामग्री का संयोग मिलता है, वहाँ-वहाँ शब्द योग्य वर्गणा स्वयमेव शब्दरूप से परिणमित होती हैं। शब्द के दो प्रकार हैं ह १. प्रायोगिक २. वैश्रसिक। प्रायोगिक वे हैं जो पुरुषादि की भाषा के प्रयोग से तथा वीणा, बांसुरी आदि से उत्पन्न होते हैं तथा मेघादि की गर्जनारूप से उत्पन्न होने वाले शब्द वैश्रसिक हैं।

जब भाषा लायक परमाणु भाषारूप से परिणमित होते हैं तब बाह्य अनुकूल सामग्री को निमित्त कहा जाता है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार यहाँ यह सिद्ध किया है कि शब्द पुद्गल की पर्याय है।

गाथा- ८०

विगत गाथा में कहा गया है कि शब्द स्कन्धजन्य हैं और अनन्त परमाणुओं के मिलाप से स्कन्ध बनता है।

प्रस्तुत गाथा में परमाणुओं के प्रदेशीपन का कथन है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

णिच्चो णाणवगासो ण सावगासो पदेसदो भेदा ।

खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं ॥८०॥

(हरिगीत)

अवकाश नहिं सावकाश नहिं, अणु अप्रदेशी नित्य है।

भेदक संघातक स्कन्ध का, अर विभाग कर्त्ता काल का ॥८०॥

परमाणु एक प्रदेशवाला है, नित्य है, अनवकाश नहीं है, सावकाश भी नहीं है। स्कन्धों का भेदन करनेवाला है और काल तथा संख्या को विभाजित करनेवाला है अर्थात् काल का विभाजन करता है और संख्या का माप करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह यह परमाणु के एक प्रदेशी होने का कथन है।

जो परमाणु एक प्रदेशी है, रूपादि गुण सामान्य वाला है, अविनाशी होने से नित्य है। वह कभी भी रूपादि गुणों से रहित नहीं होता। जगह देने की सामर्थ्य वाला है अतः सावकाश भी नहीं है। वह परमाणु स्कन्धों के बिखरने (टूटने) में निमित्त होने से स्कन्धों का भेदन करनेवाला है तथा स्कन्धों के संघात (मिलाने) का निमित्त होने से स्कन्धों का कर्त्ता है। वह परमाणु एक प्रदेश द्वारा गति परिणाम को प्राप्त होने के कारण काल का विभाग करता है अतः काल का विभाजक है।”

कवि हीरानन्दजी ने जो स्पष्टीकरण किया है, वह इसप्रकार है ह

( दोहा )

नित्य देइ अवकास काँ अनवकास परदेस ।

खन्द-विदारन करन फुनि, काल विभाग निवेस ॥३५१॥

( सवैया इकतीसा )

रूपादि गुन की जातिरूप परदेस-अनू,

सर्वदैव अविनासी तातैं नित्य मोलै है ।

रूपादि गुन काँ अवकास देइ दूजा अनू,

पैठै नाहिं अनू मैं अनवकास डोलै है ॥

खंधौ काँ विदारें और खंधौ कौ समारै सोइ,

काल का विभाग करै समयदि तोलै हैं ।

द्रव्य-खेत-भाव-संख्या ताही तैं प्रगट होइ,

सोई परदेस नाम जिनवानी बोलै है ॥३५२॥

( दोहा )

ताही एक प्रदेस करि संख्या सगरी जानि ।

दरव-खेत अरु काल की, भाव भेद की मानि ॥३५३॥

जाकरि दरवहि देखिए, सो कहिए परदेस ।

खेत रूप है वस्तु का, अलख निरंजन भेस ॥३५४॥

कवि ने अपने काव्यों में परमाणु प्रदेश का कथन किया है। वे कहते हैं कि ह अणु अप्रदेशी अर्थात् एकप्रदेशी है व नित्य हैं, अवकाश नहीं हैं तथा सावकाश भी नहीं हैं। काल तथा संख्या को विभाजित करनेवाला है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “अणु या परमाणु पुद्गल का छोटे में छोटा अर्थात् ऐसा सबसे छोटा भाग है, जिसका दूसरा टुकड़ा नहीं होता। परमाणु सदैव अविनाशी है, नित्य है ह ऐसा ज्ञानी जानता है। परमाणु तो पुद्गल हैं, अजीव है; इसकारण उसे अपना ज्ञान भी नहीं

है और दूसरों का भी ज्ञान नहीं है। जबकि आत्मा स्वयं को भी जानता है और परमाणु आदि पर को भी जानता है।

एक परमाणु एक प्रदेश में है तथा अपने रूपादि गुणों से कभी भी अलग नहीं होता। परमाणु एक प्रदेशी होते हुए अपने गुणों से रहित नहीं है। यद्यपि नीचली दशा में अर्थात् छद्मस्थ दशा में परमाणु प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। वह प्रत्यक्ष तो केवली के हैं तथापि छद्मस्थ दशावाले उन जीवों के जिन्हें अपने द्रव्य गुण की एकता का विश्वास हुआ है तथा जिन्होंने स्वभाव का आश्रय लिया है तथा जिन्हें स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट हुआ है; उसके ज्ञान में भले परमाणु प्रत्यक्ष नहीं दिखता तो भी ज्ञान अनुमान करता है कि जो यह स्कन्ध दिखाई देता है, वह बहुत से परमाणुओं का पिण्ड है। इसमें से टुकड़े होते-होते जो अन्तिम अंश रहता है, वह परमाणु है। वह परमाणु एक प्रदेशी होने पर भी अपने प्रदेशों से जुदा नहीं है तथा वह स्पर्श आदि गुणों को अवकाश देने में समर्थ हैं। गुण-गुणी के प्रदेश जुदे नहीं हैं, इससे गुणी गुणों को अवकाश देता है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार गुरुदेव श्री ने परमाणु तथा प्रदेश का अनेक दृष्टिकोणों से स्पष्टीकरण करके समझाया है। परमाणु एक प्रदेशी है, नित्य है स्कन्धों का भेदन करने वाला है एवं काल तथा संख्या का विभाजन करने वाला है। परमाणु रूपादि गुणों से रहित नहीं है। काल का विभाजक है। अवकाश नहीं है, सावकाश भी नहीं है। यह परमाणु पुद्गल का सबसे छोटा भाग है। इस तरह इस गाथा में परमाणु के बारे में जानकारी दी गई है।



( 151 )

### गाथा- ८१

विगत गाथा में परमाणु के एक प्रदेशीपने का कथन किया है तथा कहा है कि वह नित्य है अनवकाश नहीं है, सावकाश भी नहीं है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व द्रव्य परमाणु गुण व पर्यायवान है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**एयरसवण्णगंधं दोफासं सदकारणमसदं ।  
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ॥८१॥**

(हरिगीत)

एक वरण-रस गंध युत, अर दो स्पर्श युत परमाणु है।

वह शब्द हेतु अशब्द है, स्कन्ध में भी द्रव्याणु है ॥८१॥

वह परमाणु एक रसवाला, एक वर्ण वाला, एक गंध वाला तथा दो स्पर्शवाला है; शब्द का कारण है, अशब्द है और स्कन्ध के भीतर है तथा परिपूर्ण स्वतंत्र द्रव्य है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह्व “सर्वत्र परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सभी सहभावी गुण हैं जो कि निज पर्यायों सहित वर्तते हैं। जैसे कि ह्व पाँच रसपर्यायों में से कोई एक रस, पाँच वर्ण पर्यायों में से एक वर्ण, दो गंध पर्यायों में से एक समय में कोई एक गंध तथा शीत उष्णादि युगल में से कोई एक स्पर्श वर्तता है। इसप्रकार जिसमें गुणों का अस्तित्व कहा गया है ऐसा वह परमाणु शब्द स्कन्ध रूप से परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाववाला होने से शब्द का कारण है। एक प्रदेशी होने के कारण शब्द पर्यायरूप परिणत न होने से अशब्द है।

यहाँ यह बताया है कि स्कन्ध में भी प्रत्येक परमाणु स्वयं परिपूर्ण है, स्वतंत्र है, पर की सहायता से रहित है और अपने गुण पर्यायों में स्थित है। इसप्रकार यहाँ परमाणु द्रव्य में गुण-पर्याय होने का कथन है।”

कवि हीरानन्द उक्त गाथा के संदर्भ में निम्नांकित पद्य कहते हैं ह

(अडिल्ल )

एक वरन-रस-गन्ध, फरस दुय विधि कहा ।  
सबद रूप का हेतु असबद सहजै लहा ॥  
नाना खंधौं बिषै अनंत दरब लसै ।  
परमाणू सो जान जहाँ गुनक्रम वसै ॥३५९॥

( सवैया इकतीसा )

रूप-रस-गंध-फास, परमानु विषै भासु,  
अनुगामी परिनाम, गुन रूप गाये हैं ।  
एकरूप एकरस एकगंध फास दोई,  
कामरूप वरतना, परजै कहाये हैं ॥  
शब्दरूप खंधौतैं सबद उपजै सदा,  
तातैं अनु एक देसी, सबद नाहिं भाये हैं ।  
स्निग्ध रुख गुन तासैं खंद नाना रूप होई,  
ऐसैं पुद्गलानु सदा, लोक में दिखाये हैं ॥३६०॥

( चौपाई )

पाँच वरन में एक बरन है, इस पाचौं में एक धरन है ।  
गंध दोइ इकगंध सुहाया, फरस आठदुय फरस बताया ॥  
स्निग्ध-रूक्ष में एक कहावै, शीत-उष्ण में एक रहावै ।  
ऐसैं अनुभै परगट दीखैं, पाँच मुख्यगुन जिन सुन सीखैं ॥३६२॥

( दोहा )

पनरह रस की गौनता, पाँच मुख्य गुनजान ।  
सुद्ध अनू में कहत है, सात असुद्ध बखान ॥३६३॥  
आठ फरस गुन जे कहे, तिनमें लखिए च्यारि ।  
आपस में प्रतिपच्छगति, सात असुद्ध निहारि ॥३६४॥

उक्त पद्यों में कहा है कि ह एक परमाणु में एक वर्ण, एक रस, एक गंध तथा दो स्पर्श ये सब पर्यायरूप हैं ।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने प्रवचन प्रसाद नं. १७२ में दिनांक १२-४-५२ को गाथा ८१ की व्याख्या में कहा कि ह “एक परमाणु में एक रस, एक गंध, एक वर्ण एवं दो स्पर्श हैं । यह परमाणु शब्द की उत्पत्ति का कारण है, किन्तु स्वयं एकप्रदेशी है । इसकारण शब्द की व्यक्तता रहित है तथा वहाँ पुद्गल स्कन्धों से जुदा है, स्कन्ध में रहते हुए भी परमाणु अपनेपने से भिन्न अस्तित्व में है ।

इसप्रकार पुद्गल द्रव्य का एक परमाणु भी स्वतंत्र द्रव्य है ।

एक परमाणु में स्पर्श दो, रस एक, गंध एक, वर्ण एक ह इसप्रकार पाँच गुण कहे हैं । वह परमाणु जब स्कन्ध के साथ मिल जाता है तब शब्द पर्याय का कारण बनता है ।

देखो, परमाणु तो जड़ है । परमाणु जब स्थूल स्कन्ध में मिल जाता है तब उसमें यद्यपि दो स्पर्श नहीं रहते तो भी दो स्पर्श आदि गुणों के मूल को कभी छोड़ते नहीं है । परमाणु जड़ है, तो भी वह अपनी स्वतंत्रता के स्वभाव को छोड़ता नहीं है । अज्ञानी को इस बात का भान नहीं है; इसकारण शरीर, मन, वाणी को अपना माना है । शरीर व कर्म की क्रिया मुझसे होती है तथा उस क्रिया से मुझे शान्ति व सुख मिलता है, ऐसी मान्यता होने के कारण शरीरादि से स्वयं को भिन्न नहीं मानता ।

जब परमाणु स्कन्ध में मिलते हैं तब पर्याय दृष्टि से परमाणु में स्थूलपने से व्यवहार होते हुए भी द्रव्यदृष्टि से तो परमाणु सूक्ष्म अतीन्द्रिय ही है तथा दो स्पर्श की योग्यता वाला है । इसप्रकार जड़ परमाणु अपनी स्वतंत्रता से रहता है ।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि भाई! तू तो ज्ञान स्वभावी है, चेतन है, तू

पर्यायदृष्टि से शरीर व कर्म के संयोग वाला है, पुण्य पाप के विकारीभाव वाला है; तथापि स्वभावदृष्टि से तो तू शरीर व कर्म के बिना ही है। पुण्य-पाप तेरे स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हुए हैं। तू तो ज्ञान स्वभावी जैसे का तैसा है। ऐसे शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करना ही धर्म है।

अचेतन परमाणु अपने गुण-पर्यायों को जुदा रखता है, इस बात की उसको स्वयं खबर नहीं है। उसे जाननेवाला तो आत्मा है। आत्मा जानता है कि हूँ 'परमाणु अपने गुण पर्यायों को स्वतंत्र रखता है' परमाणु की स्वतंत्रता बताकर मात्र परमाणु का ज्ञान कराना उद्देश्य नहीं है; बल्कि आत्मा का ज्ञान करना ही अभीष्ट है।

शरीर व कर्मों का संयोग होते हुए भी वे मेरे नहीं है, विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसे एकरूप अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का आदर करना धर्म है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार गाथा ८१ में परमाणु को एक रस, एक वर्ण, एक गंध तथा दो स्पर्श वाला बताकर उसका स्वरूप बताया है तथा कहा है कि वह परमाणु अशब्द है और परिपूर्ण द्रव्य है।

अन्त में गुरुदेवश्री ने विकार को एवं शरीर रूप नोकर्म एवं कर्मों को अपने आत्मा से जुदा बताकर अपने आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

●

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १७२, पृष्ठ-१३६७, दि. १२-४-५२ के बाद का प्रवचन

## गाथा- ८२

विगत गाथा में परमाणु रूप द्रव्य में गुण-पर्यायों होने का कथन है। इस प्रस्तुत गाथा में सर्व पुद्गल के भेदों का उपसंहार है। मूल गाथा इसप्रकार है ह  
**उवभोज्जमिदिण्हिं य इंदियकाया मणो य कम्माणि।**  
**जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पोग्गलं जाणे।।८२।।**

(हरिगीत)

जो इन्द्रियों से भोग्य हैं, अर काय-मन के कर्म जो।

अर अन्य जो कुछ मूर्त हैं वे, सभी पुद्गल द्रव्य हैं।।८२।।

जो विषय इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य हैं एवं शरीर, मन के जो कर्म हैं और अन्य जो कुछ भी मूर्त हैं, उन सबको पुद्गल जानो।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि हूँ “स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दरूप पाँच इन्द्रियों के विषय, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र हूँ ये पाँच इन्द्रियाँ, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तेजस और कार्माण तथा द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा इसके अतिरिक्त और भी जो नाना प्रकार की पुद्गल वर्णणायें हैं तथा औदारिक वैक्रियक आहारक तेजस और कार्माण हूँ ये पाँच प्रकार के शरीर। द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म और सभी मूर्त पदार्थ पुद्गल द्रव्य हैं।”

उक्त भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं हूँ

( दोहा )

इन्द्रिय करि जो भोगिए, अर जो इन्द्रिय काय।

चित्तकरम मूरत सबै, पुद्गल दरब दिखाय।।३५९।।

( सवैया इकतीसा )

इन्द्री कै विषय फास रूप रस गंध भाष,  
 इन्द्री वपु रसना औ नासा नैन कान है ।  
 पाँच है शरीर नाम द्रव्य मन मनौधाम,  
 करम नोकरम कै परजै प्रमान है ॥  
 अनुवर्ग वर्गना हैं द्रवनु अनंत खंध,  
 मूरतीक नानाभेद पुगल निदान है ।  
 जे जे दृष्टि गोचर है भूमि व्योमचारी सबै,  
 पुगल कै रूप तै तै यानी के बरवान हैं ॥३६६॥

( दोहा )

वरनादिक जहाँ वीस गुन, सो मूरति परमान ।  
 सो मूरति मूरति जहाँ सो पुगल अभिधान ॥३६७॥  
 पुगल-दख अनेकविधि, जग में लसे अनन्त ।  
 जथा सुमति उद्यम करै, कहत न पावै अन्त ॥३६८॥

उपर्युक्त पद्यों में द्रव्य इन्द्रियों एवं उनके विषयों के भोग्य पदार्थों की चर्चा है तथा कर्म-नोकर्म, अणु, वर्ग-वर्गणा आदि उन नाना भेदों का निम्नप्रकार उल्लेख किया गया है जो दृष्टिगोचर होते हैं भले वे भूमि पर हों या आकाशचारी हों सभी पुद्गल के रूप हैं ।

वर्ण आदि जो पुद्गल के बीस गुण हैं उन्हें भोगते हुए जीव उनमें सुख मानते हैं, जबकि वे जड़ हैं, उनमें सुखगुण ही नहीं है ।

कहा है कि ह “पाँचों शरीर, द्रव्यमन, कर्म-नोकर्म, वर्ग-वर्गणायें, द्रव्याणुओं के अनन्त स्कन्ध, मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के नाना भेद, जो-जो भी दृष्टिगोचर हैं वे सभी भूमिगत एवं आकाश में स्थित सभी पुद्गल के रूप हैं ।”

इसी गाथा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए गुरुदेव श्री कानजी स्वामी कहते हैं कि ह “पाँच इन्द्रियों से जो पाँच प्रकार के विषय भोगने में आते हैं, वे जड़ हैं, मूर्तिक हैं । उनमें सुख नहीं है । जो जीव जड़ से सुख मानते हैं, उन्हें कभी भी धर्म एवं शान्ति नहीं मिलती ।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र हूँ ये पाँच इन्द्रियाँ भी जड़ हैं । उनमें भी सुख नहीं है । कोई कहे कि इन्द्रियाँ भी तो ज्ञान में निमित्त होती है न? उसका समाधान यह है कि हूँ भाई! जाननेवाला तो आत्मा है; इन्द्रियाँ तो जड़ हैं । आत्मा पर पदार्थों को इन्द्रियों से नहीं जानता, स्वयं अपने ज्ञान से ही जानता है । जिन्हें आत्मा के अतीन्द्रिय सुख के स्वाद की खबर नहीं है तथा आत्मा का अनुभव नहीं है, वे अज्ञानी जीव पाँच इन्द्रिय के विषयों में सुख मानते हैं ।

मनुष्यों तथा तिर्यचों के औदारिक शरीर, देवों तथा नारकियों के वैक्रियक शरीर आदि सभी शरीर जड़ हैं, पुद्गल हैं । अज्ञानी जीव शरीर को अपना मानकर संसार में रखड़ (भटक) रहा है ।

आत्मा अशरीरी है, चैतन्य स्वभावी है, तथा शरीर इससे विरुद्ध जड़ स्वभावी है । ऐसा भेदज्ञान करने से धर्म होता है । आत्मा का ज्ञान होना तथा उसी में स्थिर होना मोक्ष का उपाय है । ज्ञानावरणादि आठ कर्म तथा शरीर आदि नो कर्म पुद्गल हैं, आत्मा से जुदे हैं । आत्मा तो कर्मों से रहित एवं अमूर्तिक है । कर्म तथा नोकर्म मूर्तिक हैं । पुद्गल का स्वरूप आत्मा का स्वरूप नहीं है हूँ ऐसा जानकर भेदज्ञान करो ।

इस जगत में केवली ने कहा है कि हूँ उक्त पर पदार्थों से भेदज्ञान करने की ताकत आत्मा में है । आत्मा का ज्ञान स्वपर प्रकाशक है, स्वयं को जानता है तथा छः द्रव्यों को भी जान लेता है । छह द्रव्य सहित आत्मा की प्रतीति करना आत्मा का स्वभाव है । अतः उसे जानने का प्रयत्न कर ।<sup>१</sup>”

इसप्रकार मूलगाथा में तो यह कहा है कि हूँ जो विषय इन्द्रियों के उपभोग्य हैं तथा शरीर, मन, कर्म और अन्य जो भी मूर्त हैं वे सब पुद्गल हैं । टीका में पाँच शरीर द्रव्यमन, नोकर्म आदि नाना पुद्गल वर्गणाओं को पुद्गल द्रव्य कहा है । गुरुदेवश्री ने इनके सिवा अज्ञानियों की मान्यता बताते हुए उनके इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषय सुख की चर्चा की है । जो सुख नहीं सुखाभास है ।

( 154 )



इसी गाथा के भाव को कवि हीरानन्दजी पद्य में कहते हैं ह  
( दोहा )

अरस अवर्ण अगंध है, सबद विना बिन फास ।  
सो मूरति मूरति जहाँ सो पुग्गल अभिधान ॥३६९॥  
( सवैया इकतीसा )

वरनादिक गुण वीस तिनका अभाव जामैं,  
सोई धर्मास्तिकाय अमूरति वखानी हैं ।  
याही तैं असबद और सकल लोक व्यापी है ।  
लोक अवगाही तातैं सारे जहाँ ताही है ॥  
अयुतसिद्ध सगरे प्रसिद्ध विसतारी औ,  
संभावना है अपार तातैं लोकाकास माहीं है ।  
निहचै अखंड एक देसी, व्यवहार माहीं,  
असंख्यात् परदेसी स्याद परछाहीं है ॥३७०॥  
( दोहा )

धर्म-अस्तिकाया लसै, लोकाकास प्रमाण ।

एक अखंड अनाद अकृत अनंत अमान ॥३७१॥

उक्त पद्यों में कवि ने कहा है कि ह धर्मास्तिकाय द्रव्य अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श एवं अशब्द है तथा अमूर्तिक है, लोकव्यापी है, निश्चय से अखण्ड एवं व्यवहार से असंख्यात प्रदेशी है ।

तथा पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है । धर्मद्रव्य में पुद्गल जैसे बीस गुण नहीं हैं वह अमूर्तिक हैं । वह धर्मद्रव्य अशब्द और सकल लोकव्यापी है, निश्चय से अखण्ड तथा व्यवहार से असंख्यात प्रदेशी हैं । एक है, अखण्ड है, अनादि है, अकृत एवं अनन्त हैं ।

अपने प्रवचन में गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह “आत्मा असंख्य प्रदेशी, अरूपी, अचेतन व कायवंत है । दोनों के प्रदेशों की संख्या समान है । धर्मद्रव्य निश्चय से अखण्डित है तथापि - व्यवहार से असंख्य प्रदेशी है ।

( 155 )

### गाथा- ८३

विगत गाथा में कहा गया है कि ह पाँच इन्द्रियों द्वारा पाँच प्रकार के विषय जो भोगने में आते हैं, वे जड़ हैं, मूर्तिक हैं तथा पाँचों इन्द्रियाँ और मन भी जड़ हैं ।

अब प्रस्तुत गाथा में धर्मास्तिकाय का व्याख्यान किया जाता है ।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असहमफ्फासं ।  
लोगागाढं पुट्टं पिहुलमसंखादियपदेसं ॥८३॥  
(हरिगीत)

धर्मास्तिकाय अवर्ण अरस अगंध अशब्द अस्पर्श है ।

लोकव्यापक पृथुल अर अखण्ड असंख्य प्रदेश हैं ॥८३॥

धर्मास्तिकाय अस्पर्श, अरस, अवर्ण, अगंध और अशब्द है । लोक व्यापक है, अखण्ड, विशाल और असंख्य प्रदेशी हैं ।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह यह धर्मास्तिकाय के स्वरूप का कथन है । इसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण का अभाव होने से यह धर्मद्रव्य अमूर्त स्वभाव वाला है, इसलिए अशब्द है । समस्त लोकाकाश में व्याप्त होने से लोक व्यापक है, अयुतसिद्ध अर्थात् अभिन्न प्रदेश वाला होने से अखण्ड है । निश्चय से एक प्रदेशी होने पर तथा अविभाज्य होने पर व्यवहार से असंख्य प्रदेशी है । यह धर्मद्रव्य अनादि अनन्त अरूपी वस्तु है तथा जीव और पुद्गल की गति में निमित्त होता है ।

जिसप्रकार तिलों में तैल व्याप्त है, आत्मा में ज्ञान व्याप्त है, सिद्ध क्षेत्र में सिद्धजीव व्याप्त हैं; अभव्य जीवों में राग व मिथ्यात्व व्यापता है, उसीप्रकार सम्पूर्ण लोक में अचेतन, अरूपी धर्मद्रव्य व्याप्त है । आत्मा से जुदा है । आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय है ।”

## गाथा- ८४

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व 'धर्मद्रव्य अनादि-अनन्त अरूपी वस्तु है। वह जीव व पुद्गलद्रव्य में गति करने में निमित्त होती है। यद्यपि यह धर्मद्रव्य निश्चय से अखण्डित है, तथापि व्यवहार से यह असंख्यप्रदेशी है।

अब प्रस्तुत गाथा में भी धर्मद्रव्य के ही शेष स्वरूप का कथन किया है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

अगुरुलघुगोहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं ।  
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूद सयमकज्जं ॥८४॥  
(हरिगीत)

धर्मास्तिकाय अवर्ण अरस अगंध अशब्द अस्पर्श है।  
लोकव्यापक पृथुल अर अखण्ड असंख्य प्रदेश है ॥८४॥

धर्मास्तिकाय द्रव्य अनन्त अगुरुलघु (अंश) रूप सदैव परिणमित होता है, नित्य है, गतिक्रिया युक्त और निमित्तरूप है तथा स्वयं अकार्य है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व "इस गाथा में भी धर्मद्रव्य का ही शेष कथन है। अन्य द्रव्यों की भाँति धर्मास्तिकाय में भी अगुरुलघुत्व नाम का स्वभाव है वह स्वभाव धर्मास्तिकाय को स्वरूप में रहने के कारणभूत है। उस धर्मास्तिकाय के अविभाग प्रतिच्छेदों को अगुरुलघु गुण (अंश) कहा है, जोकि प्रतिसमय होने वाली षट्स्थानपतित बृद्धि हानि वाले अनन्त हैं। उनरूप सदैव परिणमित होने से वह धर्म द्रव्य उत्पाद व्यय स्वभाव वाला है तथापि स्वरूप से च्युत नहीं होता, इस कारण नित्य है। गतिक्रिया परिणाम को उदासीन-अविनाभावी सहाय मात्र होने से गतिक्रिया में कारणभूत है। स्वयं सिद्ध होने से स्वयं अकार्य है।"

कवि हीराचन्दजी कविता में कहते हैं।  
( दोहा )

अगुरु-लघुक-गुन अनगिनत, तिनकरि परिणत नित्त ।  
गतिकारन गतिवंत कौं, आप आकारज वित्त ॥३७२॥  
( सवैया इकतीसा )

उतपाद नास ध्रौव्य सत्ता का सरूप सारा,  
गतिकौं सहायकारी कारण विथारा है ।  
अस्तिरूप वस्तु तामैं जगमैं अकारज है,  
धर्म-दर्वरूप ऐसा पंडित विचारा है ॥३७३॥  
( दोहा )

गति सहकारी गुन जहाँ, किरिया रहित परिणाम ।  
लोकाकास प्रमान नित, धरम दरव अभिराम ॥३७४॥

उक्त पद्यों में कहा है कि ह्व धर्म द्रव्य अपने अनगिनत अगुरुलघुक अंशों रूप परिणमित होता है, तथा जीव व पुद्गल द्रव्यों की गति क्रिया में हेतु है। यह अगुरुलघुत्व नामक गुण है, प्रत्येक द्रव्य है। उसी से धर्मद्रव्य में भी समय-समय अपनी पर्याय में अनन्त अविभागी परिच्छेद रूप परिणामन हुआ करता है।

इसी बात को गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघुत्व नाम का गुण है, उसी से धर्मद्रव्य में भी समय-समय अपनी पर्याय में अनन्त अविभाग परिच्छेद रूप परिणामन हुआ करता है। तथा द्रव्य टंकोत्कीर्ण अविनासी है। तथा जीव व पुद्गल जो अपनी योग्यता से गमन करते हैं, उनके उस गमनरूप परिणामन में धर्मद्रव्य निमित्त कारण होता है। धर्मद्रय का स्वरूप जानकर यह धर्म द्रव्य जैसा अनादि अनन्त है। आत्मा भी अनादि जैसा ही है। ऐसा नक्की कर।<sup>१</sup>" ●

## गाथा- ८५

विगत गाथा में धर्मास्तिकाय का ही व्याख्यान किया गया है।

अब प्रस्तुत गाथा में भी धर्मद्रव्य का ही स्वरूप उदाहरण सहित समझाया है। मूल गाथा इसप्रकार है ह

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुगहकरं हवदि लोए ।  
तह जीवपोग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि॥८५॥

(हरिगीत)

गमन हेतुभूत है जगत में, ज्यों जल होता मीन को।

त्यों धर्म द्रव्य है गमन हेतु जीव पुद्गल द्रव्य को॥८५॥

जिसप्रकार लोक में पानी मछलियों को गगन में अनुग्रह करता है, अर्थात् निमित्त होता है, उसीप्रकार धर्मद्रव्य जीव एवं पुद्गलों को गमन में निमित्त होता है ह ऐसा जानो।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि यह धर्मद्रव्य के गति हेतुत्व का दृष्टान्त है। जिसप्रकार पानी स्वयं गमन न करता हुआ और पर को अर्थात् मछलियों को गमन न कराता हुआ स्वयमेव गमन करती हुई मछलियों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप (कारण मात्र रूप) गमन में निमित्त होता है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी स्वयं गमन न करता हुआ और परद्रव्य को गमन न कराता हुआ स्वयमेव गमन करते हुए जीवों एवं पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र रूप से गमन में अनुग्रह करता है अर्थात् गमन में मात्र निमित्त बनता है?

इसी बात को कवि हीरानन्दजी इसप्रकार कहते हैं।

( सवैया इकतीसा )

जैसे जल चलै नाहि मीन कौं चलावे नाहिं,  
स्वयंमेव चलै मीन ताकौं सहकारी है।

तैसे एक धर्मद्रव्य चलै न चलावै काहु,

पुगल जीव चलै तिनही का सहायी है।

मीन गति क्रियाचारी पानी का निमित्त पाय,

अविनाभाव दौनों के उदासीन भारी है।

ऐसैं धर्मदर्व उदासीन रूप लोक मध्य,

जथारूप जैनी जानै वस्तुता सिरारी है॥३७६॥

( दोहा )

जस नर-पसु कौं मही, चलनैं कौ आधार।

तैसें पुगल जीव कौं, धरम द्रव्य सहकार॥३७७॥

जिसतरह जल स्वयं गमन करती हुई मछली को चलाने में निमित्त होता है, उसीप्रकार धर्म स्वयं नहीं चलता है एवं जीव व पुद्गल को नहीं चलाता; किन्तु जब जीव व पुद्गल स्वयं गमन करते हैं तब धर्मद्रव्य गमन में निमित्त बनता है।

उक्त गाथा पर व्याख्यान करते हुए श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “यहाँ धर्मद्रव्य का ज्ञान कराते हैं। जिसप्रकार मछलियों को गमन करने में पानी निमित्तमात्र है। पानी मछली को जबरदस्ती या प्रेरणा देकर चलाता नहीं है, बल्कि जब मछली अपनी तत्समय की योग्यता से स्वयं चलती है तब पानी उदासीन निमित्त अविनाभावी रूप से बनता है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसी प्रकार जीव तथा पुद्गलों को चलने में धर्मद्रव्य निमित्त होता है। मूल पाठ में जो ‘अनुग्रह’ शब्द है, उसका अर्थ निमित्त रूप से सहकारी कारण है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मछली के गमन के साथ-साथ जिसप्रकार पानी नहीं चलता, उसी प्रकार जीव व पुद्गलों के साथ धर्मद्रव्य चलता नहीं है। मात्र गमन में निमित्त होता है। ऐसा ही पानी का स्वभाव है। जब मछली अपनी तत्समय की योग्यता से चलती है, उसीसमय पानी पर

चलाने का आरोप आता है, क्योंकि मछली की स्वयं की योग्यता ही ऐसी है कि वह पानी में ही चल सकती है। इसीप्रकार जीवों व पुद्गलों का ऐसा ही स्वभाव या योग्यता कि वह धर्मद्रव्य के निमित्त हुए बिना गमन नहीं कर सकता। धर्मद्रव्य तो उदासीन निमित्त है, अतः प्रेरणा करके नहीं चलाता।

यहाँ दृष्टान्त में कहा है कि ह्म सिद्धदशा प्राप्त करने में भव्य जीव की लायकात अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति उपादान कारण है। यहाँ वर्तमान पर्याय क्षणिक उपादान कारण है। गुण तो त्रिकाल हैं। उस समय मनुष्य देह, उत्तम संहनन, तीर्थकर प्रकृति निमित्त कारण कहे जाते हैं।

दूसरा लोकोत्तर दृष्टान्त देते हैं ह्म कहते हैं कि भव्य तथा अभव्य चारगति में परिभ्रमण करते हैं, उनके अपने-अपने शुभाशुभभाव उपादानकारण हैं। तथा निमित्त कारण का बाह्यलिंग, दान-पूजा के समय होनेवाली शारीरिक क्रिया तथा बाहरी शुभ अनुष्ठान, मन्दिर, समवशरण, मानस्तंभ बहिरंग सहकारी निमित्त कारण कहलाते हैं।

पण्डित बनारसीदास ने कहा है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का प्रेरक नहीं है। इसप्रकार जीव व पुद्गल के क्षेत्रान्तर होने में धर्मास्तिकाय का निमित्तपना दृष्टान्तों द्वारा समझाया है।<sup>१</sup>”

सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि धर्म द्रव्य स्वयं गमन करते हुए जीव व पुद्गलों के गमन में उदासीन रूप से निमित्त बनता है। धर्मद्रव्य उनके साथ स्वयं भी गमन भी नहीं करता। जिस तरह रेल (पटरी) रेलगाड़ी के चलाने में निमित्त तो बनती है; परन्तु रेलगाड़ी के साथ स्वयं चलती नहीं है। ●

### गाथा- ८६

पिछली गाथा में धर्मद्रव्य का स्वरूप समझाया गया है।

अब प्रस्तुत गाथा में अधर्मद्रव्य का स्वरूप कहते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह्म

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।  
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव।।८६।।  
(हरिगीत)

धरम नामक द्रव्यवत ही अधर्म नामक द्रव्य है।

स्थिति क्रिया से युक्त को यह स्थितिकरण में निमित्त है।।८६।।

जिसप्रकार धर्मद्रव्य है, उसीप्रकार अधर्म द्रव्य भी जानो; परन्तु जो द्रव्य गमनपूर्वक स्वयं ठहरते हुए जीवों व पुद्गलों को पृथ्वी की भाँति ठहरने में निमित्त होता है वह अधर्म द्रव्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र उक्त बात की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि अधर्मास्तिकाय गमन पूर्वक स्वयं ठहरते हुए जीवों एवं पुद्गलों को ठहराता है, किन्तु यह प्रेरणा करके नहीं ठहराता, बल्कि यह तो मात्र उदासीन रूप से निमित्त बनता है।

कवि हीरानन्दजी अपनी काव्य की भाषा में कहते हैं कि ह्म

( दोहा )

जैसा धरम द्रव्य लसै, तैसा जान अधर्म।

थितिकिरिया कारण भला पृथिवी वत् जिनधर्म।।३७८।।

( सवैया इकतीसा )

जैसा धर्म दर्व कहा अरस, अरूप गंध,

सवद फास बिना ही लोक अवगाही है।

सारा लोक व्यापी विस्तार लोकमानलसै,

असंख्यात परदेस एका निवाही है।

तैसा ही अधर्म द्रव्य सगरे विसेषण सौं,  
 थितिकिरिया वंतों का कारण कहाही है।  
 पाँचों अस्तिकाय विषै एक अस्तिकाय कहे,  
 यथारूप जानै मिथ्या मोहिनी ढहाही है॥३७९॥  
 जैसा धर्मदर्व कहा तैसा ही अधर्म दर्व,  
 इतना विसेस पर नीकै निहारतैं।  
 गतिकिरियावंतों को पानीवत् कारन है,  
 धर्म दर्व जथारूप वस्तुता विचारतैं ॥  
 थितिकिरियावन्तों कौं पृथ्वीवत कारन है,  
 सोई तौ अधर्मद्रव्य थिति के संभारतै।  
 पृथ्वी आप थानरूप अश्वकौं रहावै नाहि,  
 उदासीन थिति-हेतु सम्यक् उजारतैं॥३८०॥  
 ( दोहा )

ज्यौं ग्रीषम में पथिक कौ छाया शीतलठौर।

थिति कारण अधरम तथा, क्षिति कारक है और॥३८१॥

कवि हीरानन्दजी उक्त दोहा एवं सवैया में कहते हैं कि ह्व जैसा धर्मद्रव्य को असंख्यात प्रदेशी अरस, अरूप और अगंध तथा शब्द और स्पर्श के बिना लोक प्रमाण कहा है, उसीप्रकार यह अधर्म द्रव्य उक्त सभी विशेषणों से संयुक्त है तथा जीव और पुद्गलों को स्थिति में निमित्त है।

श्री गुरुदेवकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “पृथ्वी अपने स्वभाव से अपनी अवस्था में स्थिर है तथा अधर्म द्रव्य भी अपने स्वभाव से ही स्थिर है तथा स्वयं स्थिर रहते हुए जीव व पुद्गलों की स्थिरता में अधर्म द्रव्य निमित्त कारण होता है; परन्तु वह अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों को जबरदस्ती से स्थिर नहीं कराता। यदि गतिपूर्वक स्थिति में जीव व पुद्गल अपनी तत्समय की योग्यता से स्थिति करें तो अधर्म द्रव्य उनकी स्थिति में अपनी

स्वाभाविक उदासीन अवस्था रूप से निमित्त मात्र सहायक होता है।”

यहाँ श्री जयसेनाचार्य अपनी संस्कृत टीका में कहते हैं कि ह्व ‘में आत्मा शुद्धस्वरूपी हूँ’ ऐसा भान होने पर स्वभाव में स्थिरता होती है। इस प्रमाण शुद्ध आत्मा में स्थिरता का निश्चय कारण वीतराग निर्विकल्प स्व संवेदन है। शुभराग या पुण्य उसमें कारण नहीं है।

जीव अपने पर्याय में होते हुए राग-द्वेष की अस्थिरता छोड़कर शुद्ध चिदानन्द स्वभाव में स्थिरता करता है। उसमें स्वसंवेदन निश्चय कारण है तथा उस समय हुए अरहंत सिद्ध का विकल्प निमित्त कारण कहलाता है।

धर्म-अधर्मद्रव्य से लोक-अलोक का विभाग पडता है। धर्म-अधर्म द्रव्यों को न मानें तो लोक-अलोक की सिद्धि नहीं होती।

लोक-अलोक को व धर्म-अधर्म द्रव्यों को न जानें तो ज्ञान मिथ्या ठहरता है।

जो व्यक्ति धर्म-अधर्म द्रव्य को नहीं मानते, उनके समाधान के लिए आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव अगली गाथा लिखते हैं।

इसप्रकार उक्त गाथा एवं टीका तथा हीराचन्दजी ने मूल परिभाषा को लगभग एक तरह से कहते हीराचन्दजी ने धर्मद्रव्य व अधर्म को असंख्यातप्रदेशी, अरस, अरूप और अबाध बताते हुए जीव व पुद्गलों को गमनपूर्वक स्थिति में निमित्त बताया तथा आचार्य जयसेन ने धर्म व अधर्म द्रव्य की परिभाषाओं पर जोर न देते हुए कहा कि ‘में आत्मा शुद्धस्वरूपी हूँ। ऐसा भान होने पर स्वभाव में स्थिरता होती है।..... तथा आगे कहा कि - जीव अपने पर्याय में होते हुए राग-द्वेष की अस्थिरता छोड़कर शुद्ध चिदानन्द स्वभाव में स्थिरता करता है, उसमें स्वसंवेदन निश्चय कारण है तथा उस समय अरहंत सिद्ध का विकल्प निमित्त कारण है।’ आदि की चर्चा करके नया प्रमेय प्रस्तुत किया।<sup>१</sup>



## गाथा- ८७

विगत गाथा में अधर्मद्रव्य का विस्तार से वर्णन किया।  
अब प्रस्तुत गाथा में भी धर्मद्रव्य एवं अधर्मद्रव्य के अस्तित्व के  
विषय में कहते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह  
जादो अलोगलोगो जेसिं सबभावदो य गमणठिदी।  
दो वि य मया विभक्ता अविभक्ता लोयमेत्ता य॥८७॥  
(हरिगीत)

धरम अर अधरम से ही लोकालोक गति-स्थिति बने।

वे उभय भिन्न-अभिन्न भी अर सकल लोक प्रमाण है॥८७॥

जीव-पुद्गल की गति स्थिति तथा लोक-अलोक का विभाग ह  
उक्त दोनों द्रव्यों के सद्भाव से ही होता है और वे दोनों द्रव्य विभक्त-  
अविभक्त तथा लोक प्रमाण कहे गये हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि इस गाथा में धर्म व अधर्म द्रव्य के  
सद्भाव की सिद्धि के लिये हेतु दर्शाया है। धर्म-अधर्म द्रव्य विद्यमान हैं,  
अन्यथा लोक व अलोक का विभाग नहीं बन सकता था। धर्म व अधर्म  
ह दोनों परस्पर पृथक् अस्तित्व से निष्पन्न होने से भिन्न-भिन्न हैं तथा एक  
क्षेत्रावगाही होने से अभिन्न भी हैं। समस्त लोक में प्रवर्तमान जीवों-  
पुद्गलों को गति-स्थिति में निष्क्रिय रूप से अनुग्रह करते हैं, इसलिए  
निमित्त होते हुए लोकप्रमाण हैं।

कवि हीरानन्दजी अपनी काव्य की भाषा में कहते ह

( सवैया इकतीसा )

जीवाजीव छहों दर्व जा मैं एकवृत्ति रूप,

सोई लोकाकास मान लोक मांही लोक है।

तातैं धर्माधर्म दोनों लोक परमान कहै,

जीव पुद्गल जातैं याही माहीं रोक है॥

लोक तैं अलोक परंपरा है अनादि ही को,

सुद्धाकास एक धर्माधर्म कौ कहै।

तातैं जो विभाग किया लोकालोक दौनों रूप,

सो तौ धर्माधर्म तैं है जैनी वानी जो कहै॥३८३॥

( दोहा )

लोकालोक अनादि नभ, एक अखण्ड अपार।

धर्म अधर्म अनादि तैं, भया विभेद विचार॥३९०॥

सवैया ३८३ एवं दोहा ३९० में कवि ने कहा है कि ह जिसमें  
जीवाजीव आदि छहों द्रव्य एक वृत्तिरूप से रहते हैं। वह लोकाकाश हैं।  
धर्म व अधर्म द्रव्य - दोनों लोक प्रमाण हैं, इसी कारण जीव पुद्गल भी  
अपनी स्वभावगत वैसी योग्यता से अनादि-उपादान एवं धर्म-अधर्म  
द्रव्य के निमित्त से लोकाकाश में ही रहते हैं। यह लोक व अलोक की  
परम्परा से है। छह द्रव्यों के ऊपर मात्र अकेला अनन्त आकाश है।

यहाँ व्याख्यान करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह  
“यदि कोई प्रश्न करें कि धर्मद्रव्य अधर्म मानने की क्या जरूरत है?  
जबकि आकाश द्रव्य ही गति व स्थिति में सहायक हैं।

उत्तर :- यह लोक मर्यादावाला है, सीमित है; जहाँ तक छह द्रव्य  
हैं, वहाँ तक ही लोक है, बाकी खाली स्थान अलोक है।

आकाश द्रव्य के ऐसे दो भाग माने बिना यथार्थ वस्तु स्थिति नक्की  
नहीं होती। जैसे जड़ व चेतन-दोनों भिन्न हैं, वैसे ही लोक व अलोक  
दोनों भिन्न हैं। लोक-अलोक अपने स्वयं के कारण हैं उसमें धर्म अधर्म  
द्रव्य को निमित्त के रूप में सिद्ध किया है। धर्म-अधर्म द्रव्य हैं तो  
अवश्य। यदि ये दोनों द्रव्य न हों तो ह लोक-अलोक का भेद सिद्ध नहीं  
होता। जहाँ जीवादिक समस्त पदार्थ हैं, उसे लोक कहते हैं। आकाश का  
क्षेत्र अनन्त है, उसमें असंख्य योजन तक लोक है, पश्चात् जहाँ अकेला  
आकाश है, उसे अलोक कहते हैं।<sup>१</sup>

( 160 )



अश्व को गतिपूर्वक स्थिति में मात्र आश्रयरूप कारण है, वैसे ही स्वयं गमनपूर्वक स्थिति में जीव व पुद्गलों की उदासीन निमित्तता है।

कवि हीरानन्दजी अपनी काव्य की भाषा में कहते हैं ह

( दोहा )

आप धरम चलता नहीं औरहिं करहि न चाल ।

पुद्गल-जीव सुभावकै, गति विस्तरै त्रिकाल ॥३९१॥

( सवैया इकतीसा )

जैसें वायु चलै आप धुजा कौ चलावै और,

तातैं धुजा हलनै का हेतु वायुकर्ता है ।

तैसें धर्मनिष्क्रिय है कदाकाल चालै नाहिं,

सदाजीव-पुद्गल की गति का धर्ता है ॥

जैसें तोय मछली कौं आसरा सहाय करै,

तैसे जीव अनू लौं धरम दर्व भर्ता है ॥

आप तौ न चलै कबै पर कै चलाइवै का,

बाहिर सहारा लसै, राग-द्वेष हर्ता है ॥३९२॥

( दोहा )

यातैं दौनों दरव ए, लसै सदा असमान ।

पुद्गल-जीव क्रिया सधै, यह उपचार बखान ॥३९४॥

कवि उक्त छन्दों में कहते हैं कि ह धर्मद्रव्य स्वयं तो निष्क्रिय है, परन्तु यह धर्म द्रव्य जीव व पुद्गलों के गमन में मात्र निमित्त बनता है। जिसप्रकार पानी मछली के चलने में निमित्त होता है, वैसे ही धर्म द्रव्य जीव व पुद्गलों के चलाने में निमित्त होता है।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए श्री सत्पुरुष कानजी स्वामी ने कहा है कि ह “धर्म द्रव्य स्वयं हलन-चलन नहीं करता तथा अन्य जीवों एवं पुद्गलों को भी प्रेरक बनकर हलन-चलन नहीं कराता। धर्म द्रव्य स्वयं

## गाथा- ८८

पिछली गाथा में धर्म एवं अधर्मद्रव्य के स्वरूप का कथन है। तथा लोक-अलोक का विभाग उक्त दोनों द्रव्यों के सद्भाव से दर्शाया है।

अब प्रस्तुत गाथा में उक्त दोनों द्रव्यों को उदासीन निमित्त रूप कहा गया है। मूल गाथा इसप्रकार है ह

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स ।

हवदि गदिस्स य पसरो जीवाणं पोग्गलाणं च ॥८८॥

( हरिगीत )

होती गति जिस द्रव्य की स्थिति भी हो उसी की।

वे सभी निज परिणाम से ठहरें या गति क्रिया करें ॥८८॥

धर्मास्तिकाय गमन नहीं करता और अन्य द्रव्य को भी गमन नहीं कराता; वह तो स्वयं गमन करते हुए जीवों तथा पुद्गलों के गमन में मात्र उदासीन निमित्त होता है।

आचार्य अमृतचन्द टीका में कहते हैं कि ह धर्म और अधर्मद्रव्य गति और स्थिति के हेतु होने पर भी वे अत्यन्त उदासीन हैं।

जिसप्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओं के गति कर्ता दिखाई देते हैं, वैसे धर्मद्रव्य जीव व पुद्गलों का गति कर्ता/कराता नहीं है। वह धर्म द्रव्य तो वास्तव में निष्क्रिय है तथा जीव व पुद्गलों की गति में अत्यन्त उदासीन निमित्त मात्र है, कर्ता नहीं।

जिसप्रकार पानी मछलियों के गति में उदासीन कारण है, वैसे जीव और पुद्गलों की गति में धर्म द्रव्य उदासीन कारण है। इसीप्रकार अधर्म द्रव्य के बारे में जानना चाहिए। इसका उदाहरण यह है कि ह जैसे पृथ्वी

गमन करते हुए जीवों व पुद्गलों के गमन में मात्र उदासीन निमित्त बनता है। इसीप्रकार अधर्म भी गतिपूर्वक स्थिति करते हुए जीवों व पुद्गलों की स्थिति में मात्र उदासीन निमित्त होता है।

आगे दृष्टान्त देते हैं कि ह्व जो जीव अपने आत्मा के आश्रय से सिद्धदशा प्रगट करता है तो तीर्थकर प्रकृति उत्तम संहनन वगैरह निमित्त कहे जाते हैं, उसीप्रकार धर्मद्रव्य स्वयं गति करते हुए जीव व पुद्गलों की गति में निमित्त होते हैं। तथा जो जीव शुद्धात्मा में स्थिरता करते हैं, उन्हें पंचपरमेष्ठी का स्मरण निमित्त कहा जाता है। जो ऐसा विचार करता है कि ह्व ये पाँचों आत्मा में हैं, जड़ में नहीं। उनके निमित्त से ऐसा भान करे कि ऐसी योग्यता मुझ में भी है, मैं परिपूर्ण आत्मा हूँ, जो ऐसा ज्ञान कर स्वभाव में स्थिरता करता है, उसे पंच परमेष्ठी का विकल्प निमित्त कहलाता है।”

इस दृष्टान्त के अनुसार जो जीव व पुद्गल अपने कारण गतिपूर्वक स्थिति करते हैं, उसे अधर्मद्रव्य का निमित्त कहलाता है।

इसप्रकार विविध दृष्टान्तों से धर्मद्रव्य एवं अधर्मद्रव्य का खुलासा हुआ।



( 162 )

## गाथा- ८९

पिछली गाथा में धर्मद्रव्य एवं अधर्म को मात्र उदासी निमित्त निरूपित किया गया है।

अब प्रस्तुत गाथा में धर्म और अधर्मद्रव्य की उदासीनता के सम्बन्ध हेतु कहा जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**विज्जदि जेसिं गमणं ठाण पुण तेसिमेव संभवदि।  
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति।।८९।।**

(हरिगीत)

जिनका होता गमन है, होता उन्हीं का ठहरना।

तो सिद्ध होता है कि द्रव्य, चलते-ठहरते स्वयं से।।८९।।

जिनकी द्रव्यों की गति होती है, उन्हीं की फिर स्थिति होती है तथा वे सभी जीव व पुद्गल अपने परिणामों से गति व स्थिति करते हैं।

इसके स्पष्टीकरण में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह्व वास्तव में अर्थात् निश्चय से धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों को कभी गति में हेतु नहीं होता। अधर्मद्रव्य भी कभी स्थिति में मुख्य हेतु नहीं होता। यदि वह हेतु हों तो जिन्हें गति हो उन्हें गतिशील ही रहना चाहिए, उनकी स्थिति नहीं होना चाहिए और जिन्हें स्थिति हो, उन्हें स्थिति ही रहना चाहिए, किन्तु एक पदार्थ को ही गति व स्थिति ह्व दोनों देखने में आते हैं, इसलिए कह सकते हैं कि धर्मद्रव्य व अधर्म द्रव्य मुख्य हेतु नहीं हैं; किन्तु जब जीव व पुद्गल अपनी तत्समय की योग्यता से गमन करें या स्थित रहें तब धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्यगति एवं स्थिति में निमित्त मात्र होते हैं। इसलिए उन्हें व्यवहारनय से उदासीन कारण कहा जाता है।

कवि हीरानन्दजी अपनी काव्य की भाषा में कहते हैं ह्व

( सवैया इकतीसा )

धरमाधरम दौनौ जौ तौ गति-थिति हेतु,

मुख्यरूपरूप लसै तौ तौ बड़ाई विरोध है।

गति कौं करैया सदाकाल गति ही कौं करै,  
 तिथि का करैया थिति ऐसा तौ न बोध है॥  
 तातैं चले और रहे जीव अनुनाना ठौर,  
 आपैं उपादान सैती निहचै कौं सोध है ।  
 बाहिर निमित्त धर्मा-धर्म उदासीरूप,  
 ऐसौं भेद वानी ही तैं ग्यानी के प्रबोध हैं॥३९७॥

प्रस्तुत छन्दों में यह कहा है कि ह्व धर्म व अधर्म दोनों जीवों और पुद्गलों को चलाते व ठहराते नहीं है; बल्कि जब जीव व पुद्गल अपनी योग्यता से गमन करते व ठहरते हैं तो उक्त दोनों द्रव्य मात्र उदासीन निमित्त होते हैं ।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी आचार्य जयसेन के तर्क के आधार पर कहते हैं कि ह्व धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य गति-स्थिति में मुख्य कारण नहीं हैं ।

जीव एवं पुद्गल पदार्थ अपने उपादान कारण से चलते एवं ठहरते हैं । कोई अन्य उन्हें प्रेरणा करके चलाता व ठहराता नहीं है । इसलिये यह तय है कि धर्म व अधर्म द्रव्य गति-स्थिति में मुख्य कारण नहीं है । व्यवहारनय से उन्हें उदासीन निमित्त कारण कहा जाता है । सर्वज्ञ के मत के सिवाय यह धर्म-अधर्म की चर्चा अन्यमत में कहीं नहीं है । यहाँ तीन बातों को ध्यान रखना है ह्व

१. आत्मा शक्तिरूप से सर्वज्ञ है । २. जगत में छह द्रव्य परिपूर्ण हैं । ३. अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढलकर अपने में जो ज्ञान प्रकट होता है, उसकी ताकत बहुत है । वह ज्ञान स्व को जानता हुआ छह द्रव्यों को यथार्थ जानता है ।<sup>१</sup>”

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने कारण गति व स्थितिरूप पर्याय स्वतंत्र रूप से करता है ऐसी अनंतपर्यायों को धारण करनेवाला प्रत्येक गुणस्वतंत्र है तथा उन गुणों को धारण करने वाले द्रव्य भी स्वतंत्र हैं । ●

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १७४, दिनांक १४-४-५२, पृष्ठ-१३९०

## गाथा- ९०

विगत गाथा में बताया गया है जीवों एवं पुद्गलों की गति एवं स्थिति तो उनकी अपनी तत्समय योग्यता रूप उपादान कारण से होती है, धर्म व अधर्म द्रव्य तो निमित्त मात्र होते हैं ।

अब गाथा ९० से आकाश द्रव्यास्तिकाय का वर्णन करते हैं । मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पोग्गलाणं च ।  
 जं देदि विवरमखिलं तं लोगे हवदि आगासं॥९०॥  
 (हरिगीत)

जीव पुद्गल धरम आदिक लोक में जो द्रव्य हैं ।

अवकाश देता इन्हें जो आकास नामक द्रव्य वह॥९०॥

लोक में जीवों को और पुद्गलों को तथा शेष समस्त द्रव्यों को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है, वह आकाश द्रव्य है ।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी अपनी टीका में कहते हैं कि यह आकाश द्रव्य के स्वरूप का कथन है । षट्द्रव्यात्मक लोक में शेष सभी द्रव्यों को अर्थात् अनंतानंत जीव, उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल, असंख्य कालाणु और असंख्यप्रदेशी एक धर्म द्रव्य एक अधर्मद्रव्य को जो अवकाश दे, वह आकाश द्रव्य है । ये सब लोक से अनन्य हैं । आकाश द्रव्य अनन्त होने के कारण लोक से अनन्य एवं अन्य है ।

कवि हीरानन्दजी अपनी काव्य की भाषा में कहते हैं कि ह्व

( सवैया इकतीसा )

लोकविषैं जहाँ-जहाँ जीव पुद्गल समूह,

धर्माधर्म काल व्योम सबका निवास है ।

सब ही कौं सदा काल एक खेत विषैं ढाल,

अवकास व्योम देय कारण विलास है॥

सुद्ध परदेसस खेत सबका सहेत गुन,  
 परजैसमेत सदा सुद्धता प्रकास है।  
 हलन-चलन वर्ती क्रिया जामें कवै नाहिं,  
 सुद्ध अवकास क्रिया जामें सो अकास है॥४०१॥  
 ( दोहा )

पुगलकाया जीव फुनि, धरमाधरम अनन्य।  
 तिनतैं अन्य अनन्य है, नभ अनंत अनगन्य॥४०३॥

लोक में जहाँ-जहाँ जीवों व पुद्गलों का समूह है, धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य तथा आकाशद्रव्य एवं कालद्रव्य का निवास है, उसे लोकाकाश जानो। ये सभी द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायों सहित रहते हैं, आकाश में स्वयं हलन-चलन क्रिया नहीं है, किन्तु कितने भाग में छह द्रव्य है वह लोकाकाश, शेष भाग अलोकाकाश है।

इसी भाव को विशेष स्पष्टीकरण के साथ गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व आकास अनन्त प्रदेशी हैं, इसलिए कायवान होने से यह अस्तिकाय है। यद्यपि आकाश को यह खबर नहीं है कि मैं अनन्त जीवों तथा अनन्तानंत पुद्गल आदि छहों द्रव्यों को अवकास देता हूँ; क्योंकि वह जड़ है, फिर भी अपनी स्वभावगत योग्यता से वह सब द्रव्यों को अवकास देता है।

यदि समस्त लोक सूक्ष्म परिणमन करे तो आकास अपने एक प्रदेश में अवकास दे सकता है ह्व ऐसी योग्यता आकास द्रव्य में है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में द्रव्य का सामान्य वर्णन हुआ।



( 164 )

### गाथा- ९१

विगत गाथा में आकाश द्रव्य का स्वरूप कहा।  
 अब प्रस्तुत गाथा में यह बताते हैं कि अलोकाकाश छहों द्रव्य रूप लोक के बाहर भी है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व  
 जीवा पुगलकाया धम्माधम्मा य लोगदो णण्णा।  
 तत्ते अणणमण्णं आयासं अन्तवदिरित्तं॥९१॥  
 (हरिगीत)

जीव पुद्गल काय धर्म अधर्म लोक अनन्य हैं।  
 अन्त रहित आकाश इनसे अनन्य भी अर अन्य भी॥९१॥

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म तथा काल लोक से अनन्य हैं तथा अन्तरहित आकाश लोक से अनन्य भी तथा अन्य भी है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि ह्व यह लोक के बाहर जो अनन्त आकाश है, उसकी सूचना है। वे जीवादि द्रव्य मर्यादित होने के कारण लोक से अनन्य ही हैं; और आकाश अनन्त होने के कारण लोक से अनन्य भी है और अन्य भी।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्व  
 ( सवैया इकतीसा )

जीव है असंख्य परदेसी एक लोकमान,  
 पुद्गल अनन्त सो भी लोक परिमित है।

धर्माधर्म-दोनों असंख्य परदेसी हैं,  
 औ असंख्य अनु-काल लोकमाहिं थित हैं॥

तातैं ए दरब न्यारे लोक माहिं परे सारे,  
 इनतैं अनन्य लोक किया नाहीं नित हैं।

तातैं परे हैं अनन्त एक नभ सुद्धवंत,  
 अन्यभाव तामैं वसै ज्ञानी कै उदित हैं॥४०४॥

( दोहा )

लोक थकी बाहिर परा, सकल अलोकाकास ।

अगम अपार अनंत है, निज गुण-परजै-वास ॥४०५॥

निम्न पद्यों में हीरानन्दजी कहते हैं कि ह्व जीव असंख्य प्रदेशी हैं एवं लोक प्रमाण हैं, पुद्गल अनन्त हैं, वे भी लोक प्रमाण ही हैं। धर्म व अधर्म दोनों द्रव्य भी असंख्य प्रदेशी हैं तथा कालाणु लोक प्रमाण ही हैं। एक मात्र अलोकाकाश ऐसा है जो लोक में भी है और लोक बाहर अलोक में भी है।

इसी गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “आकाश एक अखण्ड द्रव्य होते हुए भी लोक व अलोक के भेद दो प्रकार कहा गया है। आकाश के जितने भाग में जीवादि छहों द्रव्य हैं, वह लोकाकाश, शेष जहाँ केवल आकाश ही आकाश है वह अलोकाकाश है। जिस भाग में छः द्रव्य हैं, वह असंख्य प्रदेशी तथा शेष आकाश अनन्त प्रदेशी हैं।

**प्रश्न :** ह्व असंख्य प्रदेशी लोकाकास में अनन्त जीव एवं अनन्तान्त पुद्गलादि द्रव्य कैसे समाते होंगे?

**उत्तर :-** असंख्यप्रदेशी आकाश में सहज अवगाहना स्वभाव है, इस कारण अनन्त जीवादि समा जाते हैं वस्तु का स्वभाव वचन गम्य नहीं है। जैसे ह्व एक घर में अनेक दीपों का प्रकाश जमा जाता है, उसी प्रकार आकाश में ऐसी अवगाहन शक्ति है।

इसी शक्ति से अनन्त चेतन व जड़ पदार्थों को एक ही समय अवकास दे देता है। ऐसी भी क्षमता है कि ह्व अनन्त परमाणु सूक्ष्म रूप से परिणमन करें तो एक प्रदेश में समा जाते हैं।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में आकाश द्रव्य की अवगाहन शक्ति की चर्चा की।

१. श्रीसद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १७६, गाथा-९१, पृष्ठ-१३९९

गाथा- ९२

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व आकाश के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य मर्यादित स्वभाव के कारण लोक से अनन्य ही हैं। तथा आकाश अनन्त होने के कारण अनन्य भी हैं और अन्य भी हैं।

अब इस गाथा में कहते हैं कि ह्व यदि आप आकाश को गति-स्थिति में हेतु मानेंगे तो सिद्धों को लोकान्त में ही ठहरने का अभाव सिद्ध होगा। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

आगासं अवगासं गमणट्टिदिकारणेहिं देदि जदि ।

उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्टन्ति किध तत्थ ॥९२॥

( हरिगीत )

अवकाश हेतु नभ यदि गति-थिति कारण भी बने।

तो ऊर्ध्वगामी आत्मा लोकान्त में जा क्यों रुके ॥९२॥

यदि आकाश अवकास का हेतु भी हो एवं गति-स्थिति का हेतु भी हो तो ऊर्ध्वगति करनेवाले सिद्ध लोकाकाश के अन्त में क्यों स्थिर हों? उत्तर में कहा है कि ह्व जिनवरों ने सिद्धों को लोकाग्र में स्थिति कहा है। इसलिए सिद्धों की गति अलोकाकाश में नहीं होती।

टीकाकार आचार्य अमृत कहते हैं कि ह्व यह जीवादि द्रव्यों की स्थिति-सम्बन्धी कथन है। लोक और अलोक का विभाग करनेवाले लोक में स्थित धर्म तथा अधर्म द्रव्य को ही गति व स्थिति में हेतु माना गया है। अतः सिद्ध लोकाग्र में ही स्थिर होते हैं।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं कि ह्व

( दोहा )

ज्यों अवकास अकास-गुण, त्यों जग गतिथिति होइ ।

सिद्ध उर्ध्वगति सहजतैं, सिवमैं रहै न कोइ ॥४०६॥

( सवैया इकतीसा )

जैसैं आकास दरव जीव और पुगलकों,  
 अवकास देनवाला सदाकाल हत है ।  
 तैसैं जीव पुगलकै चलने रहनेकौं भी,  
 करता अकास जौ पै कारन महत है ॥  
 तौ पै कहौ कैसैं रहै ऊरध सुभाव-गत,  
 सिद्ध सिद्ध अलोकविषैं आगै क्यौं न गत है ।  
 नभ तौ सहायकारी आतमा विहारधारी,  
 सारी बात विभचारी श्रीजिनेस मत है ॥४०७ ॥

( दोहा )

जैसैं सब आकासमें, गुन अवकास अखंड ।  
 गति-थिति-कारन है नहीं, वस्तुरूप बल चंड ॥४०८ ॥

कवि हीरानन्दजी कहते हैं कि जिसप्रकार आकाशद्रव्य में अवकाश देने का गुण है, वैसे ही जीव पुद्गलों को गति व स्थिति देने निमित्तरूप बनने का धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य में गुण है । आकाशद्रव्य में गतिस्थिति में निमित्त बनने का गुण नहीं है । इसकारण सिद्ध जीव अलोक में नहीं जाते ।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए अपने व्याख्यान में गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी कहते हैं कि ह्व इस गाथा में यह भेदज्ञान कराया है कि ह्व आकाश द्रव्य से धर्म-अधर्म द्रव्य जुदे हैं । आकाश द्रव्य में गति स्थिति में निमित्त होने का गुण नहीं है । इस कारण धर्म-अधर्म द्रव्य का काम आकाश द्रव्य नहीं कर सकता । ऐसा कहकर भेदज्ञान कराया है । पञ्चास्तिकाय का ज्ञान भेदज्ञान का कारण है । इसमें दृष्टि का विषय आ जाता है ।

इसप्रकार संक्षेप में लोक-अलोक का ज्ञान कराया है ।

( 166 )

गाथा- ९३

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्व आकाश द्रव्य में गति स्थिति हेतुत्व होने की शंका निरर्थक है, क्योंकि फिर जीव को अनन्त आकाश में अनन्तकाल तक का प्रसंग आयेगा । जो कि असंभव है ।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व जिनवरों ने सिद्धों की लोकांत में स्थिति कही है, इसलिए गति-स्थित अलोकाकाश में नहीं है ।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

जम्हा उवरिट्टाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।  
 तम्हा गमणट्टाणं आयासे जाण णत्थि त्ति ॥९३ ॥

( हरिगीत )

लोकान्त में तो रहे आत्मा अष्ट कर्म अभाव कर ।

तो सिद्ध है कि नभ गति-थिति हेतु होता है नहीं ॥९३ ॥

जिससे जिनवरों ने सिद्धों की लोक के ऊपर स्थिति कही है, इसलिए गति-स्थिति आकाश में नहीं होती ह्व ऐसा जानो ।

आचार्य अमृतचन्द स्वामी ने भी विशेष कुछ न कहकर मात्र यही कहा कि ह्व सिद्धभगवन्त गमन करके लोक के ऊपर (लोकाग्र में) स्थिर होते हैं । क्योंकि आकाशद्रव्य गति हेतुत्व नहीं है । लोक व अलोक का विभाग करनेवाले धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य ही गति-स्थिति में निमित्त होते हैं ।

कवि हीरानन्दजी अपनी काव्य की भाषा में कहते हैं कि ह्व

( दोहा )

जो सिद्धालै सिद्ध हैं, और कहूँ नहि जाहिं ।  
 तो गतिथिति आकास-गुण, निहचै जानौं नाहिं ॥४०९ ॥

( सवैया इकतीसा )

जातैं कर्मनास भये ऊरध स्वभाव सेती,

सिद्धजीव जाय जाय सिद्धगति वासी है ।



सदाकाल रहै तामैं और ठौर नाहीं भामैं,  
निर्विभाग सुद्ध एक जोति परगासी है ॥  
तातैं ऐसा निहचै सौं जानिए प्रसिद्धनभ,  
चालै राखै नाहिं काहू अवकास रासी है ।  
गतिथान काँ निमित्त धर्माधर्म दौनों लसे,  
वस्तु सीमा जैसी तैसी सांची दृष्टि भासी है ॥४१० ॥

जो सिद्धालय में सिद्ध है वे अन्यत्र कहीं नहीं जाते, इसलिए यह निश्चय है कि ह्व गति व स्थिति आकाश का गुण नहीं है। गति-स्थिति में धर्म व अधर्मद्रव्य निमित्त होते हैं जो अलोकाकाश में नहीं है। अतः सिद्ध लोकान्त में ही रहते हैं।

इस गाथा के स्पष्टीकरण में अपने व्याख्यान में गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व इसगाथा में कहा गया है कि आकाश से धर्म-अधर्म भिन्न हैं, इसलिए वहाँ तक क्षेत्रान्तर होने में तथा ठहरने में निमित्तरूप होने का गुण आकाश द्रव्य में नहीं है। आकाश के गुण से धर्म-अधर्म द्रव्य के गुण जुड़े हैं।

यहाँ शिष्य पूछता है कि ह्व आकाश द्रव्य ही चेतन व अचेतन पुद्गल के गमन में निमित्त हों तो क्या बाधा है?

उत्तर में गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “यदि सिद्ध भगवान का अलोकाकाश में हो तथा आकाश में गति-स्थिति में निमित्त बनने का गुण तो यह संभव है। आकाश धर्म-अधर्म में निमित्त बनने का गुण ही नहीं है अतः यह बात संभव कैसे हो सकती है। धर्म-अधर्म द्रव्य भी आलोक में जाने का गुण नहीं है। अतः लोक के द्रव्य लोक में ही हैं। यह सिद्ध हुआ।

धर्म-अधर्म द्रव्य से लोक-अलोक का विभाग पड़ता है। धर्म-अधर्म द्रव्यों को न माने तो लोक-अलोक की सिद्धि नहीं होती।”

लोक-अलोक को व धर्म-अधर्म द्रव्यों को न जाने तो ज्ञान मिथ्या ठहरता है।

●

( 167 )

## गाथा- १४

विगत गाथा में यह कहा है कि ह्व लोक के द्रव्य लोक में रहते हैं। उनका अलोकाकाश में जाने का स्वभाव ही नहीं तथा निमित्तरूप धर्मास्तिकाय अभाव भी है।

अब प्रस्तुत गाथा में आकाश में गति-स्थिति न होने का हेतु बताया है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं ।

पसजदि अलोगहाणी, लोगस्स य अन्तपरिवुड्ढी ॥१४॥

( हरिगीत )

नभ होय यदि गति हेतु अर थिति हेतु पुद्गल जीव को।

तो हानि होय अलोक की अर लोक अन्त नहीं बने ॥१४॥

यदि आकाश जीव-पुद्गलों को गमन में हेतु हों और स्थिति में हेतु हो तो अलोक की हानि का और लोक अन्त की वृद्धि का प्रसंग प्राप्त होगा।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह्व आकाश गति-स्थिति का हेतु नहीं है; क्योंकि लोक और अलोक की सीमा की व्यवस्था इसी प्रकार बन सकती है।

यदि आकाश को ही गति-स्थिति का निमित्त माना जाय तो आकाश का सद्भाव सर्वत्र होने से जीव व पुद्गलों की कोई सीमा न रहने से प्रतिक्षण अलोक की हानि होगी और लोक अन्त भी नहीं बन पायेगा। इसलिए आकाश में गति-स्थिति का हेतुपना सिद्ध नहीं होता।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं कि ह्व

( दोहा )

गमनथान का हेतु जो, होइ आकाश महंत ।

तो अलोक की हानि है, लोक बदे बिन अंत ॥४१२ ॥

( सवैया इकतीसा )

नहिं है आकास गति-थान का निमित्त यातैं,  
 लोकालोक सीमा नीकी सदाकाल बनी है।  
 जौ तौ गति-थान-हेतु कहिए आकास दर्व,  
 तौ तौ है विरोध बड़ा सीमा सारी भनी है॥  
 नभ तौ अपार सारै गति-थान कौ निवारै,  
 कौन अलोक सीमा लोकरूढ़ि हानि है।  
 छहों दर्व पावै जहाँ-तहाँ लोक सीमा नाहिं,  
 भेदज्ञान जाहिं सवै सांची बात मनी है॥४१०॥

कवि का कहना है कि यदि आकाश द्रव्य गमन का निमित्त हो तो अलोकाकाश की हानि होगी और लोक का अन्त नहीं ठहरेगा अर्थात् लोक अनन्त मानना पड़ेगा, जो असंभव है। इसलिए आकाश गति, स्थिति का निमित्त नहीं ठहरता। तथा इसी कारण लोकालोक की सीमा बनती है।

इस गाथा के व्याख्यान में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व यदि ऐसा माना जावे कि धर्मद्रव्य तथा अधर्म की क्या जरूरत है, आकाश द्रव्य से ही जीवादि द्रव्यों की गति-स्थिति हो जायेगी? उनसे कहते हैं कि ह्व ऐसा मानने पर अलोकाकाश का नाश होगा तथा लोकाकाश की वृद्धि का प्रसंग प्राप्त होगा।<sup>१</sup>

तात्पर्य यह है कि ह्व आकाश द्रव्य जीव व पुद्गलों की गति में निमित्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा होने पर जीव व पुद्गल अलोक में चले जायेंगे। इससे लोक व अलोक की मर्यादा ही भंग हो जायेगी, जोकि अनादि से हैं। तथा जब आकाश द्रव्य में गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण ही नहीं है तो निमित्त बनेगा ही कैसे? जबकि निमित्त होने का गुण लोकाकाश में स्थित धर्मद्रव्य एवं अधर्म द्रव्य में है।

इसप्रकार लोक में रहने वाले छहों द्रव्य अलोकाकाश में नहीं जा सकते।

( 168 )

गाथा- ९५

विगत गाथा में यह कहा है कि ह्व अलोकाकाश में धर्मद्रव्य व अधर्म नहीं हैं। इसकारण सिद्धजीव लोकाग्र में ही ठहरते हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में षट्द्रव्य वर्णन के निष्कर्ष के रूप में आ. कुन्दकुन्द स्वयं कहते हैं कि ह्व गति और स्थिति के कारण धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य हैं, आकाश नहीं है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्टिदिकारणाणि णागासं ।  
 इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं॥९५॥  
 (हरिगीत)

नभ होय यदि गति हेतु अर थिति हेतु पुद्गल जीव को।  
 तो हानि होय अलोक की अर लोक अन्त नहीं बने॥९५॥

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी इस गाथा की टीका में विशेष कुछ नहीं कहा। मात्र यह कहा कि आकाश द्रव्य में गति-स्थिति हेतुत्व संभव ही नहीं है; क्योंकि उसमें ऐसा कोई गुण ही नहीं है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्व

( दोहा )

तातैं धर्म-अधर्म हैं गति-थिति कारनवन्त ।  
 नहिं आकास जिनकथन यों ग्यानी लखै लसंत॥४१५॥

( सवैया इकतीसा )

धर्मदर्वविषै नीका गति-हेतु बन्या ठीका,  
 सबतैं विशेष साधै धर्म माहिं गनिए ।  
 ऐसैं ही अधर्म माहिं थान सहकारी गुन,  
 सबसौं निरारा करै लोक माहिं भनिए॥

यातैं गति-थान-हेतु नभकौ न खेतु सो है,  
 एक अवकाश तामैं देसदेस चनिए ।  
 ऐसा उपदेस जिनराजकै समाजविषै,  
 जथाभेद जानैसेती मिथ्यामोह हनिए॥४१६॥  
 ( दोहा )

धर्म-अधर्मविषैं लसै, गति-थिति-हेतु कहान ।

और दर्ब का गुन नहीं, यहु जिनकथन प्रवान ॥४१७॥

उपर्युक्त दोनों दोहों में यह कहा गया है कि ह्व धर्मद्रव्य व अधर्म द्रव्य क्रमशः गति व स्थिति में कारण है तथा आकाश द्रव्य में गति-स्थिति में निमित्त बनने का कोई गुण नहीं है ।

इस गाथा के प्रसंग में गुरुदेव श्री कानजीस्वामी भी जिनेन्द्र भगवान की साक्षीपूर्वक कहते हैं कि ह्व “भगवान भव्यजीवों को संबोधित करते हुए यह बात सुनाते हैं कि हे भव्य जीवो! जैनदर्शन वस्तुदर्शन है, वह स्वभाव स्वरूप है । आकाश अनन्त द्रव्यों को अवगाहन देने के स्वभाववाला है । धर्मद्रव्य अनन्त जीवों को एवं अनन्तानन्त पुद्गलों को गति में निमित्त होता है । अधर्म अनन्त जीवों व पुद्गलों को गतिपूर्वक स्थिति में निमित्त होता है । काल इन्हीं सबके परिणाम में निमित्त होता है । छहों द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र हैं । जो ऐसा ज्ञान करके आत्मा को पर से विभक्तपना एवं स्व से एकत्वपना सिद्ध करता है, वह ज्ञानी है ।

जो जीव किसी भी एक द्रव्य को न माने अथवा अन्यथा माने तो वह पर से विभक्त एवं स्व में एकत्व नहीं मानता । जो आगम के अनुकूल नहीं है ।<sup>१</sup>”

इसप्रकार गाथा में कहा है कि गति-स्थिति में निमित्त बनने का स्वभाव धर्म व अधर्म द्रव्य है, आकाश में नहीं । यह स्पष्ट किया है । ●

## गाथा- १६

विगत गाथा में जीव व पुद्गलों की गति-स्थिति में धर्म व अधर्म द्रव्य को निमित्त कारणपना बताया है तथा यह भी कहा है इनके सिवाय आकाश द्रव्य में गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण ही नहीं हैं ।

अब प्रस्तुत गाथा में आकाश द्रव्य में गति-स्थिति हेतुत्व का सहेतु निषेध करते हुए इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं ।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा ।

पुधगुवलद्धिविसेसा करेंति एगत्तमण्णत्तं॥१६॥

(हरिगीत)

धर्माधर्म अर लोक का अवगाह से एकत्व है ।

अर पृथक् पृथक् अस्तित्व से अन्यत्व है भिन्नत्व है॥१६॥

धर्म, अधर्म और आकाश समान परिणाम वाले अपृथक्भूत होने से तथा पृथक् उपलब्ध होने से एकत्व तथा अन्यत्व को करते हैं ।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह्व यहाँ धर्म, अधर्म और लोकाकाश का अवगाह की अपेक्षा एकत्व होने पर भी वस्तुरूप से अन्यत्व कहा गया है ।

उक्त धर्म, अधर्म व लोकाकाश द्रव्य समान परिमाण वाले होने से एकक्षेत्रावगाह अर्थात् एक साथ रहने मात्र से ही एकत्ववाले हैं । वस्तुतः तो व्यवहार से गति हेतुत्व, स्थिति हेतुत्व और अवगाहन हेतुत्वरूप तथा निश्चय से विभक्त प्रदेशत्व रूप पृथक् उपलब्ध होने की मुख्यता से वे अन्यत्व वाले ही हैं ।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं कि ह

( सवैया इकतीसा )

धर्माधर्म लोकाकाश तीनों ए समान देस,  
एक खेतवासी तातैं एकभाव भजै हैं ।  
ऐसा विवहार असद्भूतनय लखाव,  
ग्याता जीव लखि जानै मिथ्यामति लजै हैं ॥  
गति-थान-अवगाह हेतु रूप भिन्न देस,  
इतने विशेष सेती न्यारै तीनौ रजै हैं ।  
निहचै सरूप ऐसा अनुभौ विलास तैसा,  
ग्यानी ग्यानभाव जानै ग्येय संग तजै हैं ॥४१९॥

यहाँ कवि कहते हैं कि ह धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य एवं लोकाकाश ये ह तीनों एक क्षेत्रवासी होने से एक भावरूप ही हैं, ऐसा असद्भूत व्यवहारनय से कहा है। जीवद्रव्य ज्ञाता हैं ह ऐसा जान मिथ्या बुद्धि लज्जित होती है। धर्म, अधर्म व आकाश के क्रमशः गति-स्थिति व अवगाह लक्षण हैं। इतना विशेष जानकर तीनों को प्रथक से कहा है।

इसी गाथा का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “धर्म, अधर्म एवं लोकाकाश ह ये तीनों द्रव्य व्यवहारनय की अपेक्षा एकक्षेत्रावगाही हैं। जहाँ आकाश है, वहीं ये धर्म-अधर्म भी रहते हैं। तीनों के प्रदेश भी असंख्यात ही हैं। तथापि इन्हें निश्चयनय देखें तो जुदे-जुदे हैं। ये अपने स्वभाव से टंकोत्कीर्ण अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न सत्ता वाले हैं।”

इसप्रकार इस गाथा में आगम एवं तर्क के आश्रय से धर्म, अधर्म द्रव्य से आकाश की भिन्नता एवं अभिन्नता सिद्ध की है। ●

गाथा- १७

विगत गाथा में कहा है कि ह धर्म, अधर्म और लोकाकाश का अवगाह की अपेक्षा एकत्व होने पर वस्तुस्वरूप से अन्यत्व कहा है।

अब प्रस्तुत गाथा में चूलिका के रूप में द्रव्यों का मूर्त-अमूर्तपना तथा चेतन-अचेतनपना बताते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा ।  
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु ॥१७॥  
(हरिगीत)

जीव अर आकाश धर्म अधर्म काल अमूर्त हैं।

मूर्त पुद्गल जीव चेतन शेष द्रव्य अजीव हैं ॥१७॥

आकाश, काल, जीव, धर्म व अधर्म अमूर्त हैं, पुद्गल मूर्त हैं, उनमें जीव चेतन है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह जिसमें स्पर्श-रस-गंध-वर्ण का सद्भाव है वह मूर्त है। जिनमें उक्त गुणों का अभाव है, वे अमूर्त हैं। जिसमें चेतन्य का सद्भाव है, वह जीव है। जीव निश्चय तो अमूर्त ही है, पर व्यवहार से मूर्त द्रव्य के संयोग की अपेक्षा से मूर्त भी कहा जाता है।

कवि हीरानन्दजी का इकतीसा सवैया अधूरा उपलब्ध है, अतः नहीं दिया गया है ह

( दोहा )

व्योम काल आतम धरम, अधरम मूर्ति हीन ।

पुद्गल मूर्तिवंत है, जीव चेतना लीन ॥४२३॥

( 170 )

इस गाथा में गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने विशेष बात यह कही है कि ह्व “पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है एवं अचेतन है तथा आत्मा चेतन व अमूर्तिक है। यह बताकर वे आत्मा पर पदार्थों से जुदा है” ह्व ऐसा कहते हैं। जो पदार्थ आत्मा से जुदे हैं, उनका त्याग आत्मा इस प्रकार करे कि कुटुम्ब, पैसा, शरीर वगैरह से तो आत्मा जुदा ही है, जब आत्मा ने उन्हें ग्रहण ही नहीं किया तो त्याग किसका करे? अतः आत्मा पर का ग्रहण-त्याग नहीं करता। पर वस्तु को छोड़ना नहीं पड़ता। वह तो छूटी ही पड़ी है। समस्त पर पदार्थ अपने आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं। विकार को भी छोड़ना नहीं है, जो विकार हो चुका, वह अगले क्षण छूटने वाला ही, वर्तमान-शुद्धस्वभाव की प्रतीति होने पर मिथ्यात्व की उत्पत्ति ही नहीं होती।”

इसप्रकार इस गाथा में कहा गया है कि - इस जगत में छह द्रव्य हैं, उनमें प्रत्येक के भिन्न-भिन्न भाव हैं। पाँच जड़ पदार्थों में प्रत्येक का भाव अपने-अपने हैं तथा वे स्वयं से अभेद हैं तथा पर से भेदरूप हैं। चैतन्यमय जीव का स्वयं का भाव भी स्वयं से अभिन्न है तथा पर से भिन्न है। आकाश द्रव्य अमूर्तिक है, उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं है। आत्मा में स्पर्श आदि नहीं हैं। आकाश अचेतन अमूर्तिक है तथा आत्मा चेतन अमूर्तिक है। इस तरह इस गाथा के द्रव्यों का परिचय कराया।



( 171 )

## गाथा- १८

विगत गाथा में पुद्गल द्रव्य को मूर्त एवं शेष पाँचों द्रव्यों को अमूर्त कहा है तथा जीव को चेतन शेष पाँचों द्रव्यों को अचेतन कहा गया है।

अब प्रस्तुत गाथा में द्रव्यों की सक्रियता और निष्क्रियता के विषय में कहा जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**जीवा पोग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।**

**पोग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु।।१८।।**

(हरिगीत)

**सक्रिय करण-सह जीव-पुद्गल शेष निष्क्रिय द्रव्य हैं।**

**काल पुद्गल का करण पुद्गल करण है जीव का।।१८।।**

बाह्य साधन सहित जीव और पुद्गल सक्रिय हैं। शेष द्रव्य सक्रिय नहीं है, निष्क्रिय हैं। जीव का बाह्य करण (साधन) कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल तथा पुद्गल की सक्रियता में काल साधन (करण) है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह्व यहाँ द्रव्यों का सक्रिय व निष्क्रियपना कहा है। प्रदेशान्तर प्राप्ति का हेतु परिस्पन्दन रूप पर्याय क्रिया है वहाँ बहिरंग साधन के साथ रहने वाले जीव सक्रिय हैं, बहिरंग साधन के साथ रहने वाले पुद्गल सक्रिय हैं। आकाश निष्क्रिय हैं, धर्म द्रव्य निष्क्रिय हैं, अधर्म निष्क्रिय हैं, काल निष्क्रिय हैं। जीवों को सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म के संचयरूप पुद्गल हैं; इसलिए जीव पुद्गल करण वाले हैं। उसके पुद्गल करण के अभाव के कारण सिद्धों को निष्क्रियपना है। अर्थात् सिद्धों को कर्म-नोकर्म के संचयरूप पुद्गलों का अभाव होने से वे सिद्ध निष्क्रिय हैं।

पुद्गल के अभाव के कारण सिद्धजीव निष्क्रिय हैं। पुद्गलों को

सक्रियपने का बाह्य साधन परिणाम निष्पादक काल है। इसलिए पुद्गल काल साधन वाले हैं।

कर्मादिक की भाँति कालद्रव्य का अभाव नहीं होता, इसलिए सिद्धों की भाँति पुद्गलों को निष्क्रियपना नहीं होता।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

परदेससेती और परदेसविषै जाना,

परजायरूप क्रिया ग्रंथनिमें भाखी है।

कर्मरूप पुग्गल का बाहिर निमित्त पाय,

जीव क्रियावंत बिना कर्म क्रिया नाखी है॥

बाहिर निमित्त परिणाम निमित्तकारी काल,

तातैं पुग्गलानु क्रियावंत सदा राखी है।

च्यारों बाकी रहै द्रव्य निष्क्रिय सुभाव ते हैं,

ग्यानी यथा-रूप जानै जिनराज साखी है॥४२७॥

( दोहा )

जे परदेस अडौल नित, ते निष्क्रिय पहिचान।

जिनकै हलन-चलन लसै, ते हैं किरियावान॥४२८॥

एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने रूप क्रिया ग्रन्थों में कही है। कर्म रूप पुद्गलों का बाह्य निमित्त पाकर जीव क्रियावान होता है। शेष चारों द्रव्य निष्क्रिय स्वभाव के हैं। ज्ञानी उन सबके स्वरूप को यथायोग्य रीति से जानते हैं। संसारी जीव क्रियावान हैं, किन्तु सिद्ध निष्क्रिय होते हैं। क्योंकि उनमें हलन-चलन रूप क्रिया नहीं होती।

यहाँ गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि - “जीव और पुद्गल द्रव्यों में कुछ का क्षेत्रान्तर होने का स्वभाव है, सिद्धों का नहीं है। जो जीव व पुद्गल क्षेत्रान्तर होते हैं, उनमें परद्रव्य निमित्त होते हैं।

जीव संसार दशा में जब अपने कारण गति करता है, तब उसमें कर्म

एवं शरीर को निमित्त कहा जाता है, परन्तु यदि प्रस्तुत कर्म-नोकर्म गति कराते हों तो धर्मद्रव्य व अधर्म को भी गति करा देते, परन्तु यह तो संभव नहीं है; क्योंकि उनके उपादान में गति करने की योग्यता ही नहीं है। जीव में स्वयं में उपादान योग्यता गमन करने की है तो कर्म-नोकर्म को निमित्त कहा जाता है।

अब पुद्गल की बात करते हैं। लक्ष्मी, मकान, रोटी, दाल-भात वगैरह जो पुद्गल स्कन्ध स्वयं अपने कारण क्षेत्रान्तर गमन करते हैं, वही उसके उपादानकारण हैं, उसमें निमित्तकारण काल द्रव्य है।

देखो, जीव का निमित्तपना निकाल दिया, तथा काल को निमित्त कारण कहा है। इसीप्रकार मकान में राग, रोग में साता कर्म का उदय, अलमारी ऊँचा करने में जीव, पुद्गलादि के परिणमन में अन्य को निमित्त न कहकर मात्र काल द्रव्य को निमित्त कहा है।

स्वकाल में परिणमित पुद्गलों को मात्र काल निमित्त है ह ऐसा कहकर सूक्ष्म भेदज्ञान कराया है। उन पुद्गलों के परिणमन का तो वही स्वकाल है; इसलिए उस पर से दृष्टि उठाओ। निमित्त का कथन करके तो परद्रव्यरूप निमित्त का ज्ञान मात्र कराया है।<sup>१</sup>”

प्रस्तुत गाथा का भावार्थ यह है कि ह एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करने को क्रिया कहते हैं। छह द्रव्यों में से जीव को क्षेत्रान्तर करने में पुद्गल निमित्त होता है; क्योंकि उक्त दोनों द्रव्य क्रियावन्त हैं। शेष चार द्रव्य निष्क्रिय एवं निकम्प हैं।

क्षेत्रान्तर होना जीव की स्वाभाविक क्रिया नहीं है। संसारावस्था में स्वयं की तत्समय की योग्यता एवं कर्म के निमित्त से क्रिया होती है। सिद्ध होने पर कर्म-नोकर्म का अभाव हो जाता है। इसकारण तथा निष्क्रिय रहना ही स्वाभाविक क्रिया होने से सिद्धदशा में जीव निष्क्रिय रहता है।



## गाथा- ९९

विगत गाथा में कहा है कि ह्र कौन द्रव्य सक्रिय हैं तथा कौन निष्क्रिय हैं? प्रस्तुत गाथा में इन्द्रियों के मूर्त-अमूर्त विषयों की चर्चा की है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्र

जे खलु इंद्रियगेज्झा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता।

सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि॥९९॥

(हरिगीत)

हैं जीव के जो विषय इन्द्रिय ग्राह्य वे सब मूर्त हैं।

शेष सब अमूर्त हैं मन जानता है उभय को॥९९॥

जो पदार्थ जीवों के इन्द्रिय ग्राह्य विषय हैं, वे मूर्त हैं और शेष पदार्थ समूह अमूर्त हैं। चित्त उन दोनों को ग्रहण करता है, जानता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्र “यह मूर्त और अमूर्त के लक्षण का कथन है। इस लोक में जीवों द्वारा स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय द्वारा उनके विषय-स्पर्श, रस, गंध और वर्ण स्वभाव वाले पदार्थ ग्रहण होते हैं और श्रोत इन्द्रिय द्वारा वही पदार्थ शब्दाकार परिणत होकर ग्रहण होते हैं। वे पदार्थ कदाचित् स्थूल या सूक्ष्मपने को प्राप्त होते हुए तथा कदाचित् परमाणुपने को प्राप्त होते हुए इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होते हों या न होते हों, किन्तु इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने की योग्यता का सदैव सद्भाव होने से मूर्त कहलाते हैं।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है ह्र ऐसा शेष अन्य समस्त पदार्थ समूह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने की योग्यता के अभाव के कारण ‘अमूर्त’ कहलाता है।

इस गाथा के भाव को कवि हीरानन्दजी पद्य में इसप्रकार कहते हैं ह्र

( सवैया इकतीसा )

रसना परस घ्राण चच्छु कान इन्द्री जान,

इन जोगि विषै हैं ते मूरत बखानै हैं ।

शेष अरथ पाचों मैं वरनादि गुन नाहिं,

तातैं एक मूरतीक ग्रन्थनि मैं जानैं है ॥

मनसा विचार जोगि मूरत-अमूरत है,

श्रुतज्ञान साधन तैं अर्थ पुंज मानैं हैं ।

ऐसा जिनराज वानी का है विसतार सारा,

आप पर न्यारा जानि मिथ्याभाव मानैं हैं॥४३०॥

जिन्हें इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती हैं, वे मूर्तिक पुद्गल हैं। शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं। मन मूर्तिक व अमूर्तिक दोनों को ग्रहण करता है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने भावार्थ में कहा है कि ह्र “इस लोक में जीव स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण वाले पदार्थों को स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु ह्र इन चार भावइन्द्रियों द्वारा जानता है, द्रव्य इन्द्रियाँ उसमें निमित्त होती हैं। वे द्रव्येन्द्रियाँ सब पुद्गल हैं, मूर्तिक हैं। इन्द्रियाँ पर पदार्थों को ग्रहण करती नहीं हैं तथा छोड़ती भी नहीं है।

यद्यपि कोई सूक्ष्मस्कन्ध या परमाणु इन्द्रियों द्वारा जानने में नहीं आते, तो भी इन पुद्गलों में ऐसी शक्ति है कि जब वे स्थूलता को धारण करते हैं तब इन्द्रिय गम्य होते हैं।

आत्मा तथा धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाश व काल भी अतीन्द्रिय हैं ये इन्द्रिय ग्राह्य नहीं हैं। हाँ, भाव मन के क्षयोपशम और द्रव्यमन के निमित्त से मूर्तिक व अमूर्तिक ह्र दोनों प्रकार के पदार्थों को जान सकते हैं।

वर्तमान में जो स्थूल मूर्त स्कन्ध इन्द्रियों द्वारा जानने में आते हैं, वे विभाव पर्यायें हैं, वे संयोगी पदार्थ हैं। वे सब व्यवहार नय के विषय हैं। निश्चय द्रव्य तो मूल परमाणु है, वह भी अतीन्द्रिय है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार गाथा ९९ के आधार पर मूर्त-अमूर्त द्रव्यों का वर्णन हुआ। इसप्रकार चूलिका समाप्त हुई।

## गाथा- १००

विगत गाथा में द्रव्यों की मूर्तता एवं अमूर्तता का व्याख्यान किया। प्रस्तुत गाथा में काल द्रव्य का व्याख्यान करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

कालो परिणामभवो परिणामो द्रव्यकालसंभूदो।

दोणहं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो॥१००॥

(हरिगीत)

क्षणिक है व्यवहार काल अरु नित्य निश्चय काल है।

परिणाम से हो काल उद्भव काल से परिणाम भी॥१००॥

व्यवहार काल का माप जीव पुद्गलों के परिणाम से होता है। परिणाम द्रव्यकाल से उत्पन्न होता है। यह दोनों का स्वभाव है। काल क्षणभंगुर तथा नित्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह “यह व्यवहार काल तथा निश्चय काल का व्याख्यान है। ‘समय’ नाम की जो क्रमिक पर्याय है वह व्यवहारकाल है उसके आधारभूतद्रव्य निश्चयकाल है।

व्यवहारकाल निश्चय काल पर्याय होने पर भी जीव पुद्गलों के परिणाम से नपता है, ज्ञात होता है। इसलिए “जीव पुद्गलों के परिणाम बहिरंग-निमित्त भूत द्रव्यकाल के सद्भाव में उत्पन्न होने के कारण द्रव्यकाल से उत्पन्न होनेवाले कहलाते हैं।”

तात्पर्य यह है कि व्यवहारकाल जीव-पुद्गलों के परिणाम द्वारा निश्चित होता है और निश्चयकाल जीव-पुद्गलों की अन्यथा अनुत्पत्ति द्वारा निश्चित होता है। अन्यथा अनुत्पत्ति अर्थात् जीव व पुद्गलों के परिणाम अन्य प्रकार से नहीं बन सकते।

व्यवहारकाल क्षणभंगुर हैं एवं निश्चयकाल नित्य है, क्योंकि व्यवहारकाल एक समयमात्र जितना ही है और निश्चयकाल अपने गुण-पर्यायों के आधारभूत द्रव्यरूप से सदैव रहता है, अविनाशी है।

कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( दोहा )

छिन भंगुर विवहारतैं, सूच्छिम परजय मान।

निहचैकाल अचलसदा, गुणपरिजाय निधान॥४३४॥

समै काल विवहार है, निहचै काल सरूप।

दोनों की वरनन कह्या जथा मान अनुरूप॥४३५॥

कवि कहते हैं कि व्यवहारकाल क्षणभंगुर है, एक समय की सूक्ष्म पर्याय है तथा निश्चयकाल अचल है। समय, घड़ी, घंटा आदि व्यवहार काल है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह “जो क्रम से अतिसूक्ष्म प्रवर्तता है, वह व्यवहारकाल है तथा उस व्यवहारकाल का आधार निश्चयकाल है। काल शब्द से कथित काल नामक द्रव्य भी है।

व्यवहारकाल एकसमय की पर्याय है, तथा निश्चयकाल पर्यायवान है। व्यवहारकाल निश्चयकाल से उत्पन्न होता है। उसमें पुद्गल द्रव्य की जीर्ण होनेरूप अवस्था निमित्त है, इसकारण जीव-पुद्गल के परिणाम अर्थात् परिणमन से व्यवहार काल का माप होता है। इससे यह नक्की होता है कि समय आदि व्यवहार काल है। समय आदि व्यवहारकाल है तो उसके साथ-अविनाभाव सम्बन्ध से निश्चयकाल भी द्रव्य है ह यह सिद्ध होता है। व्यवहार काल क्षणिक एवं निश्चयकाल नित्य है।”

इसप्रकार कालद्रव्य के अस्तित्व को सिद्ध किया। ●

## गाथा- १०१

विगत गाथा में निश्चय एवं व्यवहार से कालद्रव्य का कथन किया। अब प्रस्तुत गाथा में काल के 'नित्य' और 'क्षणिक' हूँ ऐसे दो विभागों का कथन करते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है हूँ

कालो न्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।

उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्टाई॥१०१॥

(हरिगीत)

काल संज्ञा सत प्ररूपक नित्य निश्चय काल है।

उत्पन्न-ध्वंसी सतत् रह व्यवहार काल अनित्य है॥१०१॥

'काल' ऐसा व्यपदेश (कथन) सद्भाव का प्ररूपक है, इसलिए निश्चयकाल नित्य है। दूसरा व्यवहार काल उत्पन्न-ध्वंसी है। वह व्यवहारकाल क्षणिक होने पर भी प्रवाह की अपेक्षा दीर्घस्थिति का भी कहा जाता है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि हूँ काल के नित्य व क्षणिक हूँ ऐसे दो विभाग हैं। "यह काल है, यह काल है" ऐसा करके जिस द्रव्य विशेष का कथन किया जाता है, वह द्रव्य अपने सद्भाव को प्रगट करता हुआ नित्य है तथा जो उत्पन्न होते ही नष्ट होता है वह व्यवहार काल उसी द्रव्य विशेष की 'समय' नामक पर्याय है; परन्तु वह क्षणिक होने पर भी अपनी संतति की दृष्टि से उस दीर्घकाल तक रहने वाला कहने में दोष नहीं है। इसी कारण आवलिका, पल्योपम, सागरोपम इत्यादि व्यवहारकाल कहने का भी निषेध नहीं है।

इसी गाथा के भाव को कवि हीराचन्द्रजी काव्य में कहते हैं :हूँ

( सवैया इकतीसा )

'काल' इन दोड़ आंक मध्यवाची अरथ में,

निहचै सरूप जानौ नित्यकाल चित है।

उत्पन्न होड़ नासैं द्रव्य का विषै भासै,

समय नाम पर्याय-काल सो अनित्य है॥

सोड़ काल छिनभंगी संतति नय अंगी है,

दीर्घ लौं सथाड़-पल्य-सागर उदित है।

निहचै है काल नित्य द्रव्यरूप मित तातैं,

विवहार छिन साथै सोड़ समचित है॥४३७॥

( दोहा )

अपने सहज सुभाव सौं, रहै सुनिहचै होड़।

पर की छाया जहँ परै, तहँ विवहार विलोड़॥४३८॥

कवि कहते हैं कि हूँ 'काल' निश्चयकाल का सूचक है, अस्तिवाचक है तथा नित्य है और कालद्रव्य पर्याय से अनित्य है। पल्य, सागर आदि व्यवहार काल है। निश्चय काल अविनाशी है तथा व्यवहार काल क्षणिक है।

इसी भाव को गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने व्याख्यान में कहा है कि हूँ काल शब्द निश्चयकाल का सूचक है। जिसतरह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म द्रव्य हैं, उसीतरह 'काल' भी द्रव्य है, काल के असंख्य कालाणु हैं।

व्यवहार काल में सबसे सूक्ष्म 'समय' है। वह एक समय की अवस्था है। वह उत्पन्न-ध्वंसी है तथा निश्चय कालाणु की पर्याय है। उन्हें 'समय' की भूत, भविष्य व वर्तमानरूप परम्परा से कहा जाय तो उससे नक्की होता है कि निश्चयकाल अविनाशी है तथा व्यवहारकाल क्षणिक हैं।

काल वस्तु है, पर उसके काय नहीं हैं; क्योंकि वह एक प्रदेशी है तथा काय बहुप्रदेशी होती है। कालद्रव्य में रुखापन व चिकनापन नहीं है।<sup>११</sup>

इसकारण इस गाथा में निश्चयकाल एवं व्यवहार का कथन किया है। इनमें निश्चयकाल नित्य है। यद्यपि व्यवहारकाल क्षणिक हैं। तथापि प्रवाह की अपेक्षा दीर्घ स्थिति का कहा जाता है। ●

## गाथा- १०२

विगत गाथा में कहा गया है कि ह कालद्रव्य द्रव्य नित्य व क्षणिक होने से यद्यपि दो विभाग रूप हैं, तथापि प्रवाह की अपेक्षा दीर्घ स्थिति का भी कहा जाता है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह काल द्रव्य को भी द्रव्यपना तो है, परन्तु एकप्रदेशी होने से कायपना नहीं है। मूल गाथा इसप्रकार हैह

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पोग्गला जीवा ।  
लब्भन्ति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१०२॥  
(हरिगीत)

जीव पुद्गल धर्म-अधर्म काल अर आकाश जो।

है द्रव्य संज्ञा सर्व की कायत्व है नहीं काल को ॥१०२॥

यह काल, आकाश, धर्म-अधर्म पुद्गल और जीव सब द्रव्य संज्ञा को प्राप्त करते हैं, किन्तु काल द्रव्य को कायपना नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह यह काल को कायपने के विधान का तथा अस्तिकायपने के निषेध का कथन है।

जिसप्रकार जीव, पुद्गल धर्म-अधर्म और आकाश को द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से वे द्रव्यपने को प्राप्त करते हैं, उसीप्रकार काल भी द्रव्य संज्ञा को प्राप्त करता है, किन्तु काल में अन्य द्रव्यों की भाँति बहुप्रदेश नहीं हैं। यद्यपि उन पाँच द्रव्यों की संख्या भी लोकाकाश के प्रदेशों जितनी है, परन्तु कालद्रव्य के एकप्रदेशीपने के कारण अस्तिकायपना नहीं है। इसी कारण ह ऐसा होने से ही यहाँ पंचास्तिकाय के प्रकरण में काल का कथन मुख्यतः से नहीं किया गया है।

मुख्यतः तो पाँच अस्तिकायों का ही है। काल को भी उन्हीं में अन्तर्भूत करके इसका संक्षिप्त उल्लेख किया है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

जैसै जीव पुग्गल औ धर्माधर्म व्योम नाम,  
दर्व-भेद लच्छिन तैं दर्वरूप ढलै है ।

तैसे काल मिलैं छहाँ दर्व नाम ए विसेष,

काल बिना काय अनू लोक मांहि रलै है ॥

यातैं पंच अस्तिकाय विषैं मुख्य काल नाहिं,

परिनाम परजैतैं काल अनु भलै हैं ।

सोई काल छिनभंगी संतति नय अंगी है,

दीर्घलौ सथाइ-पल्य सागर उदित है ।

निहचै है काल नित्य द्रव्य रूप मित तातैं,

विवहार छिन साथै सोई समचित है ॥४३७॥

यद्यपि काल एक प्रदेशी है; परन्तु उसमें धर्म आदि की भाँति ही प्रदेशों अपेक्षा एक प्रदेशी के सिवाय व्यवहारनय से सभी लक्षण पाये हैं, अतः वह भी द्रव्य है।

इसी गाथा पर प्रवचन करते गुरुदेव श्री कानजीस्वामी भावार्थ में कहते हैं कि ह कालाणु रत्नों की राशि जैसे छूटे पड़े हैं। कालाणु एक प्रदेशी हैं, जबकि लोकाकाश के प्रदेश असंख्य हैं, इस कारण कालाणु द्रव्य भी असंख्य हैं तथा लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रहता है। इसकारण काल कायवान नहीं है। इसी कारण इस पंचास्तिकाय ग्रन्थ में उसका विस्तार से कथन नहीं किया है, फिर भी पाँचों अस्तिकायों के साथ गर्भित रूप से तो काल द्रव्य का कथन आ ही गया है; क्योंकि जीव एवं पुद्गलों के परिणाम में समय आदि व्यवहार काल ज्ञात हो ही जाता है। व्यवहारकाल जानने में आता है तो उससे निश्चय काल का अनुमान हो जाता है। इसीलिए पंचास्तिकाय में कालद्रव्य को भी गर्भित जानना चाहिए।<sup>१</sup>

जिसतरह धर्म अधर्म आदि में गुण-पर्यायें हैं, वैसे ही काल खण्ड में भी गुण-पर्यायें हैं।

इसप्रकार यहाँ आगम और युक्ति से कालद्रव्य की सिद्धि की गई है।

( 176 )

**गाथा- १०३**

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्र जीव, पुद्गल, धर्म-अधर्म एवं आकाश ह्र ये सब द्रव्यत्व एवं कायत्व संज्ञा को प्राप्त हैं; परन्तु काल में द्रव्यत्व तो है, पर कायत्व नहीं है।

अब प्रस्तुत गाथा में पंचास्तिकाय के अवबोध का फल कहकर पंचास्तिकाय के व्याख्यान का उपसंहार करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है

**एवं पवयणसारं पंचत्थियसंग्रहं वियाणित्ता ।**

**जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ॥१०३॥**

(हरिगीत)

इस भाँति जिनध्वनिरूप पंचास्ति प्रयोजन जानकर ।

जो जीव छोड़े राग-रुष वह छूटता भव दुःख से ॥१०३॥

इसप्रकार प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकाय संग्रह को जानकर जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुःख से परिमुक्त होता है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र के कथन का सार यहाँ पंचास्तिकाय के अवबोध का फल कहकर पंचास्तिकाय के व्याख्यान का उपसंहार करते हैं। “वास्तव में संपूर्ण द्वादशांगरूप प्रवचन काल द्रव्य सहित पंचास्तिकाय से अन्य कुछ भी प्रतिपादित नहीं करता; इसलिए प्रवचन का सार ही यह ‘पंचास्तिकाय संग्रह’ है। जो पुरुष समस्त वस्तुत्व का कथन करने वाले इस ग्रन्थ को अर्थानुसार जानकर यथार्थरीति से इसमें कहे हुए जीवास्तिकाय में अपने को अत्यन्त विशुद्ध चैतन्य स्वभाव वाला निश्चित करके निज आत्मा को उस काल अनुभव में आता देखकर कर्मबंध की परम्परा को बढ़ाने वाले राग-द्वेष को छोड़ता है, वह पुरुष राग-द्वेष को क्षीण करता है एवं पूर्व हुए बंध से छूटता हुआ परिमुक्त है।

( दोहा )

ऐसे प्रवचनसार मैं अस्तिकाय को जानि ।

राग-द्वेष को छांडकरि, गहौ दुःख परिहानि ॥४४२॥

( सवैया इकतीसा )

काल युत पंच अस्तिकाय बिना और कछु,

कहैं नाहिं जैन तातैं अस्तिकाय सार है ।

तामैं वस्तरूप शुद्ध जीव अस्तिकाय बुद्ध,

पर के संयोग सेति सगरा विकार है ॥

ऐसैं ही विवेक ज्योति जगै राग-द्वेष-मोह,

भगै परभाव सेती बंधन विडार है ।

आकुलता दुःख डारि जथारूप धारि-धारि,

भेदज्ञानी मोख पालै आगम अपार है ॥४४३॥

( दोहा )

षट् दरबातम ग्येय सब, ग्यान विषैं विलसंत ।

ग्येय रूप सौ ग्येय हैं ग्याता ग्यान महंत ॥४४५॥

कवि कहते हैं कि जो इसप्रकार द्वादशांग के सार रूप पंचास्तिकाय के स्वरूप को जानकर एवं फलस्वरूप राग-द्वेष को छोड़कर वस्तु स्वरूप को ग्रहण करता है वह सम्पूर्ण दुःख से मुक्त हो जाता है।

आगे सवैया एवं दोहे में कहते हैं कि ह्र काल सहित पंचास्तिकाय के सिवा जिनागम में और कुछ कहा ही नहीं है, इसलिए ये पंचास्तिकाय ही सारभूत हैं।

इन पंचास्तिकायों में एक जीवद्रव्य ही ज्ञानवान हैं; परन्तु इसमें पर के संयोग से राग-द्वेषादि रूप विकार अनादि से हैं। जब ऐसी भेदज्ञान की ज्योति जीव में जागती है तो परभाव उत्पन्न हुए विकार नष्ट हो जाते हैं। बन्धन टूट जाते हैं। इस प्रकार विवेक ज्योति जगने पर मोह-राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। आकुलता मिट जाती है, जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।



इसके बाद दोहे में कहा है कि ह सब छहों द्रव्य रूप ज्ञेय आत्मज्ञान में सुशोभित होते हैं तथा आत्मा ज्ञाता रूप से महानता को प्राप्त कर लेता है।

कानजीस्वामी अपने प्रवचन में कहते हैं कि ह “पंचास्तिकाय के ज्ञान का फल मुक्ति है ह ऐसा आचार्य बताते हैं। तथा वे कहते हैं कि ह छहों द्रव्य स्वतंत्र हैं, किसी एक के कारण दूसरा नहीं है। मैं आत्मा हूँ, जड़ से जुदा हूँ तथा अनन्त परजीवों से भी जुदा हूँ इस कारण पर से न मुझे लाभ है और न कोई हानि है। प्रत्येक पदार्थ की क्रिया स्वतंत्र हो रही है।

इसप्रकार भेदज्ञान होने पर दृष्टि पर इष्ट पदार्थों में प्रीति एवं अनिष्ट पदार्थों में द्वेष को छोड़ देता है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रथम निमित्त से दृष्टि हटकर, पर व पर्याय पर से रुचि छूटकर स्वभाव पर आती है। बाद में स्वभाव में स्थिर होकर राग-द्वेष छूटने लगते हैं। इस तरह भव्य जीव संसार के दुःखों से छूटकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। ●

‘आत्मानुभूति कैसे?’ यह जानने के लिए आत्मा में अपनापन जरूरी है; एतदर्थ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय आदि आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों का बारम्बार पठन, पाठन, श्रवण, मनन, चिन्तवन, लगनपूर्वक धुन लगाकर करना होगा। कहा भी है -

“धुन रे धुनिया अपनी धुन, अपनी धुन में पाप न पुण्य”

यह सोचकर मैं अपने आत्मा को जानने/पहचानने के प्रयत्न में लग गया। फलस्वरूप अन्ततः मैंने अपना लक्ष्य प्राप्त कर ही लिया। इससे मुझे बहुत संतोष हुआ।

फिर तो मैंने दृढ़ता प्राप्त करने हेतु उक्त आध्यात्मिक ग्रन्थों का अनेक बार पठन किया। फलस्वरूप मेरा विश्वास पक्का हो गया कि आत्मानुभूति के लिए आत्मा में अपनापन होना अनिवार्य है।

- आत्मानुभूति कैसे? की प्रस्तावना से साभार

( 178 )

## गाथा- १०४

विगत गाथा में पंचास्तिकाय के ज्ञान का फल कहकर पंचास्तिकाय की व्याख्या का उपसंहार किया गया है।

अब प्रस्तुत गाथा में दुःख से मुक्त होने का कथन करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

**मुणिरुण एतददृष्टं तदगमणुज्जदो णिहदमोहो।**

**पसमिय रागद्वोसो हवदि हद परापरो जीवो॥१०४॥**

(हरिगीत)

इस भाँति जिनध्वनिरूप पंचास्ति प्रयोजन जानकर।

जो जीव छोड़े राग-रुष वह छूटता भव दुःख से॥१०३॥

जीव इस शास्त्र के अर्थभूत शुद्ध आत्मा को जानकर उसके अनुसरण का उद्यम करता हुआ हतमोह होकर अर्थात् दर्शन मोह का क्षय करके तथा राग-द्वेष को प्रशमित करके उत्तर और पूर्व बन्ध का नाश करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह प्रथम, कोई इस शास्त्र के अर्थभूत शुद्ध चैतन्य स्वभाववाले निज आत्मा को जानता है; फिर उसी के अनुसरण का उद्यम करता है; इसलिए उसे दृष्टि मोह का क्षय होता है। तथा स्वरूप के परिचय से ज्ञानज्योति प्रगट होती है, इससे राग-द्वेष प्रशमित होते हैं। इससे उत्तर और पूर्व अर्थात् बाद का और पहले का बन्ध नष्ट होता है तथा पुनः बंध होने के हेतु का अभाव होने से वह जीव सदा स्वरूप स्थित रहकर परमानन्द ज्ञानादि रूप परिणामित होता है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

याही ग्रन्थविषै अर्थ जीव चेतना-सुभाव,

ताकै जानिवे का कोऊ उद्यम धरतु है।



तब ही तैं दृष्टि मोह छीन होता जाइ ताका,  
 निज रूप जानै ग्यान ज्योति उछरतु है ॥  
 राग-दोष सान्त होइ पूरब निबंध खोई,  
 नवा बंध का अभाव ग्यान निवरतु है ।  
 आप विषैं लीन होइ पर का वियोग जोइ,  
 सुद्ध चेतना-स्वभाव आप में भरतु है ॥४४७॥

उक्त सवैया में कवि कहते हैं कि ह्व इस ग्रन्थ में वर्णित जिसने जब शुद्धात्मा के स्वरूप को जानने का उद्यम किया है, उसने तभी दर्शनमोह का अभाव कर तथा निज स्वरूप को जानकर ज्ञान की ज्योति प्रगट की है एवं जिसने राग-द्वेष का अभाव करके पूर्व में बाँधे कर्मों का नाश करके तथा नवीन कर्म बंध का अभाव करके सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है, वही शुद्ध चेतना के स्वभाव को प्राप्त करता है ।

इस गाथा के सन्दर्भ में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “जिन्होंने इस ग्रन्थ के रहस्य रूप जो शुद्धात्म पदार्थ को जानकर उसी में प्रवीण होने का उद्यम किया है, वे भेदविज्ञानी जीव मोक्षपद के अनुभवी होते हैं ।”

जिन्होंने दर्शन मोह का नाश किया है तथा पूर्वापर बंध का अभाव किया है, वे जीव मोक्ष के अधिकारी होते हैं, शुद्धात्मा की ओर उनका झुकाव हो जाता है । यहाँ तक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।

अब आगे नवपदार्थों का भेद से कथन करेंगे । उसमें सर्व प्रथम सर्वज्ञ भगवान की स्तुति की है । वे केवली भगवान सर्वज्ञ वीतराग हैं, इसकारण उनके वचन प्रामाणिक होते हैं । वीतराग सर्वज्ञ के सिवाय अन्य मतवालों के वचन प्रामाणिक नहीं होते । इसी कारण कुन्दकुन्दाचार्य ने सर्वज्ञ भगवान की स्तुति है तथा उन्हीं की दिव्यध्वनि के अनुसार ग्रन्थ की रचना की है ।

( 179 )

## गाथा- १०५

विगत गाथा में दुःख से मुक्त होने के क्रम का कथन करते हुए छह द्रव्य के प्रकरण को पूरा किया ।

अब गाथा १०५ के पहले आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने जो प्रथम स्कन्ध में कहा है तथा द्वितीय स्कन्ध में कहने जा रहे हैं, यहाँ उसका संक्षेप में उल्लेख करते हैं । मूल कलश इस प्रकार है ह्व

द्रव्य स्वरूप प्रतिपादनेन, शुद्धं बुधानामिह तत्त्व मुक्तम् ।  
 पदार्थ भंगेन कृताण बारं, प्रकीर्त्य ते संप्रति वर्त्म तस्य ॥७॥

कलश का तात्पर्य यह है कि ह्व इस शास्त्र के प्रथम श्रुत स्कन्ध में द्रव्य स्वरूप के प्रतिपादन द्वारा बुधपुरुषों ने शुद्धतत्त्व का उपदेश दिया गया है ।

अब नवपदार्थ रूप भेद द्वारा प्रारम्भ करके शुद्धात्मतत्त्व का वर्णन किया जाता है ।

इस द्वितीय श्रुत स्कन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द गाथा सूत्र द्वारा मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञावाक्य कहते हैं । मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

अभिवंदिऊण सिरसा अपुण्भवकारणं महावीरं ।  
 तेसिं पयत्थभंगं मगं मोक्खस्स वोच्छामि ॥१०५॥  
 (हरिगीत)

मुक्तिपद के हेतु से शिरसा नमू महावीर को ।

पदार्थ के व्याख्याण से प्रस्तुत करूँ शिवमार्ग को ॥१०५॥

जो अपुनर्भव के कारण हैं अर्थात् जिनके उपदेश को सुनकर भेदविज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है उन महावीर स्वामी को शिर नवाकर वन्दन करके उनके द्वारा कहे गये काल सहित पञ्चास्तिकाय का कथन करके अब नवपदार्थों का भेदरूप मोक्ष का मार्ग कहूँगा ।

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र आप की स्तुति पूर्वक प्रतिज्ञावाक्य में कहते हैं कि यहाँ प्रवर्तमान धर्मतीर्थ के मूलकर्ता, भगवान वर्द्धमान स्वामी की

भावस्तुति करके छहद्रव्यों का नवपदार्थों के रूप में तथा मोक्षमार्ग कहने की प्रतिज्ञा की गई है। कवि हीरानन्दजी कहते हैं ह

दोहा )

महावीर कौं नमन करि कहौं पदारथ भंग ।  
मोख सुगम मारग लसै, अपुनर्भव परसंग ॥२॥

( सवैया इकतीसा )

वर्तमान धर्मतीर्थ ताका करतार कहा,  
वर्द्धमान स्वामी ताकौं सिरसा नमन है ।  
ऐसी भावथुति सिद्धगति का निमित्त जानि,  
हियै उपादेय मानि सुद्धता रमन है ॥  
तातैं जे पदारथ हैं मोख पंथ हेतु कहे,  
तिनहीं कौ जानवै का उद्यम गमन है ॥  
ऐसी मुनिराज चाल आप काज विषै लसै,  
ताकि सुद्ध भावन तैं मोह का वमन है ॥३॥

गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी कहते हैं कि ह कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष के कारण भूत वर्द्धमान तीर्थकर भगवान को मस्तक झुकाकर नमस्कार करके मोक्ष के कारणभूत छहद्रव्यों के नवपदार्थों के भेदों का कथन की प्रतिज्ञा करते हैं।

‘भव के अभाव का कारण तो आत्मा का स्वभाव है’ ह जिसको ऐसी रुचि है, उसे भगवान निमित्त होते हैं। इसी कारण यहाँ पहले भगवान की स्तुति करते हैं।

आगे कहते हैं कि ह जिस भाव से भव (संसार) मिले, वह भाव आकुलता है। उस आकुलता से रहित अकेला ज्ञायक भाव जिसके रह गया तथा जिसने पूर्ण दशा (मुक्ति) प्राप्त करली है तथा जिसके ज्ञान में तीनों लोकों को जाना है ह ऐसे सर्वज्ञ देव अपुनर्भव के कारण हैं।<sup>१</sup>”

इसप्रकार मोक्ष के कारणभूत वर्द्धमान भगवान को नमन करके छह द्रव्यों एवं नव पदार्थ का वर्णन करेंगे। ●

( 180 )

गाथा- १०६

विगत गाथा में मंगलाचरण करके नवपदार्थ कहने की प्रतिज्ञा की है। अब प्रस्तुत गाथा सम्यक्त्व और ज्ञान सहित मोक्षमार्ग का कथन करते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।  
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥

( हरिगीत )

सम्यक्त्व ज्ञान समेत चारित राग-द्वेष विहीन जो।  
मुक्ति का मारग कहा भवि जीव हित जिनदेव ने ॥१०६॥  
सम्यक्त्व और ज्ञान से सहित एवं राग-द्वेष रहित चारित्रवंत भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग होता है।

टीका में आचार्यश्री अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह सम्यक्त्व और ज्ञानयुक्त तथा राग-द्वेष रहित चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। यह मोक्ष मार्ग भव्यों को, लब्धबुद्धियों को तथा क्षीण कषायपने में ही होता है।

इसके विपरीत असम्यक्त्व अवस्था में अज्ञान, अचारित्र, राग-द्वेष सहित अवस्था में और बन्ध मार्गवालों को, अभव्यों एवं कषायवानों को नहीं होता है।

इसी भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( दोहा )

जो चारित समकित सहित, राग-दोस-परिहीन ।  
सो चारित सिव पंथ है, भवि आतम आधीन ॥५॥

( सवैया इकतीसा )

सम्यक् सरूप-दृष्टि ज्ञानयुत होइ दृष्टि,  
चारित यथासरूप मोख पंथ साँचा है ।

राग-दोष-मोह परनाली मूल ही तैं जाय,  
 निर्विकार चिदानन्द आप ही में राचा है॥  
 ऐसा परिनाम भव्य आतमा प्रगट होय,  
 खोय मिथ्या मेल सारा सुद्धभाव जाँचा है।  
 ऐसे निजरूप पावै मोख कों सिधावै जीव,  
 और भाँति जाने ही तैं लोकनाच नाचा है॥६॥

( दोहा )

दरसन ज्ञान चरन कहे, सिवमारग विवहार ।  
 एकरूप चेतन लसै, निहचै मोख-विहार ॥७॥

यहाँ कवि दोहे में कहते हैं कि ह्व जो चारित्र राग-द्वेष से रहित और सम्यग्दर्शन सहित है, वह चारित्र मोक्ष का मार्ग है, उसे भव्य जीव प्राप्त करते हैं ।

आगे सवैया में एवं आगे के दोहे में कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मुक्ति का मार्ग है । ऐसी स्थिति में मोह-राग-द्वेष समूल नष्ट हो जाते हैं तथा निर्विकारी शुद्ध आत्मा स्वरूप में मग्न हो जाता है । ऐसे परिणाम भव्य जीवों को प्रगट होते हैं तथा उनका सम्पूर्ण विकार नष्ट हो जाता है । इस तरह निजस्वरूप को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त करता है ।

व्यवहार से सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है तथा निश्चय से निज स्वरूप में लीनता मोक्षमार्ग है ।

अब इसी के भाव को गुरुदेव श्री कानजीस्वामी स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि ह्व सम्यक्त्व अर्थात् सात तत्त्वों के यथार्थश्रद्धान और वस्तुतत्त्व के ही यथार्थज्ञान सहित जो आचरण है, वह मोक्ष का मार्ग है ।

यह गाथा बहुत सरस है यहाँ यथार्थ श्रद्धाज्ञान सहित सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है ।

भावार्थ में स्वामीजी कहते हैं कि ह्व स्वरूप का आचरण, स्वभाव

का अनुष्ठान, स्वभाव में रमणता चारित्र है तथा ऐसा चारित्र सम्यग्दर्शन ज्ञान पूर्व कही होता है । अपने स्वभाव की अर्न्तदृष्टि बिना चारित्र प्रगट नहीं होता ।

कोई कहे कि ह्व सम्यग्दर्शन का तो पता नहीं चलता, उसे कैसे जाने?

उससे कहते हैं कि ह्व आत्मा में एक प्रमेयत्व नाम का गुण है, जहाँ श्रद्धा की पर्याय है, वहीं प्रमेयत्व गुण भी है । उसके कारण ज्ञानी को अपने श्रद्धान को जानने की योग्यता है । तथा ज्ञान ज्ञेयों को जान लेता है ह्व ऐसा ज्ञान का स्वभाव है । अज्ञानी को उसका ज्ञान नहीं है, इसकारण उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता । आत्मद्रव्य के ज्ञान बिना राग एवं स्वभाव के बीच, विवेक बिना स्वभाव में रमणता होती ही नहीं है ।

स्वभाव की यथार्थदृष्टि के बिना वस्तुतः राग घटता ही नहीं है । जिन मुनिराजों को आत्मा का भान वर्तता है, उन मुनियों को सत् की स्थापना का तथा असत् के निषेध का विकल्प ही नहीं उठता । वही उनकी समता है । शास्त्र लिखने का विकल्प भी चारित्र नहीं है, क्योंकि वह विकल्प समताभाव रूप नहीं है । अकषाय परिणति ही चारित्र है तथा वह मोक्ष का कारण है ।<sup>१</sup>

इसप्रकार इस गाथा में सम्यक्त्व व ज्ञान युक्त तथा राग द्वेष से रहित चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहा है । यह मोक्षमार्ग भव्यों को क्षीणकषायपने ही होता है । यहाँ गुरुदेवश्री ने एक प्रश्न उठाकर जो उत्तर दिया है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण हैं; क्योंकि इस विषय में बहुत व्यक्तियों को शंका होती है कि सम्यग्दर्शन का तो पता नहीं चलता, उसे कैसे जानें ।

गुरुदेव कहते हैं कि जहाँ ज्ञान गुण है वही प्रमेयत्वगुण भी है, उसके ज्ञानी को अपने श्रद्धान को जानने की योग्यता है - ज्ञान ज्ञेयों को जान लेता है - ऐसा ज्ञान का स्वभाव है ।

## गाथा- १०७

विगत गाथा में आप की स्तुति पूर्वक नवपदार्थों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की है। अब प्रस्तुत गाथा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के स्वरूप का कथन है। मूल गाथा इसप्रकार है ह

सम्मत्तं सद्वहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।  
चारित्तं समभावो विसएसु विरूढमग्गाणं ॥१०७॥  
(हरिगीत)

नव पदों के श्रद्धान को समकित कहा जिनदेव ने।

वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान अर समभाव ही चारित्र है ॥१०७॥

भावों का अर्थात् नव-पदार्थों का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, उनका अवबोध सम्यग्ज्ञान है तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान पूर्वक विषयों के प्रति वर्तता हुआ समभाव ही चारित्र है।

टीका का आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि ह कालद्रव्य सहित पंचास्तिकाय के भेदरूप नव पदार्थ वास्तव में 'भाव' हैं। उन भावों का श्रद्धान अर्थात् नव पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जोकि सम्यग्दर्शन रूप शुद्ध चैतन्य (आत्मतत्त्व) के दृढ़ निश्चय का बीज है। इन्हीं नवपदार्थों का ही सम्यक् अध्यवसाय, (सत्य समझ, सच्चा अवबोध होना) सम्यग्ज्ञान है। जोकि आत्मज्ञान की उपलब्धि (अनुभूति का) बीज है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सद्भाव के कारण जो स्वतत्त्व में दृढ़ हुए हैं, उन्हें इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थों के प्रति राग-द्वेषपूर्वक विकार के अभाव के कारण जो निर्विकार ज्ञान स्वभाववाला समभाव होता है, वह चारित्र है। वह चारित्र मोक्ष के निराकुल सुख का बीज है।

ऐसे त्रिलक्षण (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) रूप मोक्षमार्ग का निश्चय व व्यवहार से व्याख्यान किया जायेगा।

इसी गाथा के भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

नव तत्त्वविषै आप-पररूप रूपी श्रद्धा,

आप लीक उपादेय सम्यक्दरस है ।

तिनही मैं संसै मोह विभ्रम विनास होतैं,

आप-पर जानपना ज्ञान का परस है ॥

पररूप परसंग झारि आपविषै लीन,

चंचलता-भाव हीन चारित अरस है ।

एई तीन भेद मोख-मारग जिनेस कहे,

विवहार निहचै सौं आतम सरस है ॥१०॥

यहाँ कवि हीरानन्दजी कहते हैं कि ह जब सम्यग्दर्शन होता है तभी नवतत्त्व की श्रद्धा, स्व-पर का भेदज्ञान होता है तथा दर्शनमोह का नाश होता है। स्व-पर का भेदज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान होता है तथा यथासमय चंचलता का अभाव होने से आपरूप में लीनता का होना ही मोक्षमार्ग है।

इसी गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह "आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है। उसकी प्रतीति लिए छः द्रव्यादि की प्रतीति रूप व्यवहार समकित है। पंचास्तिकाय में ५५ पृष्ठ में कहा है कि ह सूक्ष्मदृष्टि वालों को काल द्रव्य सहित पांच अस्तिकाय को स्वीकार करना चाहिए। तथा नवतत्त्व की श्रद्धा व्यवहार समकित है और शुद्ध चैतन्य स्वभाव को जुदा मानकर अन्तर श्रद्धा करना निश्चय समकित है।

उक्त नव पदार्थों का यथार्थ अनुभव सम्यग्ज्ञान है तथा पाँच इन्द्रियों के विषयों को हठपूर्वक न करके भेद विज्ञानी जीवों की जो राग-द्वेष रहित शांत स्वभाव सम्यक्चारित्र है।<sup>१</sup> जिसे अपने स्वभाव की प्रतीति होती है, उसे ही नवपदार्थों की यथार्थ प्रतीति होती है। वह जीव को जीव तथा जड़ को जड़ जाने, पुण्य-पाप को विकार जाने तथा जो त्रिकाली स्वभाव को शुद्ध जाने उसे ही यथार्थ प्रतीति है।"

इसप्रकार इस गाथा का मूल विषय यह है कि - नवपदार्थों का श्रद्धान, ज्ञान एवं इन पूर्वक स्वरूप में स्थिरता सम्यक्चारित्र है। ●

( 182 )

१. श्रीमद् सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १८५, दि. ३-५-५२ शनिवार

## गाथा- १०८

विगत गाथा में निश्चय-व्यवहार सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का स्वरूप कहा है।

अब प्रस्तुत गाथा में जीव-अजीव आदि नवपदार्थों का स्वरूप कहते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह

**जीवाजीवा भावा पुण्यं पावं च आसवं तेसिं ।  
संवरणं णिज्जरणं बंधो मोक्खो य ते अट्टा॥१०८॥**  
(हरिगीत)

फल जीव और अजीव तद्गत पुण्य एवं पाप हैं।

आस्रव संवर निर्जरा अर बन्ध मोक्ष पदार्थ हैं॥१०८॥

जीव-अजीव, पुण्य-पाप तथा आस्रव-संवर-निर्जरा-बंध और मोक्ष ह ये नौ पदार्थ हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में उक्त नव पदार्थों के नामों का उल्लेख करते हुए विशेष यह कहते हैं कि ह “चैतन्य जिसका लक्षण है ह ऐसा जीवास्ति-काय जीव है। चैतन्य का अभाव जिसका लक्षण है ह वे अजीव द्रव्य हैं। पूर्वोक्त अजीव द्रव्य के पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ह ये पाँच भेद हैं। ये दोनों ह जीव व अजीव पृथक्-पृथक् अस्तित्व द्वारा निष्पन्न होने से भिन्न स्वभाववाले हैं।

जीव और पुद्गलों के संयोगी परिणाम से उत्पन्न होने वाले सात अन्य पदार्थ हैं। जो इसप्रकार हैं ह जीव के शुभपरिणाम तथा वे शुभ-परिणाम जिसमें निमित्त हैं ह ऐसे पुद्गलों के शुभकर्मपरिणाम पुण्य है। जीव के अशुभ परिणाम तथा वे अशुभ परिणाम जिनके निमित्त हैं ह ऐसे पुद्गलों के कर्मपरिणाम वह पाप है। जीव के मोह-राग-रूप परिणाम भावास्रव हैं तथा वे जिनके निमित्त हैं ह ऐसे जो योग द्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के कर्म परिणाम द्रव्यआस्रव हैं। जीव के मोह-राग-द्वेषरूप

परिणामों का निरोध भावसंवर है तथा वह जिसका निमित्त है ह ऐसा जो योग द्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के कर्म परिणाम का निरोध द्रव्य संवर है। कर्म की शक्ति को क्षीण करने में समर्थ ऐसा जो बहिरंग और अन्तरंग तपों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त जीव का शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है तथा उसके प्रभाव से वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग के निमित्त से नीरस हुए उपार्जित कर्म पुद्गलों का एकदेश क्षय द्रव्य निर्जरा है।

जीव के मोह-राग-द्वेष रूप परिणाम का निरोध भाव संवर है तथा मोह-राग-द्वेष रूप परिणामों का निरोध जिसका निमित्त है ह ऐसा जो योग द्वारा प्रविष्ट होने वाले पुद्गलों के कर्म परिणामों का निरोध द्रव्यास्रव जीव के मोह-राग-द्वेष द्वारा स्निग्ध परिणाम भाव बंध है तथा उनके निमित्त से कर्मरूप परिणामन पुद्गलों का जीव के साथ अन्योन्य अवगाहन द्रव्य बंध है। जीव की अत्यन्त शुद्ध आत्मोपलब्धि भाव मोक्ष है तथा कर्म पुद्गलों का जीव से अत्यन्त विश्लेषण मोक्ष है।

इसी गाथा के भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

चेतना सुभाव जीव चेतना अभाव जामै,  
सो अजीव पंच भेद श्री जिनेस भाखा है।  
जीव के विसुद्ध भाव, कर्म पुद्गलाणु द्रव्य,  
संकलेस कर्म पाप दर्व भाव साखा है॥  
कर्मद्वार आस्रव औ द्वार रोध संवर है,  
एकदेस कर्मनास निर्जराभिलासा है।  
जीव कर्म एकमेक बंध, सर्वकर्म नास,  
मोख का स्वरूप ग्यानी आप मांहि चाखा है॥१४॥

( दोहा )

दर्व भाव दुधभेद हैं नवौं पदारथ माहिं।  
दरबभेद पुद्गल विषै, भाव जीव परछाहिं॥१६॥

( 183 )

कवि हीरानन्दजी ने अपने छन्दों में नवपदार्थों के द्रव्य एवं भाव-दोनों भेदों की व्याख्या प्रस्तुत की है।



इन्हीं दो भेदों का स्पष्टीकरण गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के कथन में आ गया है। अतः यहाँ उस कथन को गौण किया है।

इस गाथा में गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व 'यदि जीव नवतत्त्वों को यथार्थ जाने तो चैतन्य स्वरूप आत्मा में एकाग्र होकर मुक्ति प्राप्त करता है। आत्मा चैतन्य स्वभावी है, जानना-देखना उसका धर्म है।

जीव (आत्मा) चेतन पदार्थ है। देह से भिन्न केवल ज्ञाता-दृष्टा जीवतत्त्व है। चेतना रहित जड़ पदार्थ अजीव हैं।

जो दया, दानादिभावपुण्य हैं, वे आत्मा की पर्याय में होते हैं। उनके निमित्त से जो रजकण बंधते हैं, उन्हें द्रव्यपुण्य कहते हैं। पुण्य-पाप के परिणामों को आस्रव कहते हैं।

शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा अजीव तथा पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर जो स्वभाव का भान करता है, वह भाव संवर है। उनके निमित्त से आते हुए कर्मों का रुक जाना द्रव्य संवर है।

आत्मा के आश्रय से शुद्धि में वृद्धि होना भावनिर्जरा है तथा भाव निर्जरा के निमित्त से पूर्वोपार्जित कर्मों का एकदेश क्षय होना द्रव्यनिर्जरा है।

जीव के मोह-राग-द्वेष रूप परिणाम, दयादानादि के परिणाम भाव बंध है। भावबंध का निमित्त पाकर वर्गणाओं का जीव के प्रदेशों के साथ परस्पर एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होना बंध है।

जीव को परिपूर्ण आत्मा स्वभाव की प्राप्ति मोक्ष है। उसमें आत्मा की दशा भाव मोक्ष तथा उनके निमित्त से कर्मों का सर्वथा संबंध छूटना द्रव्यमोक्ष है। यहाँ जीव के भावों के साथ कर्मों की पर्याय का मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा है। वस्तुतः दोनों स्वतंत्र हैं।<sup>१</sup>

इसप्रकार इस गाथा में सात तत्त्व व पुण्य-पाप मिलाकर नवपदार्थों का कथन है।

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १८८, दि. ५-५-५२, पृष्ठ-१४९९

## गाथा- १०९

विगत गाथा में नव पदार्थों का स्पष्टीकरण हुआ।

अब प्रस्तुत गाथा में जीव के संसारी व सिद्ध ह्व ऐसे दो भेद करके उनका स्वरूप कहा जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**जीवा संसारत्था णिच्वादा चेदणप्पगा दुविहा।**

**उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा।।१०९।।**

(हरिगीत)

संसारी अर सिद्धात्मा उपयोग लक्षण द्विविध हैं।

जग जीव वर्ते देह में अर सिद्ध देहातीत हैं।।१०९।।

जीव दो प्रकार के हैं। संसारी और सिद्ध। वे चेतनात्मक और उपयोग लक्षणवाले हैं। संसारी जीव देह में वर्तनेवाले (देह सहित) तथा सिद्ध जीव देह रहित हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व "जीव दो प्रकार के हैं ह्व "एक संसारी अर्थात् अशुद्ध और दूसरे सिद्ध अर्थात् शुद्ध। वे दोनों ह्व वास्तव में चेतना स्वभाववाले हैं और चेतनापरिणाम स्वरूप उपयोग द्वारा पहिचानने में आते हैं। उनमें संसारी जीव देह सहित एवं सिद्ध जीव देहातीत हैं, देह रहित हैं।

कवि हीरानन्दजी पद्य में कहते हैं ह्व

( सवैया इकतीसा )

संसारी अवस्था माहिं जीव है असुद्ध रूप,

सुद्धरूप मुक्त कहे कर्मपुंज जार तैं।

चेतना सुभाव दौनों सबतैं विसेष होनौ,

चेतना कै परिनाम उपयोग धारे तैं।।



संसारी सदेह नाना मुक्त कौं अदेह जान,  
 असंख्याति परदेस एक-एक न्यारे तैं ।  
 किए न कराये काहू गुन के उमाहू सदा,  
 वस्तु रूप बीज पुंज जग मैं विचारतैं ॥२०॥

कवि हीरानन्दजी कहते हैं कि - यद्यपि चेतना स्वभाव की अपेक्षा संसारी व सिद्ध समान है, किन्तु संसार अवस्था में जीव अशुद्ध हैं और कर्मों के नाश होने से सिद्ध शुद्ध है। संसारी देह सहित हैं और मुक्त देह रहित हैं। संसारी एवं सिद्धों किसी अन्य ने न स्वयं किया है और न किसी से कराया है। कर्म आदि तो निमित्त मात्र हैं। जीव स्वयं अपनी मूल स्वभाव की भूल से दुःखी-संसारी है और भूल सुधार कर सुखी होता है।

उक्त गाथा तथा टीका के स्पष्टीकरण में गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “संसारी जीव अशुद्ध हैं तथा मोक्ष अवस्था को प्राप्त जीव शुद्ध हैं, सिद्ध हैं। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त जीव अशुद्ध है, संसारी है। जब संसार छूटे तब मुक्त होता है। किसी अन्य कर्मादि के कारण संसार नहीं है। ये कर्मादि तो निमित्त हैं।

स्त्री, पुत्रादि पर संयोगों के कारण संसार नहीं हैं, बल्कि जब तक जीवों में स्वयं में हुए विकार के कारण या अपूर्णता के कारण कर्मों का संयोग है, तब तक संसार है। कर्मों का संयोग भी जीव के स्वयं के कारण है, पर के एवं कर्मों के कारण नहीं। निगोद में हो या चौदहवें गुण स्थान में हों तो भी अभी अपूर्णता है, वह अपनी तत् समय की योग्यता से है, कर्मों के कारण नहीं। जब तक स्वभाव का ज्ञान नहीं होता, तब तक धर्मदशा प्रगट नहीं होती। इसलिए सिद्धदशा को प्राप्त करने के लिए पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभाव का अवलम्बन लेना चाहिए।”

इसप्रकार इस गाथा में संसारी व सिद्ध भेद करके अन्य स्वरूप समझाया है।

### गाथा- ११०

विगत गाथा में जीव के संसारी और सिद्ध भेदों का कथन किया। अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व यह संसारी जीवों के भेदों में से पृथ्वीकायिक आदि पाँच भेदों का कथन है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व  
**पृथ्वीय उदगमगणी वाउ वणफफदि जीवसंसिदा काया ।  
 देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं ॥११०॥**  
 (हरिगीत)

भू जल अनल वायु वनस्पति काय जीव सहित कहे।

बहु संख्य पर यति मोहयुत स्पर्श ही देती रहें ॥११०॥

पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ह्व ये कायें जीव सहित हैं। अवान्तर गतियों की अपेक्षा से उनकी भारी संख्या होने पर भी वे सभी उनमें रहनेवाले जीवों को वास्तव में अत्यन्त मोह से संयुक्त स्पर्श देती हैं अर्थात् स्पर्शज्ञान में निमित्त होती हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द ने संसारी जीवों के भेदों में से पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों के पाँच भेदों का कथन किया है।

पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ह्व ऐसे पुद्गल परिणाम बंध वशात् जीव सहित हैं। अवान्तर जातियों की अपेक्षा से उनकी भारी संख्या होने पर भी वे सभी पुद्गलपरिणाम स्पर्शेन्द्रियावरण के क्षयोपशम वाले जीवों को बहिरंग स्पर्शन इन्द्रिय की रचनाभूत वर्तते हुए कर्मफल चेतना के कारण मोह सहित स्पर्श का अनुभव कराते हैं।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी अपनी पद्य की भाषा में कहते हैं ह्व  
 ( दोहा )

पृथिवी-उदक-अग्नि-पवन, हरित जीव जुत काय ।

मोह बहुल इन्द्रिय परस, बहुविध जीव निकाय ॥२३॥

( सवैया इकतीसा )

मही तोय तेज वायु औ वनसपति काय,  
 पुद्गल कै परिनाम नाना रूप खंध हैं ।  
 थावरनाम करम उदै आये सेती जीव,  
 नाना रूप देहधारी चेतना प्रबन्ध है ।  
 ऐसैं कै अनंत जीव, पाचौं काय में सदीव,  
 एक इन्द्री विषै वेदै मोह रूप अंध है ।  
 ऐसै जीव भेद सेती जीव भेद जान्या नाहिं,  
 सारै जग डोलै मिथ्यामति अंधधंध है ॥२४॥

( दोहा )

करम-चेतना फल जहाँ, मोह बहुलताभार ।  
 थावर पन मैं जीव कौं, नैक न पर संसार ॥२६॥

कवि उक्त पद्यों में कहते हैं कि ह्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति सहित एकेन्द्रिय जीव जो अनेक प्रकार के होते हैं वे मोह बहुल स्पर्शन इन्द्रिय वाले हैं। इनके देह के रूप में इसी जाति के पुद्गल स्कन्ध नानारूप परिणमते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय आने पर जीव इन पर्यायों में जाते हैं। इसप्रकार इन पाँचों कार्यों में अनन्त जीव राशि एकेन्द्रिय पर्याय में रहकर मोहकर्म का वेदन करते हैं। वहाँ कर्मफल चेतना ही कहती हैं।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने कहा कि ह्व एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में रहना जीव का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो अखण्ड ज्ञायक ज्योति है। जो अपने उस ज्ञायक में एकाग्रता करे तो केवलज्ञान प्राप्त करे। यदि ज्ञायक स्वभावना न भाये तथा स्पर्शन इन्द्रिय का लम्पटी हो तो ज्ञान स्वभाव से चूककर एकेन्द्रिय आदि की हीन पर्याय प्राप्त करता है।

उपर्युक्त कथन का सार यह है कि ह्व एकेन्द्रिय जीव के अस्तित्व को स्वीकार करने पर जगत में अनन्त आत्माओं की सत्ता स्वतः सिद्धि हो जाती है, एक इन्द्रिय जीवों के ज्ञान की अतिहीन दशा हो जाती है; फिर भी आगे बढ़ने की योग्यता उस दशा में भी रहती है।

मनुष्यपने में सच्ची समझ हो सकती है, किन्तु उसकी उपेक्षा करके वस्तु स्वरूप का जो तीव्र विरोध करता है, उसके फल में अतीन्द्रिय स्वभाव का अनादर कर वह ऐसे कर्मों का उपार्जन करता है, जिसके फल में उसे एकेन्द्रियपना प्राप्त होता है।”

ऊपर के कथन का तात्पर्य यह है कि ह्व एकेन्द्रिय जीवों के अनेक भेद हैं। वे जीव मोहकर्म के निमित्त से एवं अपनी अज्ञानता के कारण दुःख भोगते हुए मात्र एक काय के अधीन होकर अनेक अवस्थायें धारण करते हैं।

जो ज्ञानी जीव एकेन्द्रिय आदि के अस्तित्व की श्रद्धा करते हैं तथा जिसे ऐसा आत्मा के अस्तित्व का विवेक जागृत हो जाता है, वे एकेन्द्रिय आदि की हीन पर्यायों में पैदा नहीं होते।”

इसप्रकार यहाँ कहते हैं कि - पर्याय में हीन दशा होने पर भी द्रव्य के गुण कायम रहते हैं। पर्याय मात्र स्पर्श को ही जानती है, स्पर्श के ज्ञान का मात्र क्षयोपशम होता है और मात्र स्पर्श ही ज्ञान का विषय होता है। एकेन्द्रिय की पर्याय में जो अल्प क्षयोपशम है, उसे हेय तथा द्रव्य-गुण उपादेय हैं ह्व जिसने ऐसा जाना नहीं और अल्पज्ञता की तथा इन्द्रियों के विषयों की गृह्यता की भावना भायी, इस कारण उसे ही एकेन्द्रियपना मिलता है। अतः अनुकूल परिस्थितियों में अपने स्वभाव की पहचान कर लेना चाहिए। ●

## गाथा- १११

विगत गाथा में संसारी जीवों के पृथ्वीकायिक आदि पाँचों भेदों का कथन किया।

अब प्रस्तुत गाथा में एकेन्द्रिय पाँचों भेदों में तीन को स्थावर संज्ञा एवं दो को त्रस संज्ञा कहने का प्रयोजन बताया है। मूल गाथा इसप्रकार है ह

ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।

मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया॥१११॥

(हरिगीत)

उनमें त्रय स्थावर तनु त्रस जीव अग्नि वायु युत।

ये सभी मन से रहित हैं अर एक स्पर्शन सहित हैं॥१११॥

उन पाँचों स्थावर कायों में तीन (पृथ्वीकायिक अपृथ्वीकायिक और वनस्पतिकायिक) जीव स्थानशील होने के कारण स्थावर संयोग वाले हैं तथा अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की चलन क्रिया देखकर व्यवहार से इन्हें त्रस कहा गया है। निश्चय से तो ये भी स्थावर, नामकर्म की आधीनता के कारण स्थावर ही हैं। ये पाँचों मन रहित एकेन्द्रिय जीव हैं।

इस गाथा पर अमृतचन्द की टीका नहीं है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी पद्य में कहते हैं ह

( दोहा )

तीनों थावर काय हैं, आग वायु त्रस रूप।

मन-परिणाम-रहित सदा, एकेन्द्रिय अरूप॥२७॥

( सवैया इकतीसा )

पृथ्वी तोय हरीकाय तीनों नामकर्म लसैं,

काय के संजोग सेती थावर कहावै है।

आग वायु थावर है यद्यपि तथापि दौनौ,

चलन के जोग सेती त्रसता लहावै है॥

मनसा बिना ही एक इन्द्रिय सरूप सवै,

थावर नामकर्म कै उदय में रहावै है।

तातैं है थावर काय निहचै स्वरूप पाचौं,

जिनराज वानी विषैं जहाँ तहाँ गावै हैं॥२८॥

कवि का कहना है कि ह पृथ्वी-पानी एवं हरितकाय ह तीनों ही स्थानशील होने से तथा स्थावर नामकर्म के उदय के कारण तो स्थावर ही हैं, किन्तु चलन स्वभावी होने के कारण व्यवहार से त्रस कहे गये हैं, निश्चय से स्थावर कर्मोदय के कारण पाँचों ही स्थावर काय हैं।

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “आत्मा स्वभाव से तो अनन्तगुणों का पिण्ड है। जो उस पूर्ण पवित्र आत्मा की भावना नहीं भाता वह एकेन्द्रियपने को प्राप्त होता है। अपने स्वभाव को भूलकर पूर्व में जैसे शुभाशुभ भाव किए, उनके फल में नीच-ऊँच गति एवं रोग व निरोगता होती है।

यह जीव अपने स्वभाव की पहचान से चूक जाता है, इसकारण हीनदशा होते-होते एकेन्द्रिय में चला जाता है।

इसप्रकार यह एकेन्द्रिय पर्याय में अधिकतम ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहता है। इसीप्रकार वादर निगोद अग्नि वगैरह में अधिकतम सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है। अपने आत्मा का तीव्र विरोध रखे तो एकेन्द्रियपने की योग्यता से वहीं जन्म-मरण किया करता है।

वायुकाय वाला पृथ्वी हो जाता। इसीप्रकार एकेन्द्रिय में ही बदल-बदल कर जन्म-मरण करते हुये असंख्य पुद्गलपरावर्तन तक वहाँ बिताता है। इसलिए कहते हैं कि ह राग में रुचि तथा निमित्तों की पराधीनता की भावना करने योग्य नहीं है। यह बात सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। अतः सर्वज्ञ के अवलम्बन से निजस्वभाव का निश्चय करके उसमें जमना रमना ही धर्म है। इसे कभी भूलना नहीं चाहिए।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में पाँचों स्थावर काय होने पर आग व वायु को क्षेत्र से क्षेत्रांतर चलने की अपेक्षा त्रस कहा गया है। गुरुदेवश्री ने तो वैराग्य प्रेरक बात कहकर स्थावर काय में अनन्त काल तक न रहना पड़े ह ऐसी प्रेरणा दी है।

( 187 )

१. श्रीमद् सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १८८ दि. २८-४-५२, पृष्ठ-१५८१

## गाथा- ११२

विगत गाथा में स्थान शील होने की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक, अपकायिक और वनस्पतिकायिक को स्थावर तथा शेष दो को गतिशील होने से त्रस कहा है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व ये पाँचों ही मन रहित एकेन्द्रिय हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**एदे जीवणिकाया पंचविधा पुढविकायियादीया।**

**मणपरिणामविरहिदा जीवा एडुंदिया जेया॥११२॥**

(हरिगीत)

ये पृथ्वी कायिक आदि जीव निकाय पाँच प्रकार के।

सभी मन परिणाम विरहित जीव एकेन्द्रिय कहे॥११२॥

इन पृथ्वीकाय आदि पाँच प्रकार के जीवनिकायों को मन परिणाम रहित एकेन्द्रिय जीव कहा है।

टीका में आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि पृथ्वीकाय आदि जीवों के एकेन्द्रिय के योग्य ज्ञान के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा शेष चार भावेन्द्रियों के तथा मन के आवरण का उदय होने से वे मन रहित एकेन्द्रिय हैं।

अब इसी गाथा के भाव को कवि हीरानन्दजी पद्य में कहते हैं ह्व

( दोहा )

**इतने पृथिवी आदि हैं, काय पाँच परकार।**

**मन परिणाम रहित सदा एकेन्द्रिय अनिवार॥३०॥**

( सवैया इकतीसा )

**एई पृथ्वी कायकादि भेद थावर अनादि,**

**पाँच परकार सारे जग अनिवार हैं।**

**सूच्छिम और बादर दोड़-दोई विधि सेती,**

**एक-एक काय विषै नाना विस्तार है॥**

**फास एकेन्द्रिय-आवरण कै विनास भये,**

**जथाशक्ति जानै एकदेह का विचार है।**

**सेष इन्द्री-मन-आवरण उदेरूप लसै,**

**ऐसा भेद जानै बिना कैसे निसतार है॥३१॥**

( दोहा )

**थावर काया फरि सदा, सकल लोक भरपूर।**

**जथा भेद ते नहिं लखै, जे आतम अतिकूर॥३२॥**

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ह्व आत्मा की उपेक्षा करने वाले और विषय-कषायों में रमनेवाले अज्ञानी जीव आर्त-रौद्र ध्यान करके मृत्यु को प्राप्त होकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पतिकाय में जन्म लेते हैं। ये पाँचों प्रकार के जीव मन और एकेन्द्रिय के सिवाय चार इन्द्रियों के बिना मात्र एक इन्द्रिय की पर्याय में ही अनन्तकाल बिताते हैं।

अतः हमें आत्मा की उपेक्षा नहीं करना चाहिए।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व पृथ्वी आदि पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव मन रहित हैं। वे मन रहित एक इन्द्रिय इसकारण हुए कि उन्होंने पूर्व जन्मों में आत्मा को नहीं जाना, आत्मा की जानकारी करने की उपेक्षा की। जब यह जीव पंचेन्द्रिय मनुष्य था तब केवलज्ञान पा सके ह्व ऐसी योग्यता थी, परन्तु इसने आत्मा का यथार्थ ज्ञान न करके आर्तध्यान-रौद्रध्यान करके विकार की भावना की थी, राग-द्वेष किए इस कारण एकेन्द्रिय हुआ है।

गुरुदेव श्री करुणा करके कहते हैं कि ह्व इस शरीर की स्थिति स्वस्थ अवस्था में २५/५० वर्ष की ही होती है, परन्तु उस समय भी शुद्ध आत्मा की पहचान न करके ऐसी औपाधिक विकारी भावों में उलझा रहता है जिनका कभी अंत ही नहीं आता। जिस शरीर से तेरा परिचय है

वह तो अन्त में यही रह जायेगा और जिससे तेरा परिचय नहीं हूँ ऐसा तू अपने कर्मफल के कारण चौरासी के चक्कर में फँस जायेगा; क्योंकि अज्ञानी को अपने ही आत्मा से परिचय नहीं है। इसी कारण एकेन्द्रिय आदि की हीनदशा में पहुँच जाता है। त्रस पर्याय का अधिकतम काल दो हजार सागर है, उसके बाद तो स्थावर में जाना ही है। ऐसा ही नियम है। वहाँ एकेन्द्रिय अवस्था में ही बारम्बार मरण करके अनंतकाल बिताता है, तब कहीं भाग्योदय से पुनः त्रस पर्याय में आता है।

छहठाला में दौलतरामजी ने कहा भी है कि हूँ

‘काल अनन्त निगोद मझार बीत्यो एकेन्द्रियत न धार।’

अतः इस भव में आत्मा को न पहचानने की भूल नहीं करना चाहिए।

आत्मा शक्ति से प्रभु है तथा पर्याय में प्रभु होने की योग्यता है। जिसको ऐसा ज्ञान नहीं है तथा स्वयं विभाव (विकारी भाव) जितना ही अपने को मानता है, वह हीनदशा को प्राप्त करता है। राग की मंदता करते-करते जब यह जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी दशा को प्राप्त करता है; किन्तु वहाँ आकर फिर ऐसी भूल करता है, जिसके कारण पुनः वहीं एकेन्द्रिय में चला जाता है।<sup>१</sup>”

अतः आचार्यश्री एवं गुरुदेवश्री यह प्रेरणा देते हैं कि हूँ अब तुम मनुष्य पर्याय एवं उत्तम कुल में आ गये हो हूँ क्षयोपशम और परिणामों में विशुद्धि भी इस योग्य हैं कि तत्त्वज्ञान कर सकते हो, अतः ऐसा काम करो कि पुनः एकेन्द्रिय में न जाना पड़े। यह पुरुषार्थ करते-करते।

इसी क्रम में चैतन्य आत्मा में उग्र पुरुषार्थ से विकास करते हुए प्रत्यक्षपने स्व-पर पदार्थों को जानने की योग्यता प्रगट हो जाती है। शक्ति अपेक्षा यही शक्ति एकेन्द्रिय जीव में भी हैं। परन्तु वहाँ से निकलकर मनुष्य गति, उत्तम कुल एवं जिनवाणी सुनने की योग्यता मिलना सरल काम नहीं है, अतः यह अवसर नहीं चूकना चाहिए। ●

( 189 )

१. श्रीमद् सदगुरु प्रवचन प्रसाद नं. १९०, दि. ७-५-५२, पृष्ठ-१५२९

## गाथा - ११३

विगत गाथा में पृथ्वीकायिक आदि पंचविध जीवों के एकेन्द्रियपने का ज्ञान कराया है।

अब प्रस्तुत गाथा में एकेन्द्रिय जीवों के स्वरूप को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है हूँ

अंडेसु पवडुंता गढ्भत्था माणुसा य मुच्छगया।

जारसिया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया॥११३॥

(हरिगीत)

अण्डस्थ अर गर्भस्थ प्राणी ज्ञान शून्य अचेत ज्यों।

पंचविध एकेन्द्रि प्राणी ज्ञान शून्य अचेत त्यों॥११३॥

इस गाथा में अण्डस्थ गर्भस्थ एवं ज्ञान शून्य अचेत मनुष्य का दृष्टान्त देकर एकेन्द्रिय जीवों का स्वरूप समझाया है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी टीका में कहते हैं कि जिस तरह अण्डे में रहे हुए, गर्भ में रहे हुए और मूर्च्छा में पड़े हुए प्राणियों के जीवत्व का बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जाता, फिर भी उनके जीवत्व का निश्चय किया जाता है। उसीप्रकार हूँ एकेन्द्रिय जीवों के जीवत्व का भी निश्चय किया जाता है; क्योंकि दोनों में ही बुद्धिपूर्वक व्यापार दृष्टिगोचर नहीं होता।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में निम्न प्रकार कथन करते हैं हूँ

( दोहा )

अंडज अंड विषैं जथा, गर्भज मूर्च्छित जीव।

ज्यों ए चेतन कहत त्यों एकेन्द्रिय सदीव॥३४॥

( सवैया इकतीसा )

जैसेकै अंडज-जीव अंडहुविषैं वरतै,

गर्भवाले गर्भ जैसे और मूर्च्छित हैं।



इनमें कोई चेतना प्रगट तौ दीसै नाहिं,  
जीवभाव सब इनही मैं अछित है ॥  
तैसैंकै एक इंद्रिय जीव चेतनासरूप,  
बाहिर व्यापार सबै बुद्धिकै नसित है ।  
दौनों जगा बुद्धि व्यापार का अदरसन है,  
दृष्टिग्यान दौनों जगा केवली लखित है ॥३५॥

( दोहा )

जैसे अंडादिक विषैं जीव चेतना रूप ।  
तैसे थावर काय मैं जीव दरब चिद्रूप ॥३६॥

जिसतरह अंडज जीव अंडे में तथा गर्भज जीव गर्भ में मूर्च्छित रहते हैं ।  
उसीतरह एकेन्द्रियादि में भी मूर्च्छित जीव हैं ।

यद्यपि उक्त प्राणियों में चेतना प्रगट नहीं दिखती, तथापि वे जीव हैं ।  
उनमें बुद्धि का व्यापार भले हमें दिखाई नहीं देता; किन्तु केवली के ज्ञान स्पष्ट झलकता है उनमें जीव हैं ।

इसी गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व जिस तरह पक्षियों के अंडों में जीव बढ़ते हैं, परन्तु अंडे में स्वांस लेता दिखाई नहीं पड़ता, फिर भी अंडा बढ़ता है । इससे ज्ञात होता है कि इसके अन्दर जीव है । तथा जिसतरह नीम, पीपल आदि बढ़ते हैं, उसी प्रकार सभी स्थावर जीव बढ़ते हैं ।<sup>१</sup>

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि ह्व जिसतरह गर्भ में स्थित जीव ऊपर से मालूम नहीं पड़ता, किन्तु ज्यों-ज्यों पेट बढ़ता जाता है, वैसे ही पेट के अन्दर जीव का शरीर बढ़ता जाता है उसीप्रकार पाँच प्रकार के स्थावरों में ऊपर से चेष्टा दिखाई नहीं देती, फिर भी आगम से, युक्ति से एवं जीवों की अवस्थाओं से उनके जीवत्व का ज्ञान होता है ।

( 190 )

### गाथा - ११४

विगत गाथा में एकेन्द्रिय जीवों में चेतन्य का अस्तित्व है, इसे दृष्टान्त से समझाया है । अब दो इन्द्रिय के प्रकार बताते हैं ।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी ।  
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा ॥११४॥

( हरिगीत )

लट केंचुआ अर शंख शीपी आदि जिय पग रहित हैं ।

वे जानते रस स्पर्श को इसलिये दो इन्द्रि कहे ॥११४॥

शंबूक, मातृवाह, शंख, सीप और पदरहित कृमि आदि जो रस व स्पर्श को जानते हैं, वे दो इन्द्रिय जीव हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व “स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से ह्व स्पर्श और रस को जाननेवाले शंबूक आदि जीव मन रहित द्वि-इन्द्रिय जीव हैं ।”

कवि हीराचन्दजी काव्य की भाषा में कहते हैं ह्व

( दोहा )

संख-सीप-क्रमि जाति अपगद आदि अपार ।

परस रसन जानै विषै, दो-इन्द्रिय अनिवार ॥३७॥

( सवैया इकतीसा )

फास औ रसन दोइ इन्द्रियावरण सोइ,

छय-उपशम और इंद्रियावरण ह्वै ।

फरस सुवाद वेवै घोंघा संख सीप क्रमि,

इत्यादिक जीव नाना मूढ़ता भरण है ॥

अपने असेनी जीव मिथ्या तैं मगन तातैं,

लोक नाडी-विषै लसै आपद धरण है ।



ऐसै दोड़ इन्द्री प्राणी जैन में बखानै तातैं,  
ग्याता दयाभाव राखि ग्यान कै सरण है॥३८॥  
( दोहा )

जो दयालता भाव धरि, करै दया-परिनाम ।

थावर त्रस दोनों तजै, सोचे तन सुख धाम॥३९॥

कवि कहते हैं कि ह् शंख-सीप, कृमि आदि दो इन्द्रिय जीव हैं। इनके स्पर्शन व संवर दो इन्द्रियाँ होती हैं। दयालु व्यक्ति इनकी हीन-दीन दशा को जानकर इनके प्रति दया भाव रखकर इनकी रक्षा करें।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने इस गाथा के व्याख्यान में जो कहा ह् उसका सारांश यह है कि ह् शंख, शीप, कृमि, लट् वगैरह अनेक प्रकार के दो इन्द्रिय जीव हैं। वे रसना इन्द्रिय से तथा स्पर्शन इन्द्रिय से शीत उष्ण जानते हैं।

आचार्यश्री जयसेन की टीका का हवाला देते हुए गुरुदेवश्री ने कहा है कि ह् आत्मा का स्वभाव तो ह् इन्द्रियों से जुदा ही है तथा अपने ज्ञानदर्शन गुणों से अभिन्न है; परन्तु जिनको ऐसी भावना नहीं है कि ह् 'मैं तो शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ। ज्ञाता-दृष्टा हूँ।' तथा स्पर्श के भोग में एवं रसना इन्द्रिय की गृह्यता में सुख मानकर राग-द्वेष में अटक गया है, वह दो-इन्द्रिय नामकर्म बाँधता है उसके निमित्त कारण से दो-इन्द्रिय जीवों का शरीर मिलता है।

वर्तमान में जो शरीर का संयोग दिखाई देता है, वह मैंने स्वयं ने पूर्व में भूल की है तथा उसके निमित्त से जो कर्म बाँधे हैं, उसके फल में यह सब विचित्रता दिखाई देती है। अतः यदि हमें इन हीन पर्यायों में जन्म नहीं लेना हो तो हमें अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव की श्रद्धा व ज्ञान करना चाहिए।<sup>१</sup>

इसप्रकार इस गाथा में दो इन्द्रिय जीवों के भेद बताते हुए यह कहा गया है कि यदि हम इन पर्यायों में न जाना चाहें तो हमें अपने चैतन्य स्वभाव को जानना/पहचानना चाहिए

●

( 191 )

१. श्रीमद् सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १९०, दि. २९-४-५२ के आगे, पृष्ठ-१५३१

गाथा - ११५

विगत गाथा में दो इन्द्रिय जीवों के भेद बताये हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में तीन इन्द्रिय जीवों के प्रकार बताते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्

जूगागुं भीमक्कणपिपीलिया विच्छुयादिया कीडा ।

जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा॥११५॥

( हरिगीत )

चींटी-मकड़ी-लीख-खटमल बिच्छु आदिक जंतु जो।

फरस रस अरु गंध जाने तीन इन्द्रिय जीव वे॥११५॥

जूं, चींटीं, मकड़ी, लीख, खटमल, बिच्छु आदि जो जंतु स्पर्श, रस, गंध को जानते हैं, वे तीन इन्द्रिय जीव हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह् स्पर्शन इन्द्रिय, रसना-इन्द्रिय और घ्राण इन्द्रिय के क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों तथा मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श रस गंध को जानने वाले ह् ये तीन इन्द्रिय जीव हैं, ये जीव मन रहित होते हैं।

कवि हीरानन्दजी इस गाथा को पद्य में इसप्रकार कहते हैं ह्

( सवैया इकतीसा )

जूका कुंभी मकड़ी औ चींटी बीछू आदि जीव,

फास रस घ्राण ग्राही तीन इन्द्री घनै हैं।

ते-इन्द्रिय जान नामकर्म कै उदयाधीन,

जग में मलीन डौले नाना रूप बनै हैं॥

शेष इन्द्री दोड़ और चित-आवरण जोर,

तातैं अमना सदीव गंथनि मैं गनै हैं।

ऐसैं जीव देखिकै दयालता न आई कबैं,

याही तैं जगत जीव दुःखरासि सनै हैं॥४१॥

( दोहा )

अपनी भूल अनादितैं, परा जगतमें आप ।

आपा-पर न पिछानई, सहत बहुत परिताप॥४२॥

कवि कहते हैं कि ह्व जुँआ, कुंभी, मकड़ी, चींटी, मकड़ी आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं, जो नामकर्म के उदयाधीन होकर जग जन्म-मरण करते हैं। ऐसे दुःखी जीवों को देखकर जो इन पर दया नहीं करते वे इसी तरह के दुःख में पड़ते हैं। अतः समय रहते जो स्व-पर विवेक नहीं करते तथा वस्तु स्वरूप को जानते वे ऐसे ही दुःखों में पड़ते हैं।

इसी गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने कहा है कि ह्व जूँ, मकड़ी, बिच्छू, चींटी वगैरह जीवों के स्पर्शन रसना व घ्राण ह्व ये तीन इन्द्रियाँ हैं। इससे इन्हें आगम में तीन इन्द्रिय जीव कहा है।

श्रीमद् जयसेनाचार्य संस्कृत टीका में प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि ह्व इन जीवों को त्रिइन्द्रियपना कैसे प्राप्त हुआ?

उत्तर में वे ही कहते हैं कि ह्व आत्मा का स्वभाव विशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय हैं, जिसे ऐसे शुद्धात्म स्वरूप का भान नहीं है तथा स्पर्श, रस, गंध के विषयों में लोलुपता होती है, वे जीव वीतराग आनन्द से च्युत होकर तीन इन्द्रिय आदि में उत्पन्न हो जाते हैं। जिन लोगों को ऐसे दीन-हीन जीवों को देख दया नहीं आती, वे भी कालान्तर में उन्हीं पर्यायों में जन्म लेकर अनंत दुःख भोगते हैं।”

सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि स्पर्शन, रसना एवं घ्राण जिनके ये तीन इन्द्रियाँ हैं, वे तीन इन्द्रिय जीव हैं तथा इन तीन इन्द्रियों के विषय में आसक्त होते हैं तथा जो इन पर दया नहीं करते वे सभी जीव इन पर्यायों में जाते हैं। अतः हमें इन दोनों स्थितियों से बचना चाहिए। ●

( 192 )

गाथा - ११६

विगत गाथा में यह ज्ञान कराया है कि जो स्पर्श, रस, गंध में अति आसक्त होते हैं, तथा उनके विषयों में आसक्त रहते हैं वे त्रैइन्द्रिय होते हैं। अब प्रस्तुत गाथा में चौ इन्द्रिय जीवों के विषय में बताते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

उदंसमसयमक्खियमधुकरिभमरा पयंगमादीया ।

रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति॥११६॥

( हरिगीत )

मधुमक्खी भ्रमर पतंग आदि डांस मच्छर जीव जो।

वे जानते हैं रूप को भी अतः चौइन्द्रिय कहें॥११६॥

डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भंवरा और पतंगे आदि जो जीव रूप, रस, गंध और स्पर्श को जानते हैं, वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं।

आचार्यश्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा श्रोत्रेन्द्रिय एवं मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण को जानने वाले डांस आदि जीव मनरहित चतुरिन्द्रिय जीव हैं।

( दोहा )

डांस मसक माखी विरडि, भ्रांगी भ्रमर पतंग ।

रूप गंध रस फरस फुनि, जानत विषय प्रसंग॥४३॥

( सवैया इकतीसा )

निर्विकार ग्यान-सुख-सुधारस-पान बिना,

बाहिर सुखी है जीव इंद्रियाभिलाषी है ।

तातैं चौरिन्द्रिय-जाति-नामकर्म बंध करै,

ताहीकै उदय माहिं आप दृष्टि राखी है॥

कारन एक इंद्रि और मनकै विचार बिना,

सेष चारि इंद्रिकरि स्वाद रीति चाखी है ।

कालका निमित्त पाय आप और आन मानी,  
अपने सरूप होई श्रीजिनेस साखी है ॥४४॥  
( दोहा )

जब सरूपकी दृष्टि है, तब पररूप न कोइ ।

परकै सब परहरनतैं, रहि निरूप-पद सोइ ॥४५॥

कवि कहते हैं कि ह्र डांस, मक्खी, मच्छर, भौरा, पतंगा आदि चार इन्द्रिय जीव, पाँचवीं इन्द्रिय व मन बिना आत्मा के आनन्द रहित मात्र स्पर्श, रस, गंध और रूप के विषय को ही ग्रहण करने के अभिलाषी रहने से चौइन्द्रिय नामकर्म बांधते हैं। उसके उदय में चारों इन्द्रिय के स्वाद में उलझे रहते हैं।

कभी समय पाकर जब स्वरूप की दृष्टि प्राप्त होती है तो पर की प्रवृत्ति को छोड़कर स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्र “डांस, मच्छर, मक्खी, भौरा, पतंगा आदि जीव रूप-रस-गंध व स्पर्श को जानते हैं। अतः वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं।

जीव के क्षयोपशम के लिए इन्द्रियों के परमाणुओं को आना पड़े ऐसी पराधीनता नहीं है। आत्मा जड़ इन्द्रियों का कर्ता नहीं है। जैसे-जैसे एक-एक इन्द्रियों का क्षयोपशम बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ही एक-एक इन्द्रि बढ़ती जाती है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जयसेनाचार्य श्री टीका का उल्लेख करते हुए गुरुदेव कहते हैं कि जीवों को अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप की पहचान करके निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान भावना से सुख सुधारस पान करना चाहिए; किन्तु आत्मा का भान नहीं होने से जीवों को अपने सुख सुधारस का पान नहीं हो पाता तथा स्पर्श, रस, घ्राण व चक्षु आदि के विषय में सुखभान कर वे विकारी सुख को भोगते हैं। इस कारण चतुरिन्द्रिय नामकर्म का उपार्जन करता है और चौइन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न होता है।”

●

( 193 )

१. श्रीमद् सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १९०, दि. ३०-४-५२ पूर्व दिन, पृष्ठ-१५३२

गाथा - ११७

विगत गाथा में चतुरिन्द्रिय जीवों के प्रकार बताये ।

अब प्रस्तुत गाथा में पंचेन्द्रिय जीवों के प्रकार बताते हैं ।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्र

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसफ्फासगंधसद्दण्हू ।

जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ॥११७॥

( हरिगीत )

भू-जल-गगनचर सहित जो सैनी-असैनी जीव हैं।

सुर-नर-नरक तिर्यचगण ये पंच इन्द्रिय जीव हैं ॥११७॥

वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द को जाननेवाले देव मनुष्य तिर्यच और नारक जो जलचर, थलचर और नभचर होते हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्र “स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा मन के आवरण का उदय होने से मन रहित एवं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को जानने वाले जीव पंचेन्द्रिय होते हैं और कुछ पंचेन्द्रिय जीव मन के आवरण का क्षयोपशम होने से मन सहित होते हैं। उनमें देव, मनुष्य व नारकी मन सहित ही होते हैं। तिर्यच मन सहित व मन रहित दोनों प्रकार के होते हैं।”

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्र

( दोहा )

सुर-नर-नरक-तिरिय गति, इन्द्रिय विषय प्रधान ।

जलचर-थलचर-खचर सब, पंचेन्द्रिय बलवान ॥४६॥

( सवैया इकतीसा )

पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म कै उदय भये,  
 पंचेन्द्रिय रूप सारे जीवों में जगते हैं ।  
 तिनमें कोई मन-इन्द्री बिना डौलैं,  
 केई मनधारी, जीव समान लगत हैं ॥  
 देव नारकी कै समान कहावे जीव,  
 पसु माँहि दौनौ भेद लोक में वगत है ।  
 ऐसै पंचेन्द्रिय पद पावै है अनेक बार,  
 पंचपद पावै नाहिं मूढ़ता पगत है ॥४७॥

( दोहा )

ए पंचेन्द्रिय पद प्रगट, आपद-पद की खानि ।  
 जो आपन पद कौं लखै, तौ इन पद की हानि ॥४८॥

उक्त पद्यों में कवि कहते हैं कि ह पंचेन्द्रिय नामकर्म के उदय से देव मनुष्य नरक तिर्यच गतियों में विषयों की प्रधानता है । जलचर-थलचर-नभचर सभी तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव हैं । उनमें कुछ तो बिना मन वाले असैनी होते हैं, कुछ मन वाले सैनी होते हैं । देव नारकी तो मन वाले ही होते हैं तथा तिर्यचों में दोनों प्रकार के होते हैं । जीव इसप्रकार अनेक बार पंचेन्द्रिय तो जाते हैं, परन्तु आत्मज्ञान से शून्य होने से पंचमगति आज तक प्राप्त नहीं की । ये पंचेन्द्रियों के पद तो आपद की खान है, जो जीव अपने स्वभाव को पहचान लेते हैं वे इस संसार के दुःख से मुक्त हो जाते हैं ।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि ह “जब जीवों का विकास होते-होते ये एक इन्द्रिय, दो, तीन, चार एवं पंच इन्द्रियों में आते हैं तो वहाँ देव, मनुष्य, नारकी तथा तिर्यच गति के जीव के रूप में जन्म लेते हैं । उनके पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं, परन्तु पशु योनि में जलचर, नभचर और थलचर के रूप में मछली, पक्षी तथा कुत्ता-बिल्ली

आदि की पर्यायों में जन्म लेते हैं । पंचेन्द्रिय जीवों के स्पर्श-रस-गंध-वर्ण एवं शब्द ह इन पाँचों विषयों का ज्ञान होता है । वे इन पाँचों इन्द्रियों और मन द्वारा पर पदार्थों को तो जानते हैं, परन्तु आत्मा को नहीं पहचानते । आत्मा इन्द्रियों द्वारा जाना भी नहीं जा सकता । वह तो अतीन्द्रिय स्व-संवेदन ज्ञान द्वारा जाना जाता है ।

ये पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी व असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के होते हैं । जो मन सहित हैं वे संज्ञी और जो मन रहित हैं वे असंज्ञी जीव हैं ।”

श्री आचार्य जयसेन टीका में कहते हैं कि ह “आत्मा का स्वभाव अतीन्द्रिय है । उसके आश्रय से तात्विक सच्चा आनन्द उत्पन्न होता है, परन्तु जिन्हें आत्मा के स्वभाव का भान नहीं है तथा पांच इन्द्रियों के विषयों में सुख मानते हैं, वे पंचेन्द्रि जाति नामकर्म उपार्जन करते हैं, परन्तु आत्मज्ञान न होने से आत्महित नहीं होता ।”

यही बात अंत में जयसेनाचार्य ने कही कि ह जो जीव आत्मा के अतीन्द्रिय स्वभाव को नहीं जानते और पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख मानते हैं वे पंचेन्द्रिय नामकर्म का उपार्जन कर संसार में ही जन्म-मरण करते हैं ।

इसप्रकार गुरुदेवश्री ने संसारी अज्ञानी जीवों का परिचय कराते हुये पाँच इन्द्रियों में देव नारकी व तिर्यचों की चर्चा करके बताया कि जो जीव आत्मा को नहीं पहचानते, वे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं ।

## गाथा - ११८

विगत गाथा में पंचेन्द्रिय जीवों के विषय बताये हैं। तथा जो इन विषयों रत रहते हैं, वे संसार में ही डोलते हैं - यह कहा है।

प्रस्तुत गाथा में देवों के चार निकायों की तथा पंचेन्द्रिय तिर्यचों, मनुष्यों के भेदों की चर्चा है। मूल गाथा इसप्रकार है ह

**देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमिया।**

**तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा।।११८।।**

(हरिगीत)

नर कर्मभूमिज भोग भूमिज, देव चार प्रकार हैं।

तिर्यच बहुविध कहे जिनवर, नरक सात प्रकार हैं।।११८।।

देवों के चार निकाय हैं, मनुष्य कर्मभूमिज एवं भोगभूमिज - ऐसे दो प्रकार के हैं। तिर्यच अनेक प्रकार के हैं और नारकी के भेद उनकी पृथ्वियों के अनुसार हैं।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह यहाँ इन्द्रियों के भेदों की अपेक्षा से जीवों का चतुर्गति सम्बन्ध दर्शाते हुए विषय का उपसंहार किया है।

देवगति नामकर्म और देवायुर्म के उदय के निमित्त से देव होते हैं। वे ह भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ह ऐसे निकाय (समूह) के भेदों के कारण चार प्रकार के हैं। मनुष्यगति नामकर्म और मनुष्य आयु के उदय में मनुष्य होते हैं। वे कर्मभूमिज और भोगमिज के भेद से दो प्रकार के होते हैं। तिर्यचगति नामकर्म व तिर्यच आयु कर्म के उदय में तिर्यच होते हैं। वे पृथ्वी, लट, जूँ, डांस, जलचर, उरग पक्षी, सर्प तथा चौपाये पशु इत्यादि भेदों के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। इसीप्रकार

नरक आयु नामकर्म व नरक आयु कर्म के उदय में नारक होते हैं। वे रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमप्रभा ह ऐसे भेदों के कारण सात प्रकार के होते हैं। उनमें देव, मनुष्य व नारकी पंचेन्द्रिय ही होते हैं।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( दोहा )

चतुर निकाई देव हैं, करम-भोग नर भेद।

तिरजग बहुत प्रकार हैं, नारक भूगत छेद।।५०।।

( सवैया इकतीसा )

देवगतिनाम देव-आयु-कर्मउदै सेती,

देवरूप धारी जीव चतुरनिकाय है।

नरगतिनाम नर-आयु-उदै भये जीव,

करम वा भोगभूमिविषेँ उपजाय है।।

पसूगति पसू-आयु-उदै पाय मही आदि,

पाँचों इंद्री विषे भेद बहुधा कहाय है।

नरकगति नरक-आयु-उदै सात भूमि,

डोलै जैन बिना कहौ कैसैकै रहाय है।।५१।।

( दोहा )

चारों गति ए कुगति हैं, पर गति अगति मिलाप।

इन गति विगति जुगति लसै, सोगति सिव गति आप।।५२।।

जिन सिव गति की गति लखी, तिन गति लखी समस्त।

भव-गति गति मैं जे परै, ते भव-गत सुख अस्त।।५३।।

उपर्युक्त पद्यों में कवि कहते हैं कि ह देवगति नामकर्म एवं देवायु कर्म के उदय से जीव चतुर्निकाय के देवों में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य तथा तिर्यच गति में बहुत प्रकार है एवं एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पशु सब तिर्यचगति वे जीव हैं। गति में कर्म भूमिज और भोग भूमिज होते हैं, तथा नरक गति व नरक आयु

कर्म के उदय से जीव नरकों में उत्पन्न होते हैं। जैनधर्म जाने बिना ये जीव अनादि से जन्म-मरण कर रहे हैं।

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्र देवगति, नामकर्म के उदय से देव का शरीर मिलता है। वे चार प्रकार के हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

आत्मा स्वभाव से तो सिद्ध समान है। चार गति से विलक्षण चैतन्यस्वभावी जिसका लक्षण है। ऐसी आत्मा के भान बिना जीव चतुर्गति में भ्रमण करता है। शुभभाव के फल में देवरूप में उत्पन्न होता है।

जो जीव अपने स्वभाव से चूककर मनुष्यगति के लायक शुभभाव करे तो मनुष्य होता है। तिर्यचगति के जीव एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु तक होते हैं। जो जीव अपने स्वभाव से चूककर कपट एवं दम्भ करते हैं, उसके फल वे पशु होते हैं, जिनका शरीर आड़ा होता है, क्योंकि उन्होंने पूर्व में अपने और दूसरों के साथ छल-कपट किया था। जो जैसे भाव करता है, उसे वैसा फल मिलता है। इसलिए कहते हैं कि छल-कपट और पाँचों पापों की रुचि छोड़! तथा अपने ज्ञानानन्द स्वभाव की रुचि कर।

अब नरकों की बात करते हैं। नरक सात हैं, तथा उनमें रहने वाले नारकी भी सात प्रकार हैं। जो जीव मांस खाते हैं, मदिरा पीते हैं, वे नरक में जाते हैं। वहाँ भी जीव अपने क्रूर भावों का फल भोगते हैं; नरक का क्षेत्र तो निमित्तमात्र है।<sup>१</sup>”

इस गाथा द्वारा यह संदेश दिया गया है कि चारों गतियों में दुःख ही दुःख हैं और आत्मा स्वयं तो ज्ञान स्वभावी है, परन्तु उस आत्मा की रुचि नहीं करता, इस कारण चारों गतियों में भटकता है। अतः हमें प्राप्त मनुष्य पर्याय की दुर्लभता को समझकर वस्तु स्वरूप को एवं आत्मस्वभाव को समझना चाहिए, जिससे इन दुःखों से मुक्ति मिले। ●

( 196 )

१. श्रीमद् सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ११०, दि. ३०-४-५२, पृष्ठ-१५३३

## गाथा - ११९

विगत गाथा में पंचेन्द्रिय जीवों में देव, मनुष्य, तिर्यच एवं नरकगति के भेदों का कथन किया गया है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्र गतिनाम कर्म व आयुर्कर्म के समाप्त होने पर जीव अन्य गति प्राप्त करता है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्र

**ख्रीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे य ते वि खलु।**

**पाउण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा।।११९।।**

(हरिगीत)

गति आयु जो पूरब बंधे जब क्षीणता को प्राप्त हों।

अन्य गति को प्राप्त होता जीव लेश्या वश अहो।।११९।।

पूर्वबद्ध गतिनामकर्म और आयुर्कर्म क्षीण होने से वे जीव अपनी लेश्यावश वास्तव में अन्य गति और आयुष्य प्राप्त करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्र “यहाँ चारों गतियाँ जीवों को गति नामकर्म और आयुष्य कर्म के उदय से निष्पन्न होती हैं। इसलिए देवत्वादि अनात्मा भूत हैं अर्थात् ये चारों गतियाँ आत्मा का स्वभाव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जीवों को देवत्व आदि की प्राप्ति में पौद्गलिक कर्म निमित्त हैं, इसलिए देवत्वादि जीव का स्वभाव नहीं है।

जीवों को जिसका फल प्रारंभ हो जाता है वह गतिनाम कर्म और आयुर्कर्म क्रमशः क्षय होते जाते हैं। ऐसा होने पर भी उन्हें कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति रूप लेश्या अन्यगति व अन्य आयु का कारण होती है।”

इसी के भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं।



( दोहा )

चतु निकाई देव हैं, करम भोग<sup>१</sup> नर-भेद ।  
तिर्यग बहुत प्रकार हैं, नारक भूगत छेद ॥५० ॥

( सवैया इकतीसा )

देवगति नाम देव-आयुकरम उदै सैती,  
देवरूप धारी जीव, चतुर निकाय है ।  
नरगति नाम नर-आयु उदै भये जीव,  
करम व भोगभूमि विषै उपजाय है ॥  
पशुगति-पशु आयु उदैपाय मडी आदि,  
पाँचों इन्द्री विषै भेद बहुधा कहाय है ।  
नरक गति नरक आयु उदै सात भूमि,  
डौले जैन बिना कहौ कैसे कै रहाय है ॥५१ ॥

( दोहा )

जिन सिवगति की गति लखी, तिनगति लखी समस्त ।  
भवगति गति में जै परै, ते भव-गत सुख अस्त ॥५३ ॥

कवि कहते हैं कि ह देव चार निकाय वाले हैं । मनुष्यों में एवं तिर्यंश्रों में कर्म भूमिज और भोगभूमिज ह ऐसे दो भेद हैं । तथा नारकी जीव पृथ्वी नीचे सात नरकों में रहते हैं । अंत के दोहे में कवि ने कहा है कि ह जिन्होंने मोक्षमार्ग देख लिया है, उन्होंने अन्य गतियों ज्ञाता रूप में जाना है तथा जो मिथ्यादृष्टि संसार की गतियों में पड़ गये, उनके सच्चा सुख अस्त हो गया है ।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह व्यवहार से कहें तो पूर्व काल में बाँधे गये गतिनामकर्म तथा आयुकरम

पूरे होने से वे अपना रस देकर खिर जाते हैं तथा निश्चय से कहें तो वे जीव अपनी कषाय गर्भित योगों की प्रवृत्ति रूप लेश्या के प्रभाव से अन्यगति तथा आयु को प्राप्त करते हैं ।

उदाहरण देते हुए गुरुदेव कहते हैं कि 'जिस तरह यदि कागज चिपकाना हो तो गोंद चाहिए उसी प्रकार आत्मा को अन्य गति में जाने के लिए क्रोध-मान-माया-लोभ के परिणामों के साथ योगों की प्रवृत्ति गोंद के समान है । वस्तुतः तो जीव अपने परिणामों के कारण दूसरी गति धारण करता है । 'कर्म के कारण जाता है' ह यह कहना तो उपचार मात्र है ।

तात्पर्य यह है कि जीवों की गति का एवं आयु का बंध क्रोधादि परिणाम एवं योग की प्रवृत्ति से पड़ता है । जैसे भाव करे वैसा भव मिलता है । पूर्व की आयु खिरती है तथा नवीन आयु बाँधता है । इस प्रकार जैनधर्म के बिना संसार चलता रहता है । जिन जीवों ने मोक्षमार्ग देख लिया है, उन्हें मुक्ति मिल जाती है और जो संसार की गति में पड़ गये, उनको सच्चा सुख नहीं मिलता ।<sup>१</sup>

सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि ह जीव कषायानुरंजित लेश्या के वशीभूत होकर अपने आत्मा को न जानने से संसार-सागर में गोते खाता है । अतः स्वयं के स्वरूप को जानना चाहिए ।

## गाथा - १२०

विगत गाथा में यह बताया गया है कि देवत्वादि चारों गतियों की प्राप्ति में गतिनामकर्म एवं आयुकर्म निमित्त होते हैं। ये चारों गतियाँ आत्मा का स्वभाव नहीं हैं।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व ये जीव निकाय देह सहित हैं। इनके दो भेद हैं। १. भव्य तथा २. अभव्य। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।  
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य॥१२०॥

(हरिगीत)

पूर्वोक्ति जीव निकाय देहाश्रित कहे जिनदेव ने।  
देह विरहित सिद्ध हैं संसारी भव्य-अभव्य हैं॥१२०॥

इस गाथा में कहा है कि ह्व ये समस्त संसारी जीव देह सहित हैं। सिद्ध भगवान देह रहित हैं। संसारी जीव जीवों की अपेक्षा एक जैसे होने पर भी वे भव्य व अभव्य के भेद से दो प्रकार के हैं।

जिनमें शुद्धस्वरूप की प्राप्ति की शक्ति का सद्भाव है, वे भव्य हैं और जिनमें शुद्धस्वरूप की प्राप्ति का असद्भाव है, वे अभव्य हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि - “यह पूर्वोक्त गाथा में कहे गये जीव विस्तार की उप संहार है। जिनके प्रकार यानि भेद-प्रभेद पहले कहे गये हैं, वे समस्त संसारी जीव देह में वर्तनेवाले हैं, देह सहित हैं। देह में न वर्तने वाले अर्थात् देह रहित सिद्ध भगवन्त हैं - जो कि शुद्ध जीव हैं।

देह में वर्तने की अपेक्षा से संसारी जीवों का एक प्रकार होने पर भी वे भव्य व अभव्य के भेद से दो प्रकार के हैं।

‘पाच्य’ और अपाच्यानूंग की भाँति जिनमें शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का सद्भाव हो उन्हें भव्य कहते हैं तथा जिनमें शुद्धस्वरूप की उपलब्धि की शक्ति असद्भाव है, उन्हें अभव्य कहते हैं।

कवि हीराचन्दजी उक्त कथन को काव्य में कहते हैं।

( दोहा )

एई जीव निकाय सब, देह विषय आधीन।  
देह विहीना सिद्ध हैं, भव्याभव्य मलीन॥५८॥

( सवैया इकतीसा )

जेते जगवासी जीव तेते देहधारी सबै,  
देह कै अधारी सिद्ध सिद्धगति विषै हैं।  
शुद्ध होने जोग भव्य, होने जोग नाहिं सुद्ध,  
ते अभव्य जगमाहिं दौनौ रासि दिखै हैं॥  
जैसैं मूग पकै एक, एक पके नाहिं किहू,  
वस्तु का सुभाव ऐसा साहजीक लिखै हैं॥  
जाकैं भेद सत्ता जग्या जथारूप जैसा,  
सोई सुद्ध पथ पावै जिनराज सिखै हैं॥५९॥

( दोहा )

सिद्धरूप जिनकै हियै, सिद्ध भयौ पर त्यागि।  
तेई सिद्ध सुभाव तैं, सिद्ध भये जग जागि॥६०॥

( 198 )

कवि उक्त पद्यों में कहते हैं कि ह्व चारों गति के संसारी जीव समूह देह और विषयों आधीन हैं। तथा सिद्ध जीव देह रहित हैं। संसारी जीवों में भव्य और अभव्य ह्व ऐसे दो प्रकार होते हैं। जितने संसारी जीव हैं वे सब

देहधारी हैं तथा सिद्ध जीव देहरहित होते हैं। जो शुद्ध होने योग्य है व भव्य हैं, जो कभी सिद्ध नहीं होते हों अभव्य जीव हैं।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस गाथा पर प्रवचन करते हुए कहते हैं कि ह्व 'मैं आत्मा ज्ञाता द्रव्य हूँ' ऐसे भानपूर्वक जो अन्तर में शान्ति व आनंद प्रगट होता है, वह धर्म है तथा इससे विपरीत जिसे संयम का सेवन कष्टदायक लगता है, वह अधर्म है। अज्ञानी जीव चारित्र को दुःखदायक मानते हैं तथा 'ऐसा मानते हैं कि मैं पर पदार्थ का अनुभव करता हूँ, जबकि वह परपदार्थ नहीं' बल्कि पर-पदार्थ के प्रति अपने राग का ही अनुभव करता है।

आत्मा के भानपूर्वक राग पर से दृष्टि उठाकर जो रागरहित आत्मा का वेदन करता है, वह धर्म है। आत्मा का स्वभाव तीनलोक व तीन काल के पदार्थों को जानने का है ह्व जो ऐसी पहचान करता है, वह भव्य है।<sup>१</sup>

इसप्रकार यदि हम स्व-पर को अर्थात् अपने आत्मा को जानें, पहचानें उसी में जमने की सामर्थ्य जानें, उसी में जम जायें; रम जायें तो परमात्मा बन सकते हैं।



१. श्री सद्गुरु प्रसाद नं. १९२, दि. ९-५-५२, पृष्ठ-१५४४

## गाथा - १२१

विगत गाथा में कहा है कि ह्व जीवों को देवत्वादि की प्राप्ति में पौद्गलिककर्म निमित्तभूत हैं, इसलिए देवत्वादि जीव का स्वभाव नहीं है।

प्रस्तुत गाथा में व्यवहार जीवत्व के एकांत की मान्यता का खण्डन है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता ।  
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवेत्ति ॥१२१॥**  
(हरिगीत)

ये इन्द्रियाँ नहीं जीव हैं षट्काय भी चेतन नहीं।

है मध्य इनके चेतना वह जीव निश्चय जानना ॥१२१॥

व्यवहार से कहे जाने वाले एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायादि जीवों में इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं और पांच स्थावरकाय और एक त्रसकाय ये छहप्रकार की शास्त्रोक्त कायें भी जीव नहीं है। उनमें जो ज्ञान है, वह जीव है। ज्ञानी ऐसी प्ररूपणा करते हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द कहते हैं कि ह्व "यह व्यवहार जीवत्व के एकांत की मान्यता का खण्डन है। (जिसे मात्र व्यवहारनय से जीव कहा जाता है, उसका वास्तव में जीवरूप से स्वीकार करना उचित नहीं है।)

ये जो एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायादि 'जीव' कहे जाते हैं, वे अनादि जीव-पुद्गल का परस्पर अवगाह देखकर व्यवहारनय से 'जीव' कहे जाते हैं। निश्चयनय से उनमें स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी आदिकायें ह्व जीव के लक्षण ह्व चैतन्यस्वभाव के अभाव के कारण जीव नहीं है। उन्हीं में जो स्व-पर प्रकाशक ज्ञान है, उसे ही गुण-गुणी के अभेद की अपेक्षा जीव कहा जाता है।

कवि हीराचन्दजी उक्त कथन को काव्य में कहते हैं।

( दोहा )

इन्द्रिय जीव स्वभाव नहीं, षट्प्रकार फुनि काय।

जो इनमें ज्ञायक लसै, सोई जीव कहाय॥६२॥

( सवैया इकतीसा )

एई एकइन्दी आदि पृथ्वी कायकादि भेद,

जीव पुद्गल सदा एक अवगाह है।

विवहारनय देखैं जीव की प्रधानता तैं,

जीवनाम पावै सवै दौनों एक राह हैं॥

निहचै नाहिं तिनमें कोई चेतना सुभाव,

जड़ जाति लिए एक सगरे निवाह है।

तिनहीं में आप-पर, पर का समान ज्ञान,

सोई जीव नाम ताकों जानै तेई साह है॥६३॥

( दोहा )

इन्द्रिय काया विविध पद, सगरा जीव-निवास।

निहचै ग्यानसरूप है, चेतन विस्व-विलास॥६४॥

उपर्युक्त काव्यों का भावार्थ यह है कि ह्व निश्चय से, इन्द्रियाँ जीव नहीं है, छह कार्यों भी जीव नहीं हैं, जीव तो इनमें रहने वाला ज्ञायक स्वभावी आत्मा ही हैं।

इसीप्रकार इन्द्रियाँ एवं पृथ्वीकाय आदि के भेद भी निश्चय से जीव नहीं है ह्व ये सब तो जीव के एकक्षेत्र अवगाह-व्यवहारनय से इन्हें जीव संज्ञा है, परन्तु निश्चय से इन में चेतना नहीं है। ये सब जड़ हैं।

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी ने कहा है कि ह्व “जीव को स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ व्यवहार से कहीं जाती हैं,

वस्तुतः इन्द्रियाँ जीव का स्वरूप नहीं हैं तथा पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय रूप जीव की पर्यायों को अशुद्ध निश्चयनय से जीव कहा गया है; किन्तु पर्याय की योग्यता तो अंश है, वह जीव का त्रिकाली स्वरूप नहीं है, इसलिए निश्चय से वे भी जीव का स्वरूप नहीं है। एक रूप चैतन्य भाव ही जीव है।

तात्पर्य यह है कि ह्व जीव के एकेन्द्रिय आदि भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से शरीर के सम्बन्ध से कहे जाते हैं। निश्चयनय से विचार किया जाय तो स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वीकाय आदि चैतन्य जीव से जुदे हैं। इन्द्रियाँ तथा शरीर जीव का स्वरूप नहीं है। एकसमय की पर्याय अशुद्ध निश्चयनय से जीव की कही हैं; परन्तु वे जीव की जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है। त्रिकाली ज्ञाता द्रव्य जीव का वास्तविक स्वरूप है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार उक्त कथन में जीव के स्वरूप की पहचान कराई है। अकेला शुद्ध चैतन्यभाव ही जीव है, अन्य एकेन्द्रिय आदि, पृथ्वी आदि शरीर कुछ भी अपूर्ण अवस्थायें या जीव को सयोगी अवस्थायें जीव नहीं है। ऐसा कहा है।

यहाँ कहा है कि ह्व ऐसे जीव के यथार्थ स्वरूप के बिना अज्ञानी जीव विकारी भाव करके पुनः पुनः देह धारण करके पाँच इन्द्रियों के विषयों में भोगता है, अपने अमृत स्वरूप असीम सुखद आत्मा के स्वभाव का आनन्द नहीं ले पाता।

( 200 )

## गाथा - १२२

विगत गाथा में व्यवहार जीवत्व के एकांत की मान्यता का खण्डन किया। अब प्रस्तुत गाथा में जीव का लक्षण बताया जा रहा है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।

कुव्वदि हिदमहिदं वा भुजंदि जीवो फलं तेसिं॥१२२॥

(हरिगीत)

जिय जानता अर देखता, सुख चाहता दुःख से डरे।

भाव करता शुभ-अशुभ फल भोगता उनका अरे॥१२२॥

जीव जानता-देखता है, सुख चाहता है एवं दुःख से डरता है। हित-अहित को जानता है और उनके फल को भोगता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह “चैतन्यस्वभावपने के कारण जानने-देखने की क्रिया जीव ही करता है। जहाँ जीव है, वहीं चार अरूपी अचेतन द्रव्य भी हैं; वे जिसप्रकार जानने और देखने की क्रिया के कर्ता नहीं है, उसी प्रकार जीव के साथ सम्बन्ध में रहे हुए कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल भी उस क्रिया के कर्ता नहीं हैं।

चैतन्य के विवर्तनरूप संकल्प की उत्पत्ति जीव में होने के कारण सुख की अभिलाषा रूप क्रिया का जीव ही कर्ता है, अन्य नहीं है। शुभाशुभ कर्म के फल में प्राप्त इष्टानिष्ट विषय भोग क्रिया का सुख-दुःख स्वरूप स्वपरिणाम क्रिया की भाँति जीव ही कर्ता है, अन्य नहीं।”

कवि हीरानन्दजी इसी विषय को काव्य में कहते हैं ह

(दोहा )

जाने देखै सरब कौं, इच्छे सुख-दुःख-भीति।

करै सुहित अरु अहित कौं, भुजै फल विपरीत॥६५॥

( 201 )

( सवैया इकतीसा )

चेतना-सुभाव जीव तातैं सब देखे जानै,

नभ आदि जैसे तैंसै पुगल अचेत हैं।

सुख का अभिलाषी होइ दुःख में उदेग जोइ,

हिताहित रूप जीव कल्पना समेत है॥

शुभाशुभ कर्मफल इष्टानिष्ट-योग-क्रिया,

ताका करतार जीव चेतना निकेत है।

एती लोकक्रिया जीव जाही समै लोकि जानै,

ताही समै लोक न्यारा सुद्धता उपेत है॥६६॥

(दोहा )

जीवक्रिया जिन जीव ने, लखी जीवमहिं सार।

तिन अजीव-किरिया तजी, पाया भव निरधार॥६७॥

उपर्युक्त पद्यों में कवि हीरानन्दजी ने कहा है कि ह जीव का स्वभाव जानना-देखना है, संसारावस्था में सुख-दुःख की इच्छा करना है तथा हिताहित का फल भोगता है तथा आकाश आदि पुद्गल की भाँति अचेत हैं। जो दुःख से डरते हैं एवं सुख के अभिलाषी हैं, अपने हिताहित को समझते हैं, तथा शुभ-अशुभ कर्मों के फल जो इष्टानिष्ट संयोग हैं उन्हें वेदता है, वह चेतना गुण युक्त जीव है। जब जीव ऐसी लोक क्रिया को लौकिक क्रिया समझे तभी लोक से न्यारा होकर शुद्धता को प्राप्त कर लेता है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “प्रथम तो जानना-देखना मात्र जीव की क्रिया है, अन्य द्रव्यों की नहीं तथा सुख चाहना और दुःख से डरना, ये संसारी जीव की क्रिया है। अजीवों को सुख दुःख होता नहीं है।

शुभ-अशुभ आचरण भी संसारी जीव का कर्तृत्व है। हिंसा-अहिंसा, पुण्य-पाप की क्रिया भी संसारी जीव की क्रिया है। अपने कार्य के फल में सुख-दुःख भी जीव भोगता है। दुःख वेदन देह में नहीं, जीव में होता है। ऐसा समझने पर ही जीव पर से भिन्न स्वयं की पहचान करता है।

जानने-देखने की क्रिया का कर्ता जीव स्वयं ही है। आत्मा ज्ञान-दर्शन क्रिया से तन्मय है तथा शरीरादि की क्रिया से तन्मय नहीं है। पर का मेरे साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसप्रकार पर से भेदज्ञान करके अन्तर्मुख स्वभाव के अवलम्बन से ही शान्ति प्राप्त होती है।

ज्ञान क्रिया के साथ आत्मा तन्मय है। जैसे आकाश के साथ ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है, उसीप्रकार अजीव-पुद्गल के साथ भी ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान तो आत्मा के साथ एकमेक है ह्व ऐसा समझे तो ज्ञान में पराश्रय की बुद्धि नहीं रहती।

बारह भावना में कहा है कि पुण्य-पाप आस्रव हैं तथा वह आस्रव की क्रिया मोक्षमार्ग में निमित्त नहीं है। छह द्रव्यों में एक जीव द्रव्य ही ज्ञान की क्रिया है, इससे वह ज्ञान की क्रिया के द्वारा ही जीव को अन्य समस्त द्रव्यों से जुदी पहचान कराता है।

जीव में ही सुख की इच्छा होती है। अजीवों को तो सुख एवं उसकी इच्छा होती ही नहीं है; क्योंकि सुख नाम का गुण जीव में ही होता है। जानने-देखने रूप ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की क्रिया का कर्ता जीव स्वयं है। पर के कारण जीव में जानने-देखने की क्रिया नहीं होती। निमित्तों के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञाता-दृष्टा रहना जीव का स्वयं का स्वभाव है। साता ज्ञान-दर्शन क्रिया के साथ तन्मय है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार उक्त कथन का सार यह है कि ह्व ज्ञान दर्शन सुख-दुःख शुभ-अशुभ एवं हर्ष-शोक आदि क्रियाओं का कर्ता संसारी जीव ही है। ऐसी पहचान करके जीव-अजीव का भेदज्ञान करना ही धर्म है।



( 202 )

१. श्रीगुरु प्रवचन प्रसाद नं. १९२, दि. ३-५-५२, पृष्ठ-१५४७

## गाथा - १२३

विगत गाथा में अन्य अजीव द्रव्यों से असाधारण जीवद्रव्य का कथन किया है।

प्रस्तुत गाथा में जीव द्रव्य का उपसंहार एवं अजीव द्रव्य प्रारंभ करने की चर्चा है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं।**

**अभिगच्छदु अज्जीवं णणंतरिदेहिं लिंगेहिं।।१२३।।**

(हरिगीत)

पूर्वोक्त अनेक प्रकार से इस तरह जाना जीव को।

जानो अजीव पदार्थ अब जड़ चिन्ह की पहचान से।।१२३।।

पूर्वोक्त प्रकार से अन्य भी बहुत सी पर्यायों द्वारा जीव को जानकर अब ज्ञान से अन्य जड़ लिंगों द्वारा अजीव को जानो।

आचार्य अमृतचन्द टीका में कहते हैं कि ह्व व्यवहारनय से जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणा स्थान आदि द्वारा विस्तारपूर्वक कही गई भेदरूप पर्यायों द्वारा तथा निश्चयनय से मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण शुद्ध चैतन्य-परिणमन की बहु पर्यायों द्वारा जीव को जाना।

इसप्रकार जीव को जानकर, अगली गाथाओं में उल्लिखित अचेतन स्वभाव के कारण ज्ञान से भिन्न अर्थात् जड़रूप कहे जानेवाले चिन्हों द्वारा भेद विज्ञान के लिए जीव से संबद्ध या असंबद्ध अजीव को जानो।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्व

(दोहा )

एसैं बहुपर्याय-गत, जीव पदारथ जानि।

सकल अचेतन चिन्ह गत, सब अजीव पहचान।।६७।।



( सवैया इकतीसा )

ऐसैं विवहार करि जीवठान गुणठान,  
मारगना आदि भेद, जीवरूप कहे हैं ।  
निहचै हैं राग-द्वेष-मोह परिनाम नाना,  
रूप सो असुद्ध जीव लोक माहिं रहे हैं ॥  
सुद्ध निहचै सों सुद्ध सिद्ध-पर्याय रूप,  
भूप छहों द्रव्य विषै मोह थान गहे हैं ।  
जीव तैं अजीव विपरीत रूप आगै अब,  
कहैं हैं मुनीस जातैं आप पर लहे हैं ॥६९ ॥

( दोहा )

सकल वस्तु इहलोक में, जीव अजीव विथार ।

जीव कथन पूरा भया, कहत अजीव विचार ॥७० ॥

कवि हीरानन्दजी के उपर्युक्त काव्यों में जो कहा गया; उसका सार यह है कि ह्व व्यवहारनय से जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि जीव के भेद कहे हैं तथा अशुद्ध निश्चयनय से राग-द्वेष-मोहरूप अनेक अशुद्ध जीव लोक में हैं । शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध सिद्ध-पर्याय रूप हैं ।

इस लोक में जीव-अजीव का ही विस्तार है । यहाँ तक जीव का कथन पूरा हुआ । अब आगे अजीव की चर्चा करेंगे ।

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने प्रवचन में कहा है कि ह्व इसप्रकार अनेक पर्यायों से आत्मा को जानकर ज्ञान से भिन्न स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि चिन्हों से पुद्गलादि पाँच अजीव द्रव्यों को जानो ।

ज्ञान-दर्शन आदि से जीव को अन्य अजीव द्रव्यों से भिन्न जानना तथा गुणस्थान, जीवस्थान आदि जीव की अन्य पर्यायों से भी जीवतत्त्व को भिन्न जानना चाहिए ।

देखो, समयसार, नियमसार आदि में जीव के अखण्ड स्वभाव की अधिकता बताने के लिए गुणस्थान जीवस्थान आदि को जहाँ अजीव का

परिणाम कहा है, वहाँ पर्याय को गौण करके द्रव्यदृष्टि का विषय बताया है और यहाँ तो अजीव द्रव्यों से भिन्नता बताने के लिए गुणस्थान आदि जीव की पर्यायों से जीव की पहचान कराई है । मिथ्यात्वादि १४ गुणस्थान जीव की पर्याय में होते हैं । वे अजीव के कारण नहीं हैं । त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि कराने के लिए उन्हें कर्मजनित कहा है, परन्तु वहाँ तो पर्याय को अन्तर्मुख करके अभेद स्वभाव बताने का अभिप्राय है । यदि पर्याय को ही पराधीन-कर्म के आधीन मान ले तो अन्तर्मुख होकर अभेद स्वभाव की दृष्टि कैसे करेगा; क्योंकि अभेदस्वभाव को दृष्टि में लेने वाली तो पर्याय है । जिसने उसे पर्याय को ही पर के कारण माना, वह जीव पर्याय को अन्तर स्वभाव के सन्मुख नहीं कर सकता । इसलिए नक्की करना चाहिए कि जीव की जितनी पर्यायें हैं, वे सभी जीव के स्वयं के कारण ही हैं ।”

इसप्रकार यद्यपि इस गाथा में अजीव द्रव्य की पहचान कराने का संकल्प किया है तथा कहा है कि ह्व पिछली गाथाओं में जीव का व्याख्यान विस्तार से हो चुका है, तथापि गुरुदेवश्री को जीवों के कल्याण की भावना विशेष रहती है, अतः उन्होंने अपने व्याख्यान में समयसार, नियमसार आदि का उल्लेख कर कहा कि जीव के अखण्ड स्वभाव बताने के लिए गुणस्थान, जीवस्थान आदि को जहाँ अजीव का परिणाम कहा है वहाँ पर्याय को गौण करके द्रव्यदृष्टि से बताया है और यहाँ इस गाथा में अजीव द्रव्यों से भिन्नता बताने के लिए गुणस्थान आदि को जीव की पहचान कराई है ।

( 203 )

## गाथा - १२४

विगत गाथा में नवतत्वों में जीव को अजीव से भिन्न बताया।  
अब प्रस्तुत गाथा में अजीव तत्व की बात करते हैं।  
मूल गाथा इसप्रकार है ह  
आगासकालपुगलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।  
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा॥१२४॥

(हरिगीत)

जीव के गुण हैं नहीं जड़ पुद्गलादि पदार्थ में।  
उनमें अचेतनता कहीं चेतनपना है जीव में॥१२४॥  
धर्म, अधर्म, आकाश, काल व पुद्गलद्रव्यों में जीव के गुण नहीं हैं;  
क्योंकि उनमें अचेतनपना है तथा जीवों में चेतना है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह पुद्गल, धर्म, अधर्म,  
आकाश और काल द्रव्य में चैतन्य विशेषों रूप जीव गुण विद्यमान नहीं  
हैं; क्योंकि उनमें अचेतनता सामान्य है और जीव को चेतन कहा है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

(दोहा )

पुगल धरमाधरम नभ, काल जीवगुण नाहिं।  
इनमै लसै अचेतना, चेतनता जिय माँहि॥७१॥

( सवैया इकतीसा )

नभ काल पुगल औ धर्माधर्म पाँचौंविषै,  
चेतना विसेष कोई काहू नाहिं वरता।  
मन आदि पाँचौं माहिं वरतै अचेतनता,  
धरम सामान्यरूप वस्तु-भाव भरता॥  
जीवदर्व माहिं एक चेतनता जानि लसै,  
पाँचौं ते विसेष पारै नाना व्यक्ति धरता।

( 204 )

ऐसी वस्तुसीमा हियै किये समकित्ती जीव,

न्यारा पर-भावसेती आप-भाव करता॥७२॥

(दोहा )

पाँचौं दरव अचेत हैं जीव चेतनावंत।

भेदज्ञान करि जो लखै, सो नर सम्यक्वंत॥७३॥

उक्त काव्यों द्वारा कवि ने कहा है कि ह पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य  
तथा काल अजीव द्रव्य हैं, इनमें चेतना नहीं है। चेतनता मात्र जीव द्रव्य  
हैं। जो व्यक्ति स्व-पर के भेदज्ञान पूर्वक इन्हें जानता/पहचानता है, वह  
सम्यक्दृष्टि है।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि  
ह “आकाश, काल, पुद्गल, धर्म एवं अधर्म ह इन पाँचों द्रव्यों में सुख,  
ज्ञान-दर्शन आदि जीव के गुण नहीं हैं। चैतन्यभाव मात्र एक जीवद्रव्य में  
ही होता है।

संचेतन वनस्पति जो हमें-तुम्हें दिखती है, वे तो पेड़-पौधों के जड़  
शरीर हैं, उनमें चेतना रूप जो जीव है, वह भी अमूर्त है, अतः वह जीव  
तो दिखाई नहीं देता। वह जीव आत्मा हम-तुम जैसा ही ज्ञान-दर्शनमय  
है, अनन्त गुणमय है। अपने पूर्व जन्म के पाप भावों के फल में एक इन्द्रिय  
पर्याय में गया है। अतः हमें उससे प्रेरणा लेकर सच्चे धर्म की साधना में  
लगना चाहिए।<sup>१</sup>”

इसप्रकार यद्यपि इस गाथा में मूलतः अजीव की पहचान कराते हुए  
उनसे जीव द्रव्य को भिन्न बताया है।

कवि हीरानन्द ने मन आदि में भी अचेतनता का उल्लेख कर  
सामान्यजनों का भ्रम दूर किया है। अन्त में कवि ने यह भी कह दिया है  
कि जीव चेतन है, शेष पाँचों द्रव्य अचेतन हैं, जो ऐसा भेदज्ञान करता है  
वह सम्यक्दृष्टि है। ●

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १९२, दि. ४-५-५२, पृष्ठ-१५५१

## गाथा - १२५

विगत गाथा में आकाशादि में अजीत्व का हेतु दर्शाया गया है।  
प्रस्तुत गाथा में अचेतनत्व को ही अनेक हेतुओं से सिद्ध किया है।  
मूल गाथा इसप्रकार है ह

सुहृदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।  
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा बेति अज्जीवं।।१२५।।

(हरिगीत)

सुख-दुःख का वेदन नहीं, हित-अहित में उद्यम नहीं।

ऐसे पदार्थ अजीव है, कहते श्रमण उसको सदा।।१२५।।

जिन द्रव्यों में सुख-दुःख का ज्ञान नहीं होता, हित का उद्यम और  
अहित का भय नहीं होता, उसे अजीव कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि ह “आकाशादि को सुख-  
दुःख का ज्ञान नहीं है, हित का उद्यम और अहित का भय कभी नहीं  
होता, इसलिए आकाशादि अजीवों में चैतन्य सामान्य विद्यमान नहीं हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसे चेतनत्व विशेष नहीं है, उसे चेतनत्व सामान्य  
कहाँ से होगा; क्योंकि जहाँ चेतनत्व सामान्य होता है, वहीं चेतनत्व  
विशेष होता है।

कवि हीरानन्दजी इसी बात को काव्य में कहते हैं ह

(दोहा )

सुख-दुःख जानपना सुहित, जतन अहित भय भाव।

जाकै इनमें कुछ नहीं, सो अजीव जड़ भाव।।७४।।

( सवैया इकतीसा )

जैसे चेतनासरूप जीव लोक माहिं कहा,

सुख माहिं सुखी होइ दुख माहिं दुखिया।

( 205 )

तैसें नभ आदि पाँचों द्रव्य जड़जाति कहे,

पर आप जानै नाहिं नाहिं दुखी सुखिया।।

हितकों बढावै सदा अहितकों बढावै है,

जैसें जीव तैसें कहा नभ आदि रुखिया।

तातैं इन पाँचों माहिं चेतनासरूप नाहिं,

चेतनासरूप जीव आपै मोख सुखिया।।७५।।

(दोहा )

सुख-दुःख जानै जीव सब, सुख-दुःख रूपन जीव।

पुगल सुख-दुःख पिण्ड है, जड़ता रूप सदीव।।७६।।

चेतन द्रव्य में चेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शन होते हैं, सुख-दुःख का वेदन  
होता है, वैसे ज्ञानदर्शन व सुख-दुःख का वेदन आकाश आदि अजीव  
द्रव्यों में नहीं होता।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपने व्याख्यान में<sup>१</sup> कहते हैं कि ह “जिन  
द्रव्यों में सुख-दुःख आदि वेदन करने की, इष्ट-अनिष्ट आदि किसी भी  
पदार्थ को जानने की योग्यता ही नहीं हैं, वे अजीव पदार्थ हैं। शरीर के  
अंग-आँख, नाक, कान एवं रसना में हिताहित तो क्या जानने की  
योग्यता ही नहीं है, अतः ये भी अजीव हैं। जानने वाली उक्त इन्द्रियाँ  
नहीं, बल्कि शरीर में रहनेवाला ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा है। इससे  
ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ भी जड़ हैं, चेतना रहित हैं।<sup>१</sup>”

इस प्रकार अजीव द्रव्य की यह पहचान कराई कि वे सब अजीव हैं  
जिनमें ज्ञान-दर्शन रूप चेतना गुण नहीं हैं।

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. १९४, दि. ५-५-५२, पृष्ठ-१५६२

## गाथा - १२६-१२७

विगत गाथा में कहा गया है कि ह्र अजीव का क्या स्वरूप है?

अब प्रस्तुत दो गाथाओं में यह बताते हैं कि ह्र जीव-पुद्गल के संयोग से उत्पन्न ६ प्रकार के संस्थान व संहनन आदि सब जड़ हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्र

संठाणा संघादा वण्णरसफ्फासगंधसद्दा य ।  
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू॥१२६॥  
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।  
जाण अलिंग्गहणं जीवमणिद्विट्ठसंठाणं॥१२७॥

(हरिगीत)

संस्थान अर संघात रस-गंध-वरण शब्द स्पर्श जो।

वे सभी पुद्गल दशा में पुद्गल दरब निष्पन्न हैं॥१२६॥

चेतना गुण युक्त आत्म अशब्द अरस अगंध है।

है अनिर्दिष्ट अव्यक्त वह, जानो अलिंगग्रहण उसे॥१२७॥

संस्थान, संघात, वर्ण-रस-स्पर्श-गंध और शब्द ह्र ऐसे जो गुण और पर्याय हैं, वे पुद्गल द्रव्य से निष्पन्न हैं। तथा ह्र जो अरस, अरूप, अगंध अव्यक्त हैं; अनिर्दिष्ट-संस्थान तथा चेतना गुण से संयुक्त है और इन्द्रियों द्वारा अगाह्य हैं, उन्हें जीव जानो।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्र “जीव-पुद्गल के संयोग में हुए भेदों के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का यह कथन है।

उक्त कथन के भाव को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि शरीर और आत्मा के संयोग में (१) जो स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुण वाले होने के कारण सशब्द, संस्थान, संघात आदि पर्यायों रूप से परिणमित हैं तथा इन्द्रियों द्वारा ग्रहण योग्य हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य हैं।

(२) जो स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुण रहित होने के कारण, अशब्द होने के कारण, अनिर्दिष्ट संस्थान होने के कारण तथा अव्यक्तत्व आदि पर्यायों रूप से परिणत होने के कारण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं हैं, वे चेतनागुणमय होने के कारण रूपी तथा अरूपी अजीवों से भिन्न जीव द्रव्य हैं।

इसप्रकार यहाँ जीव और अजीव का भेद प्रतिपादित किया है।

उक्त गाथाओं के भाव को कवि हीरानन्दजी ने इसप्रकार लिखा है ह्र

(दोहा )

जे संठान सँघात है, वरन परस रस गंध ।

सबद आदि पुग्गल जनित, गुन-परजाय प्रबंध॥७७॥

अरस अरूप अगंध है, अव्यक्त सबद बिन ग्यान ।

जीव अलिंगग्रहन है, अनिर्दिष्ट संठान॥७८॥

( सवैया इकतीसा )

समचतुरस्र आदि संस्थान औ संघात,

रूप रस गंध फास सबद-पुंज जेते हैं ।

वरनादि च्यारौं गुन संठानादि परजाय,

इंद्री विषै जोगि वस्तु अनू द्रव्य तेते हैं॥

रूप रस गंध फास बिना औ सबद बिना,

असंठान असंघात गुनरूप केते हैं ।

चेतना सरूप औ अतीन्द्रिय अनूप लसै,

जीव औ पुग्गल मैं वस्तुभेद एते हैं॥७९॥

कवि कहते हैं कि - स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, संघात, संस्थान शब्द आदि सभी पुद्गलजनित हैं। भगवान आत्मा इन सबसे भिन्न अरस, अरूप, अगंध, शब्द रहित एवं अव्यक्त है। यद्यपि पुद्गल के सिवाय धर्म, अधर्म, आकाश काल में भी रूप रस गंध वर्ण आदि नहीं है, परन्तु वे सब भी चेतना से रहित हैं, अतः अजीव हैं।

श्री कानजीस्वामी गाथा १२७ का महत्व बताते हुए कहते हैं कि -

“यह गाथा इतनी महत्वपूर्ण है कि ह्व यह आचार्य कुन्दकुन्ददेव के पाँचों ग्रन्थों में है। यह समयसार में ४९वीं, प्रवचनसार में १७२वीं, नियमसार में ४६वीं एवं भावपाहुड़ में ४५वीं गाथा है तथा यहाँ १२७वीं गाथा है।

जीव-पुद्गलों के संयोग में ६ प्रकार के संस्थान, ६ प्रकार के संहनन ये सब जड़ हैं। ये जीव की पर्यायें नहीं हैं। पाँच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गंध तथा शब्द पुद्गल जन्य पर्यायें हैं। भाषा भी जड़ है।

जीव ज्ञान-दर्शन गुण वाला है। अतीन्द्रिय ज्ञान से जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि ह्व आत्मा द्रव्य अनादि मिथ्या वासना से तथा अज्ञान से शरीर एवं इन्द्रियों को अपना मानता है। देवगति में जाय तो देव शरीर को अपना मानकर वासना किया करता है। पूर्व कर्म के निमित्त जैसा शरीर आँख, कान, नाक वगैरह मिलता है, उसे मानता है कि मेरे कारण मिले हैं, ऐसा मानकर उसमें अहं भाव करता है। यह मिथ्याभाव की प्रवृत्ति अपनी पर्याय में स्वयं के कारण ही होती रहती है, ऐसा न मानकर पर के कारण यह सब हुआ है ह्व ऐसा मानता है। विकार और संयोग नष्ट हो जाते हैं। अकेला चैतन्य स्वभाव रह जाता है ह्व यह बात अज्ञानी की समझ में नहीं आती।

जीव व अजीव का भेद जानकर जो जीव भेद विज्ञानी होकर आत्मा का अनुभव करता है तथा मोक्षमार्ग को साधकर निराकुल सुख का भोक्ता होता है। अजीव की परिणति अजीव में है। जीव की परिणति जीव में है। पर के कारण मुझे संसार नहीं है। मैं तो पर का एवं राग का मात्र ज्ञाता हूँ, जो ऐसा भेदज्ञान करता है, वह सुख भोगता है।”

इसप्रकार इस गाथा में कहा है कि भगवान आत्मा का स्वरूप पुद्गल एवं अन्य धर्म, अधर्म, आकाश काल से भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप तो है ही, अरस, अरूप, अगंध एवं अस्पर्श स्वभावी भी हैं अर्थात् आत्मा मूर्तिक तथा जड़ अमूर्तिक पदार्थों से भिन्न है। ऐसा भेद ज्ञान करना ही धर्म है। ●

## गाथा - १२८, १२९, १३०

विगत गाथाओं में यद्यपि अजीव द्रव्यों का स्वरूप बताया है? तथापि १२७वीं गाथा जो आचार्य कुन्दकुन्द के समयसारादि ग्रन्थों में भी है, उसमें ज्ञान-दर्शन रूप चेतना से युक्त जीवद्रव्य को अजीव द्रव्यों से भिन्न बताया है। इसप्रकार इस गाथा का महत्त्व बताते हुए इसका विशेष उल्लेख किया है।

अब गाथा १२८, १२९, १३० में जीव-पुद्गल के संयोग से उत्पन्न ६ प्रकार के संस्थान व संहनन आदि सब जड़ हैं ह्व यह बताते हैं ह्व

मूल गाथायें इसप्रकार हैं ह्व

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।  
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥  
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।  
तेहिं दु बिसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥  
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।  
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो ॥१३०॥

(हरिगीत)

संसार तिष्ठें जीव जो रागादि युत होते रहें ।  
रागादि से हो कर्म आस्रव कर्म से गति-गमन हो ॥१२८॥  
गति में सदा हो प्राप्त तन-तन इन्द्रियों से सहित हो ।  
इन्द्रियों से विषयग्रहण अर विषय से फिर राग हो ॥१२९॥  
रागादि से भवचक्र में प्राणी सदा भ्रमते रहें ।  
हैं अनादि अनन्त अथवा, सनिधन जिनवर कहे ॥१३०॥

( 207 )

जो संसार में स्थित जीव हैं, उनसे रागादि स्निग्ध परिणाम होता है, उन परिणामों से कर्म और कर्म से गतियों में गमन होता है।

‘गति’ वालों को देह होती है, देह से इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियों से विषयग्रहण और विषयग्रहण से राग अथवा द्वेष होता है।

संसार चक्र में जीव को ऐसे भाव अनादि-अनन्त अथवा अनादि-सांत रूप से चक्र की भाँति पुनः पुनः होते रहते हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव उक्त गाथाओं की टीका में कहते हैं कि ह इस लोक में संसारी जीव को अनादि बंध रूप उपाधि के वश स्निग्ध परिणाम होते हैं, परिणामों से पौद्गलिक कर्म, कर्म से नरकादि गतियों में गमन, गति से देह, देह से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषयग्रहण, विषय ग्रहण से राग-द्वेष, राग-द्वेष से फिर रागादि रूप स्निग्धपरिणाम, उन परिणामों से फिर द्रव्यकर्म, द्रव्यकर्म से फिर नरकादि गतियों में गमन ह इस प्रकार संसार चक्र के अन्योन्य कार्य-कारणभूत जीव व पुद्गल परिणामात्मक कर्मजाल के चक्र में जीव अनादि-अनन्त रूप से या अनादि-सांतरूप से चक्र की भाँति पुनः पुनः घूमता रहता है।

अब कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

जगवासी जीव विषै मोह-राग-दोष-रूप,  
परिणाम वर्तमान सदा आचरतु है।  
ताही परिणाम का निमित्त पाय द्रव्य कर्म,  
नानारूप नवा बांध जीव मैं भरतु है ॥  
करम कै उदै आये गतिनाम उदै होइ,  
तातैं च्यारों गति माहि देह कौं धरतु है।  
देह में इन्द्रिय पाँच खाँचि सकै नाहि जीव,  
भवरूप मरते मैं दौरि कै परतु है ॥८६॥

उक्त पद्य में कवि हीरानन्दजी कहते हैं कि - संसारी जीव मोह-राग-द्वेषरूप विषय कषायों में सदा प्रवर्तते हैं। उन परिणामों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म जीव के साथ नानारूप से बंधते हैं। जब कर्मों का उदय आता है तो जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। इसतरह यह जीव अपने को भूलकर विषय-कषाय के वशीभूत होकर संसार चक्र में भटकता

रहता है। संसार में भटकते हुए कदाचित् भली होनहार से भव्यजीव आत्मा का भान करके सुलट जाता है।

इन गाथाओं का अर्थ करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “जो संसारी जीव अपने शुद्ध आत्मा को न जानकर स्वयं को कर्मोपाधि के वश करते हैं। दया, दानादि जितना ही स्वयं को मानकर भ्रम से कर्मों को बांधते हैं, वे पर्याय बुद्धि वाले जीव मिथ्यात्वरूप परिणाम करते हैं तथा कर्म बाँधते हैं। ‘कर्म बाँधते’ हैं का तात्पर्य यह है कि ह उक्त मिथ्यात्वरूप अशुद्धपरिणामों का निमित्त पाकर जड़ कार्माण वर्णायें स्वयं अपने कारण परिणम जाती हैं।

जिन्हें गतिरहित स्वभाव की खबर नहीं है, वे जीव कर्मों के निमित्त से गति को प्राप्त होते हैं तथा जैसी गति की योग्यता होती है, वैसा शरीर मिलता है। जैसा शरीर होता है वैसी तदनुकूल इन्द्रियाँ मिलती हैं। जैसी इन्द्रियाँ होतीं तदनुकूल विषयों का ग्रहण होता है। इन्द्रियाँ बाह्य विषयों को ग्रहण करती हैं, आत्मा को नहीं। इस तरह अज्ञानी की दृष्टि विषयों पर जाती है। उसे अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की खबर ही नहीं होती। इस कारण उसकी दृष्टि अनिष्ट पदार्थों के प्रति राग-द्वेष किया करती है। इसके फल में पूर्ण कर्म के अनुसार नवीन कर्मबंध होता रहता है। मिथ्यादृष्टि जीव का कर्मों के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध है।”

इसप्रकार रागी-द्वेषी मलिनभाव वाले आत्मा को ऐसे अशुद्ध भाव हुआ करते हैं। भव्य जीव यदि अपने (निज) आत्मा का भान करे तो संसार का अंत अवश्य आता ही है। अतः यह नक्की हुआ कि पुद्गल परिणाम के निमित्त से जीव अपने अज्ञान के कारण अशुद्ध परिणाम करता है तथा उन अशुद्ध परिणामों के निमित्त से जड़कर्म का परिणाम होता है। ऐसा कहकर यह कहते हैं कि कर्म एवं राग के ऊपर से दृष्टि हटाले और ध्रुव आत्मद्रव्य पर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर! ऐसा करने से ही तेरा कल्याण होगा।



**गाथा - १३१-१३२**

विगत गाथा में पुण्य-पाप के परिणामों की चर्चा की।  
अब प्रस्तुत गाथा में पुण्य-पाप के स्वरूप का कथन कर रहे हैं।  
मूल गाथा इसप्रकार है ह  
**मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।  
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो॥१३१॥  
सुहपरिणामों पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स।  
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पतो॥१३२॥**  
(हरिगीत)

मोह राग अर द्वेष अथवा हर्ष जिसके चित्त में।  
इस जीव के शुभ या अशुभ परिणाम का सद्भाव है॥१३१॥  
शुभभाव जिय के पुण्य हैं अर अशुभ परिणति पाप हैं।  
उनके निमित्त से पौद्गलिक परमाणु कर्मपना धरें॥१३२॥  
जिसके भाव में मोह-राग-द्वेष अथवा चित्त प्रसन्नता है, उसे शुभ  
या अशुभ परिणाम हैं।

जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप हैं; उन  
दोनों के द्वारा पुद्गल कर्मपने को प्राप्त होते हैं। अर्थात् जीव के पुण्य-पाप  
के निमित्त से पुद्गल साता-असाता वेदनीयादि रूप होते हैं, वे पुद्गल  
परिणाम व्यवहार से जीव के कर्म कहे जाते हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह “यह पुण्य-पाप के  
स्वरूप का कथन है। दर्शनमोहनीय के निमित्त से जो क्लुषित परिणाम  
होते हैं, वह मोह है। चारित्र मोहनीय का विपाक जिसका निमित्त है -  
ऐसी प्रीति-अप्रीति राग-द्वेष है।

चारित्र मोहनीय के ही मन्द उदय में होने वाले विशुद्ध परिणाम मन  
की प्रसन्नता रूप परिणाम हैं। इसप्रकार ये मोह-राग-द्वेष अथवा चित्त

प्रसाद जिनके भावों में है, उसके शुभ या अशुभ परिणाम हैं। उसमें जहाँ  
प्रशस्त राग तथा चित्त प्रसन्नता है, वहाँ शुभ-परिणाम हैं तथा जहाँ मोह-  
राग-द्वेष हैं, वहाँ अशुभ परिणाम हैं।

यहाँ कहते हैं कि जीव कर्ता है और उसके शुभ परिणाम अशुद्ध  
निश्चयनय से भावकर्म है तथा पुद्गलकर्म वर्गणार्थे कर्ता हैं और साता  
वेदनीय आदि विशिष्ट प्रकृतियाँ रूप परिणाम द्रव्यकर्म हैं।

तात्पर्य यह है कि निश्चय से जीव के अमूर्त शुभ-अशुभ परिणामरूप  
भाव पुण्य-पाप जीव के कर्म हैं। उन शुभाशुभ परिणामों में द्रव्य पुण्य-  
पाप अर्थात् पुद्गल कर्म निमित्त कारण होने से मूर्त पुद्गल रूप द्रव्य-  
पुण्य-पाप कर्म व्यवहार से जीव के कर्म कहे जाते हैं।

कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं कि ह

(दोहा )

मोह राग अरु दोष जसु, चित्त प्रसन्नता होइ।  
ता आतमकै सुभ असुभ, करमरूप फल होइ॥१२॥  
( सवैया इकतीसा )

दरसनमोहनीकै उदै गहलताई है,  
तत्व अर्थ जानै नाहिं मोह ताकों कहिए।  
इष्टविषै प्रीति राग दोष है अनिष्टविषै,  
दौनोंरूप मोह एक-भाव पाप लहिए॥  
मोहमंदउदै भये चित्तमें प्रसन्नताई,  
दान-पूजा आदि तातैं पुण्यबंध गहिए।  
दौनोंतैं निराला जानि चिदानंद आप मानि,  
तीनों भाव नासि नासि मोखरूप रहिए॥१३॥

(दोहा )

पुण्य-पाप ए आपतैं, न्यारे सदा विचार।  
मोखरूप बाधक सदा, साधक-पद संसार॥१४॥

(दोहा )

जीवभाव शुभ पुण्य है, अशुभ भाव है पाप ।  
दौनों तैं पुगल करम, होइ विविध परिताप ॥१५ ॥

( सवैया इकतीसा )

जीव परिनाम शुभ भाव पुण्य नाम कहा,  
अशुभ परिनाम कौं भाव पाप कहिए ।  
भाव पुण्य कारन तैं पुद्गल परमाणु,  
कारमान रूप पुंज द्रव्य पुण्य कहिए ॥  
भाव पाप का निमित्त कारमान वर्गना है,  
पुंजरूप द्रव्य पाप काजरूप गहिए ।  
ऐसैं पुण्य-पाप सैती सुद्ध उपयोग न्यारा,  
आप रूप जान सैती कर्म पुंज दहिए ॥१६ ॥

(दोहा )

दरवित भावित प्रगट है, पुण्य-पाप पद दोइ ।  
पुण्य उदै सुख होत है, पाप उदै दुःख होइ ॥१०२ ॥

कवि हीरानन्दजी के काव्यों का भाव यह है किह्वजिसका चित्त राग-  
द्वेष-मोह में प्रसन्न होता है, उसको शुभ-अशुभ कर्मों का बंध होता है ।

दर्शनमोह से ही गहलता आती है कि जिससे तत्त्वार्थ को नहीं जान  
पाता । इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष करता है । जब मोह मंद होता है तब  
चित्त में प्रसन्नता होती है, दान-पूजा आदि करके पुण्य-बंध करता है ।  
जब यह स्वयं को पुण्य-पाप से निराला जानता है, स्वयं को चिदानन्द  
स्वरूप मानता है तब मोक्ष को प्राप्त करता है ।

कवि के पद्यों का भाव यह है कि ह्व जीव के शुभभाव पुण्य तथा  
अशुभभाव पाप है । दोनों से पुद्गल कर्मों का बंध होता है । द्रव्य कर्मों के  
निमित्त से राग-द्वेषरूप भावकर्म होते हैं । ऐसे पुण्य-पाप से आत्मा का  
शुद्ध उपयोग भिन्न हैं । उसे जानकर कर्मों को नष्ट किया जा सकता है ।

दोहे १०२ में कहा है कि ह्व द्रव्य कर्म व भाव कर्म ह्व दोनों पुण्य-पाप

रूप हैं, पुण्य के उदय से सुख होता है और पाप के उदय से दुःख होता है ।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी १३१वीं गाथा में कहते हैं कि ह्व “जिस  
जीव को शुद्ध आत्मतत्त्व की रुचि नहीं है तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की  
रुचि नहीं है, उसे मिथ्यात्व का परिणाम होता है । दर्शनमोहनीय कर्म के  
उदय के कारण मोह के परिणाम होते हैं - ये निमित्त का कथन है । जब  
जीव के मोह के परिणाम रूप नैमित्तिक अवस्था होती है तब कर्म के उदय  
को निमित्त कहते हैं । अज्ञानी जीव परपदार्थों को आत्मा का सहायक  
मानते हैं, किन्तु उनकी भ्रान्ति है । जब पुण्य के परिणाम भी आत्मा के  
सहायक नहीं है तो फिर पुण्य के परिणाम जिस लक्ष्य से होते हैं वे  
परपदार्थ तथा पुण्य से वस्तु प्राप्त होती है, उससे आत्मा का कल्याण किस  
प्रकार हो सकता है? नहीं हो सकता ।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी १३२वीं गाथा पर व्याख्यान करते हुए  
कहते हैं कि ह्व “आचार्यदेव प्रथम मोह के परिणाम की पहचान कराते  
हैं । आत्मा की शान्ति आत्मा में है’ ऐसा न मानकर ‘पर’ में से शान्ति  
मिलती है ह्व ऐसी मान्यता अज्ञान का परिणाम है, इसलिए जिनको सुखी  
होना हो, उन्हें चिदानन्द आत्मा में यथार्थ श्रद्धा एवं ज्ञान करना चाहिए ।

आत्मा स्वयं सत् पदार्थ हैं, उसकी अपेक्षा अन्य वस्तुएँ असत् हैं ।

दया दानादि का भाव पुण्य हैं, उसका विषय परद्रव्य है । परवस्तु की  
रुचि करना राग रूप पाप का परिणाम है । पर वस्तु हमारे सोच से नहीं  
आती जाती है । परवस्तु और हमारे बीच वज्र की दीवाल है ।

भावार्थ यह है कि ह्व जिन जीवों को शुद्ध आत्म तत्त्व में रुचि नहीं है  
तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की रुचि (श्रद्धा) नहीं है, उन्हें मिथ्यात्व का  
परिणाम होता है । ‘दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के कारण मोह का परिणाम  
होता है ।’ यह कथन निमित्त की अपेक्षा से है । जब उपादान में कर्म के  
निमित्त से भाव होता है, उसे नैमित्तिक परिणाम कहते हैं । अज्ञानी जीव पर  
पदार्थों को जो आत्मा का सहायक मानता है, वह उसकी भ्रान्ति है । पुण्य  
का परिणाम आत्मा को सहायक नहीं है तथापि पुण्य के परिणाम से लक्ष्य  
जो हो तथा पुण्य से जो वस्तु प्राप्त हो उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता ।

जहाँ मोह का परिणाम हैं, इन्द्रियों के विषयों में तथा धन-धान्यादि में अप्रशस्त राग है, उसे अशुभ भाव कहते हैं, वह अशुभभाव शुद्ध-आत्मा से जुदा है।”

जीव के सत् क्रियारूप, दया, दानादि परिणामों को शुभ अथवा पुण्य कहते हैं तथा विषय-कषाय आदि परिणामों को पाप कहते हैं। जितने प्रमाण में जीव पुण्य-पाप के भाव करता है, उतने प्रमाण में ज्ञानावरणादि कर्म बांधता है; परन्तु जितने प्रमाण में कर्म का उदय आये, उतने ही प्रमाण में विकार करना ही पड़े - ऐसा नियम नहीं है।

भावों के कारण द्रव्य कर्मों को आना ही पड़े ह ऐसी पराधीनता-पुद्गल को नहीं है, किन्तु उस समय कर्म वर्गणा के परमाणुओं की वैसी ही योग्यता है। कोई भी व्यक्ति किसी पर द्रव्य का कर्ता नहीं है। जीव तो स्वभाव दृष्टि से उनको जानने वाला है।

जीव को जब शुभभाव का निमित्त मिलता है, तब पुण्य प्रकृति के परमाणु बंध जाते हैं। दोनों का एक ही समय है, आगे-पीछे नहीं। भावपुण्य को पहले कहा तथा द्रव्य पुण्य की बात बाद में कही, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे दोनों आगे-पीछे होते हैं। दोनों का एक काल है।

आत्मा में जो पुण्य-पाप का विकार होता है, वह हेय है, बंध का कारण है। आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप है, उस शुद्ध स्वभाव चूकने से विकारभावों की उत्पत्ति होती है।

कर्म तो कर्म के कारण बंधते हैं, वे पुद्गल की पर्यायें हैं। जीव जितने प्रमाण में विकार करता है, उसी प्रमाण में नवीन कर्म बंधते हैं।”

इसप्रकार संक्षेप में पुण्य-पाप का स्वरूप एवं विषय बताया तथा धर्म इन पुण्य-पाप अर्थात् शुभाशुभ भावों से भिन्न है। पुण्य के फल में स्वर्ग तथा मनुष्य भव में अनुकूल सुख-सामग्री प्राप्त होती है तथा पाप के फल में नरक तिर्यचगति के दुःख प्राप्त होते हैं।

धर्मी ज्ञानी जीव पुण्य-पाप से पार वीतराग धर्म की साधना/ आराधना करके अनन्त सुख स्वरूप मुनि प्राप्त करते हैं। ●

( 211 )

## गाथा - १३३

विगत गाथा में कहा है कि ह शुभाशुभभाव पुण्य-पाप रूप हैं।  
अब प्रस्तुत गाथा में मूर्तकर्म का समर्थन करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।

जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि॥१३३॥

(हरिगीत)

जो कर्म के फल विषय हैं, वे इन्द्रियों से भोग्य हैं।

इन्द्रिय विषय हैं मूर्त इससे कर्म फल भी मूर्त हैं॥१३३॥

कर्म के फल में प्राप्त इन्द्रिय विषय मूर्त हैं; क्योंकि वे जीव के द्वारा इन्द्रियों के माध्यम से सुख-दुःख रूप से भोगे जाते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि यह मूर्तद्रव्य का समर्थन है कर्मफल जो सुख-दुःख के हेतु भूतमूर्त विषय हैं, वे नियम से मूर्त इन्द्रियों द्वारा जीव से भोगे जाते हैं, इसलिए कर्म के मूर्तपने का अनुमान होता है।

जिसप्रकार मूषक विष मूर्त है, उसी प्रकार कर्ममूर्त हैं, क्योंकि मूर्त के सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आने वाला ऐसा मूर्त उसका फल है।

टीका में विशेष खुलासा इसप्रकार है कि ह चूहे के विष का फल सूजन आदि के रूप में मूर्त है और मूर्त शरीर के द्वारा अनुभव में आता है; इसलिए अनुमान होता है कि चूहे का विष मूर्त है, उसीप्रकार कर्म का फल मूर्त है और मूर्त इन्द्रियों के सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आता है, इसलिए अनुमान होता है कि कर्म मूर्त है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य की भाषा में कहते हैं ह

(दोहा )

करमपुंज के फल विषै, सुख-दुःखरूपी मर्म ।

इन्द्रिय करि जिय भोगवै तातैं मूरत कर्म॥१०४॥

( सवैया इकतीसा )

कर्म कै विपाक माहिं जो जो फल उदै रूप,

सो सो पाँच इन्द्रियों के, विषै ही बताये हैं ।

सोई पाँच इन्द्री करि जीव भोग-योग सबै,

सुखी-दुःखी रूप नाना भेद सौं जताये हैं ।

इन्द्री मूरतीक तातैं जीव इन्द्रीधारी मूर्त,

विषै मूरतीक दिखै कारज सुहाया है ॥

कारन सरूप तातैं करम सौं मूरतीक,

कारन सा कारज है, ज्ञानी सोध पाया है॥१०५॥

(दोहा )

मूरत जाकै फल लसैं, मिलैं करम जो होइ ।

सो मूरत कहो क्यों नहीं, पुगल रूपी सोइ॥१०६॥

कवि हीरानन्द कहते हैं कि ह्व कर्मों के फल में जो सुख-दुःख रूप फल प्राप्त होते हैं । उन सुख-दुःख के निमित्त से पुद्गल कर्म बंधते हैं, उन पुद्गल कर्मों के निमित्त से इष्टानिष्ट बाह्य वस्तुओं का संयोग होता है तथा उनके निमित्त से पुनः सुख-दुःख होते हैं एवं इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं का संयोग होता है । इस तरह भाव पुण्य-पाप तथा द्रव्य पुण्य-पाप का सहज सम्बन्ध बनता रहता है ।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि ह्व 'पूर्व के प्रारब्ध कर्म के फल में बाहर में इष्ट-अनिष्ट विषयों के संयोग होते हैं ।

भाई! उन्होंने पूर्व में जैसे शुभाशुभ परिणाम किए, वैसा कर्मबंध किया है, उसका उदय होने पर बाह्य इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलती है । उसमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना तो जीव ने अपने अज्ञान से अपने उदय के

अनुसार की; परन्तु जो सामग्री मिली, वह तो पूर्व कर्म के निमित्त से मिली है ।

वर्तमान में जो मूर्त सामग्री मिली, उसके कारण रूप कर्म भी मूर्त हैं । यहाँ कर्मों को मूर्तिक सिद्ध करना है । पूर्व का पुण्य तो पुण्य के फल में बाह्य मूर्त सामग्री का संयोग मिलता है; परन्तु चैतन्य की शान्ति उसमें से नहीं मिलती । जड़कर्मों का फल तो जड़ में ही आता है । तथा चैतन्य की शान्ति का फल चैतन्य के स्वरूप में से आता है ।<sup>१</sup>

मूर्त इन्द्रियाँ आत्मा के विषयों को भोगती हैं । यह उपचार से किया कथन है । वस्तुतः आत्मा पर को नहीं भोगता । यहाँ तो इतना बताने का प्रयोजन है कि कर्म मूर्त हैं और उनका फल भी मूर्त में ही आता है ।

इसप्रकार यहाँ कहा है कि ह्व वस्तुतः अमूर्तिक, शुद्ध, चिदानन्द आत्मा ही उपादेय हैं, इसकी श्रद्धा-ज्ञान और इसी में एकाग्रता करना ही शान्ति का उपाय है । ●

गंभीर, विचारशील और बड़े व्यक्तित्व की यही पहचान है कि वे नासमझ और छोटे व्यक्तियों की छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नहीं होते, किसी भी क्रिया की बिना सोचे-समझे तत्काल प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते । अपराधी पर भी अनावश्यक उफनते नहीं हैं, बड़बड़ाते नहीं हैं; बल्कि उसकी बातों पर, क्रियाओं पर शान्ति से पूर्वापर विचार करके उचित निर्णय लेते हैं, तदनुसार कार्यवाही करते हैं, और आवश्यक मार्गदर्शन देते हैं ।

धर्मेश के समक्ष अपने धार्मिक अज्ञान और नास्तिकता का परिचय देते हुये अमित ने जो भाषणबाजी की, उसके उत्तर में धर्मेश ने अधिक कुछ न कह कर अमित से बड़ी ही शालीनता से मात्र बातों पर विचार करने के लिये कहा ।

— इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-३८

( 212 )

## गाथा - १३४

विगत गाथा में कहा है कि ह्र कर्म का फल मूर्त इन्द्रियों द्वारा भोगा जाता है, इससे सिद्ध है कि कर्म मूर्तिक हैं।

प्रस्तुत गाथा में कह रहे हैं कि मूर्त कर्म का मूर्त कर्म के साथ बंध होता है तथा अमूर्त जीव मूर्तकर्म को अवगाह देता है तथा मूर्त पुद्गल का अमूर्त जीव के साथ अवगाह होता है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्र

मुक्तो फासदि मुक्तं मुक्तो मुक्तेण बंधमणुहवदि ।

जीवो मुक्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि॥१३४॥

(हरिगीत)

मूर्त का स्पर्श मूरत, मूर्त बंधते मूर्त से।

आत्मा अमूरत करम मूरत, अन्योन्य अवगाहन लहें॥१३४॥

मूर्त मूर्त को स्पर्श करता है, मूर्त मूर्त के साथ बन्ध को प्राप्त होता है; किन्तु मूर्तत्व रहित जीव मूर्त कर्मों को अवगाह देता है और मूर्तकर्म मूर्तरहित जीव को अवगाह देता है। तात्पर्य यह है कि जीव कर्मों को तथा कर्म जीवों को परस्पर अवगाह देते हैं।

इस विषय में श्री आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि ह्र यहाँ इस लोक में संसारी जीवों में अनादि संतति से प्रवर्तता हुआ मूर्तकर्म विद्यमान है। वह स्पर्शादि वाला होने के कारण आगामी मूर्तकर्मों से स्पर्श करता है, इसकारण मूर्त का मूर्त के साथ स्निग्ध गुण के वश बंध होता है।

अब अमूर्त जीव का मूर्त कर्म के साथ जो बंध होता वह बताते हैं। निश्चयनय से अमूर्त जीव अनादि मूर्तकर्म जिसका निमित्त है, ऐसे रागादि

परिणाम द्वारा स्निग्ध वर्तता हुआ मूर्तकर्मों को विशिष्ट रूप से अवगाहता है और उस रागादि परिणाम के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म परिणाम को प्राप्त होते हैं, ऐसे मूर्तकर्म भी जीव को विशिष्ट रूप से अवगाहते हैं।

यह अमूर्त जीव और मूर्त कर्म का अन्योन्य अवगाह स्वरूप बंध का प्रकार है। इसप्रकार अमूर्त जीव का भी मूर्त कर्म के साथ बंध विरोध को प्राप्त नहीं होता।”

कवि हीरानन्दजी इसी विषय को काव्य में कहते हैं ह्र

(दोहा )

मूरत मूरत परस है, मूरत सौं सम्बन्ध ।

जीव अमूरत करम कौं गहै गहावै अंध॥१०७॥

( सवैया इकतीसा )

याही जगमाहिं जीव संग लग्या चल्या आया,

मूरत कर्म-पुंज संतति सुभाव तैं ।

फास आदि भेद तातैं साहजिक लसैं बावे,

कर्म सेती एकमेक होहि बंध दावतैं ॥

निहचै अमूरतीक जीव राग आदि भाव,

कर्म पुंज बन्ध करै चैतना विभाव तैं ।

ऐसा बंध भेद जानि आपापर भिन्न मानि,

भेदज्ञानी मोख पावै बंध के अभाव तैं॥१०८॥

(दोहा )

एक मेक अवगाहना, एकमेक परदेस ।

दोड़ दरब इकठे रहैं, सोई बंध विशेष॥१०९॥

उपर्युक्त हिन्दी पद्यों का सामान्य अर्थ यह है कि ह्र “पूर्व में बंधे हुए मूर्तिक कर्मों से आगामी मूर्तकर्मों का बंध होता है, यद्यपि ऐसा कहा जाता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों से बंधा है; परन्तु वास्तविकता यह है कि ह्र अमूर्त से मूर्त का बंध नहीं होता। अमूर्त आत्मा के विभाव तो मात्र

निमित्त बनते हैं, उन रागादि के निमित्त बंध तो मूर्त कर्मों से मूर्त कर्मों का ही होता है।”

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी भी यही कहते हैं कि ह्र आत्मा तो ज्ञानघन अरूपी वस्तु है। उसकी पर्याय में जो दया आदि के शुभभाव होते हैं एवं अहिंसा आदि के अशुभभाव होते हैं, वे भी अरूपी हैं, परन्तु वे शुभाशुभ परिणाम वस्तुतः जीव के ही हैं; क्योंकि वे भी अमूर्त हैं, चैतन्य में स्पर्श गुण नहीं हैं, वह तो अस्पर्शी है, जीव तो अपने में अमूर्तिक विकार करता है तथा उस विकार के निमित्त से मूर्त कर्मों के साथ मूर्त कर्म बंधते हैं। मूर्तकर्म के संयोग से जीव मूर्त नहीं हो जाता।

यहाँ यह नहीं समझना कि जीव की पर्याय में विकार होता ही नहीं है। विकार तो जीव की पर्याय में होता है, वह विकार भी अमूर्तिक है। चिदानन्द स्वरूप से चूकने पर विकारी पर्याय होती है तथा चैतन्यस्वरूप श्रद्धा ज्ञान करके एकाग्र होने पर विकार छूटकर निर्विकारी पर्याय प्रगट होती है।”

तात्पर्य यह है कि ह्र जीव के स्वभाव में विकार नहीं है, पर्याय में जो विकार है, उसे कर्म नहीं कराता; किन्तु जीव जब अपने अपराध से पर्याय में विकार करता है तो उस विकार के निमित्त से नये कर्म बंधते हैं। जीव के विकारी परिणाम भी अमूर्त हैं, जीव अपने में अमूर्तिक विकार करता है और उस परिणाम के निमित्त से मूर्त कर्मों के साथ मूर्त कर्म बंधते हैं। ऐसा समझकर अपनी विकारी पर्याय पर से भी उठाकर ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा करना धर्म है।



( 214 )

### गाथा - १३५

विगत गाथा में मूर्त कर्म का मूर्त कर्म के साथ तथा अमूर्त जीव का मूर्तकर्म के साथ जो बंध होता है, उसकी चर्चा की है।

प्रस्तुत गाथा में आस्रव पदार्थ का व्याख्यान करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्र

**रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।**

**चित्तमिह णत्थि कलुषं पुण्णं जीवस्स आसवदि।।१३५।।**

(हरिगीत)

हो रागभाव प्रशस्त अर अनुकम्प हिय में है जिसे।

मन में नहीं हो कलुषता नित पुण्य आस्रव हो उसे।।१३५।।

जिस जीव को प्रशस्त राग है, अनुकंपा युक्त परिणाम हैं और चित्त में कलुषता का अभाव है, उस जीव को पुण्य का आस्रव होता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव कहते हैं कि ह्र “यह पुण्यास्रव के स्वरूप का कथन है। प्रशस्तराग, अनुकम्पा और चित्त की अकलुषता ह्र ये तीनों शुभभाव द्रव्य पुण्यास्रव के निमित्तकारण रूप से कारणभूत हैं, इसलिए ‘द्रव्यपुण्यास्रव’ के प्रसंग का अनुसरण करके वे शुभभाव भावपुण्यास्रव हैं। तथा वे शुभभाव जिसके निमित्त हैं ऐसे पुद्गलों के शुभकर्म द्रव्य-पुण्यास्रव हैं।”

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्र

(दोहा )

जिसकै राग प्रसस्त है, अनुकम्पा परिणाम ।

चित्त कलुषता है नहीं, सो पुण्यास्रव धाम।।११०।।



( सवैया इकतीसा )

जीव के प्रशस्त राग अनुकंपा परिनाम,  
चिन्तता कालुष नाही तीनों शुभ भावना ।  
पुण्य रूप आस्रव कै बाहिर के कारण हैं,  
तातैं भाव-पुण्य मुख्य आत्मीक पावना ॥  
ताही का निमित्त पाय, सुभ द्रव्य कर्म पुंज,  
जोग द्वार आवै पुण्य आस्रव कहावना ।  
ऐसा भाव द्रव्य रूप आस्रव स्वरूप जानि,  
आप रूप-न्यारा मानि आप माहिं आवना ॥१११॥

( दोहा )

राग-दोष अरु मूढ़ता ये भावास्रव भेद ।  
पुद्गल पिण्ड समागमन दरवित आस्रव भेद ॥११२॥

उपर्युक्त पद्यों में यह कहा है कि ह “जीव के प्रशस्त राग, अनुकम्पा आदि के भाव शुभभाव हैं उनका निमित्त पाकर शुभ द्रव्यकर्मों का आस्रव योग द्वार से होता है। ऐसा भावास्रव एवं द्रव्यास्रव का स्वरूप है। राग-द्वेष व मोह ह ये भावास्रव के भेद है, आत्मा इनसे न्यारा है।

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह “जीव को जो देव-शास्त्र-गुरु के प्रति प्रीति भाव आता है, वह पुण्यास्रव का कारण है। जीवों पर दया का भाव भी पुण्यास्रव का कारण है। यहाँ भावास्रव को पहले कहा है तथा पीछे द्रव्यास्रव होने की बात की, परन्तु दोनों में समय भेद नहीं बताना है, बल्कि भावास्रव, द्रव्यास्रव का कारण है ह ऐसा कारणपना बताने के लिए ही यहाँ भावास्रव को पहले कहा है।

दूसरी बात ह परिणामों में कलुषता नहीं हुई, मंदकषायरूप सरल परिणाम रहे, इसलिए भी पुण्यास्रव है। चित्त की प्रसन्नता का शुभ परिणाम भी पुण्य आस्रव है। जीव के ये परिणाम भावास्रव हैं तथा इनके निमित्त से पुण्य-पाप के जो जड़ रजकण बंधते हैं, वे द्रव्यास्रव हैं।” ●

( 215 )

गाथा - १३६

विगत गाथा में पुण्य आस्रव का स्वरूप समझाया ।  
अब प्रस्तुत गाथा में प्रशस्त राग का स्वरूप कहते हैं ।  
मूल गाथा इसप्रकार है ह  
अरहंतसिद्धसाहसु भक्ती धम्मम्मि जा य खलु चेद्वा ।  
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥  
( हरिगीत )

अरहंत सिद्ध अर साधु भक्ति गुरु प्रति अनुगमन जो ।  
वह राग कहलाता प्रशस्त जँह धर्म का आचरण हो ॥१३५॥  
अरहंत, सिद्ध, साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म में यथार्थ चेष्टा और गुरुओं का अनुगमन प्रशस्त राग कहलाता है ।  
आचार्य श्री अमृतचन्ददेव टीका में कहते हैं कि ह “अरहंतसिद्ध व साधुओं के प्रति भक्ति, व्यवहार धर्म में शुभ आचरण तथा आचार्य आदि गुरुओं का अनुसरण करना प्रशस्त राग है; क्योंकि इनका फल प्रशस्त है ।  
यह प्रशस्त राग वास्तव में स्थूल लक्ष वाला होने से मात्र भक्ति प्रधान है जिनके, मुख्यतया ऐसे अज्ञानी जीवों के होता है। उच्च भूमिका में अर्थात् ऊपर के गुणस्थानों में न पहुँचे तब अयोग्य स्थान को राग नहीं हो, एतदर्थ कदाचित्त ज्ञानियों को भी होता है।”

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य की भाषा में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

पूजै अरहंत सिद्ध आचारिज उपाध्याय,  
साधु पंच परमेष्ठी विषै भक्ति करनी ।  
धर्म विवहाररूप चारित आचारज रूप,  
वस्तु-धर्म-साधन मैं प्रीति रीति धरनी ॥  
पंचाचारी गुरुहूँ की उपासना सदाकाल,  
एई तीनों मिथ्यारीति मोख की कतरनी ।

ग्यानी कै सरूप धरै तीव्रराग नास करै,

एई तीनौ क्रियारूप मोख की वितरनी॥११४॥

ज्ञानी अरहंतादि पंच परमेष्ठी की भक्ति करता है, इस प्रकार ज्ञानी व्यवहार धर्म का आचरण करता है। वस्तुस्वरूप के साधन में प्रीति करता है था तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ अज्ञानी जीव इन्हीं क्रियाओं को करते हुए मोक्षमार्ग को काटता है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि - अरिहंत, सिद्ध तथा मुनियों के प्रति भक्तिभाव होना प्रशस्त राग है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं को वीतराग भगवान की भक्ति का भाव आता है। वीतराग प्रतिमाजी के दर्शन का भाव आता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता, परन्तु जो ऐसे शुभराग को धर्म माने तो वह जीव राग को व धर्म के अन्तर नहीं समझता। धर्मी को अपनी राग की भूमिका में देव गुरु की पूजा-भक्ति प्रभावना वगैरह का भाव होता ही है; किन्तु उसे वह आश्रव ही समझता है। परजीवों को बचाने का भाव पाप नहीं है, बल्कि पुण्य है; परन्तु “मैं पर जीव को मार सकता हूँ या बचा सकता हूँ” हूँ ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। ध्यान रहे, मिथ्यादृष्टि जीवों को भी जो दया का भाव आता है, वह भी पुण्यास्रव है।

अज्ञानी को पंचपरमेष्ठी के प्रति भक्ति का भाव आता है; किन्तु वह अन्तर से यथार्थपने पंचपरमेष्ठी को पहचाने तो अन्तर आत्मा का भान हुए बिना नहीं रहता, होता ही है; क्योंकि परमेष्ठी भी तो आत्मा ही हैं। यदि उनके शुद्ध आत्मा को पहचाने तो अपना आत्मा भी उन्हीं जैसा है। इस तरह वह अपने आत्मा को पहचान लेता है और उसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है।

अज्ञानी को भी पंचपरमेष्ठी की भक्ति करने से मिथ्यात्व सहित शुभभाव होता है। देह की क्रिया आस्रव नहीं है, बल्कि जीव के जो शुभाशुभ परिणाम हुए, वह भावास्रव है।<sup>१</sup> इसप्रकार पुण्यास्रव का व्याख्यान हुआ। ●

( 216 )

१. श्री प्रवचन प्रसाद नं. १९९, गाथा-१३६, पृष्ठ-१६०४

गाथा - १३७

विगत गाथा में प्रशस्त राग के स्वरूप का कथन किया।

अब प्रस्तुत गाथा में अनुकम्पा के स्वरूप का कथन है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्टण जो दु दुहिदमणो।

पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥१३७॥

(हरिगीत)

क्षुधा तृषा से दुःखीजन को व्यथित होता देखकर।

जो दुःख मन में उपजता करुणा कहा उस दुःख को॥१३७॥

तृषातुर, क्षुधातुर दुःखी को देखकर जो जीव मन में दुःख पाता है, करुणा से द्रवित होता है, उसका वह भाव हूँ अनुकम्पा है।

आचार्य श्री अमृतचन्द कहते हैं कि हूँ “किसी तृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो निचली भूमिका में रहते हुए जन्म-मरण रूप संसार सागर में डूबते-उतराते हुए जगत को देखकर हृदय में दुःख होना करुणा है।”

कवि हीरानन्दजी काव्य की भाषा में कहते हैं हूँ

(दोहा )

तृषितबुभुच्छित दुखित कौं देखि दुखित जो होइं।

प्रतीकार करुणा करै, तस अनुकम्पा जोइं॥१३६॥

( सवैया इकतीसा )

तृषा सौं तृषित भारी भूख सौं बुभुच्छा धारी,

दुःख सौं दुखित देह सारी विकराल है।

ऐसा नरनारी रूप रोग-कूप-बूढ़ा देखि,

हा हा कै अज्ञानी जीव आकुल बेहाल है।

ज्ञानी अनुकम्पा करै आकुलता-भाव हरै,  
 कर्म का विपाक जानै उद्यम विसाल है॥  
 अजय है अज्ञानी भवकूप का निदानी सदा,  
 मोख की निसानी ग्यानी ग्यान में त्रिकाल है॥११७॥  
 (दोहा )

दुखित जीव दुःख देख कै, जो दुख करिहै दूर।

अनुकम्पा परिनाम सो करुणा रस भरपूर॥११८॥

कवि कहते हैं कि ह्व प्यासे, भूखे प्राणी को देखकर दुखी होना अनुकम्पा है। नर-नारियों को रोगों एवं बुढ़ापे से दुःखी देखकर अज्ञानी व्याकुल होते हैं। ज्ञानियों को उन्हें देख दया तो आती है; परन्तु देवत्व के सहारे उनके पापोदय का फल जानकर समता रखते हैं तथा उनके दुःख को यथासंभव दूर करने का प्रयास करते हैं।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी व्याख्यान में कहते हैं कि ह्व “जो कोई तृषावंत है, भूखा है अथवा रोगादि से दुःखी है, उसे देखकर जो पुरुष उनकी पीड़ा से स्वयं दुःखी होकर दयाभाव करता है तथा उस पुरुष के दुःख को दूर करने के परिणाम करता है, उसे दया कहते हैं। वह दया का भाव पुण्यास्रव है।

यह दया का भाव ज्ञानी व अज्ञानी दोनों को होता है, परन्तु इतना विशेष है कि अज्ञानी को जो दुखियों को देखकर दयाभाव होता है, उसके दुःख को दूर करने के उपाय में वह अहं बुद्धि करके आकुलता करता है ‘मैं उसके दुःख को दूर कर सकता हूँ’ ह्व ऐसे अभिप्राय के कारण वह मिथ्यादृष्टि है, उसे मिथ्या मान्यता का बहुत पाप बंध होता है, किन्तु जितना कोमलता का भाव होता है, उस अनुपात में उसे पुण्य बंध भी होता है।

ज्ञानी अपने आत्मा को जानते हुए परपदार्थों की अवस्था को यथार्थ जान लेता है कि करुणा का पात्र जीव क्षुधा-तृषा के कारण दुःखी नहीं है; परन्तु वह अपने अज्ञानता के कारण दुःखी है; किन्तु ज्ञानी को अपनी पुरुषार्थ की कमजोरी से जो दया का भाव होता है, उससे उसे पुण्यबंध होता है, धर्म नहीं होता।” ●

## गाथा - १३८

विगत गाथा में अनुकम्पा के स्वरूप का कथन किया।

अब प्रस्तुत गाथा में चित्त की कलुषता के स्वरूप का कथन करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।

जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति॥१३८॥

(हरिगीत)

अभिमान माया लोभ अर, क्रोधादि भय परिणाम जो।

सब कलुषता के भाव ये हैं, क्षुभित कर्ते जीव को॥१३८॥

जो क्रोध, मान, माया तथा लोभ चित्त का आश्रय पाकर जीव को क्षोभ उत्पन्न करते हैं, उस क्षोभ को ज्ञानी ‘कलुषता’ कहते हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से चित्त का क्षोभ कलुषता है। इन्हीं कषायों के मन्द उदय से चित्त की प्रसन्नता अकलुषता है। वह अकलुषता कदाचित् कषाय का विशिष्ट क्षयोपशम होने पर अज्ञानी को भी होती है; कषाय के उदय का अनुसरण करने वाली परिणति में से उपयोग को आंशिक रूप से विमुख किया हो तब मध्यम भूमिकाओं में कदाचित् ज्ञानी को भी वह अकलुषता का भाव होता है।”

कवि हीरानन्दजी काव्य की भाषा में कहते हैं ह्व

( सवैया इकतीसा )

क्रोध, मान, माया, लोभ, तीव्र रूप उदै आये,

चित्त विषैं छोभ होय, संकलेस भावतैं।

सोई चित्त-कलुषाई ग्रन्थ में बताई सदा,

चित्त की प्रसन्नताई मंद उदै दावतैं ॥

कदाचित्करूप लसै सबही कसाय पुंज,  
 ग्यानी औ अग्यानी विषै जैसे ही कहावतैं।  
 चित्त की कलुषताई दूर करि सकै ग्यानी,  
 जिनने बताई सदा वस्तु कै लखावतैं॥१२१॥  
 (दोहा )

चित्त-कलुष जहाँ है नहीं, सो है अलख लखाव ।

ताकै लखते लखत है, अलख सुलख का भाव॥१२२॥

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व जिस समय शुद्ध आत्मा का आश्रय छूटता है, उस समय क्रोध-मान-माया तथा लोभ के जो परिणाम होते हैं, उन आकुलता के परिणामों को कलुषित परिणाम कहते हैं। अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि 'मैं पर की पर्यायों को बदल सकता हूँ।' जबकि ज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि 'मैं परद्रव्य में फेरफार कर ही नहीं सकता। ज्ञानी चैतन्य स्वभाव की दृढ़ श्रद्धा रखता है और अज्ञानी पर कर्तृत्व के अभिमान से दुःखी रहता है। क्रोधादि सभी कषायों से अज्ञानी पीड़ित रहता है। यद्यपि ज्ञानी के अप्रत्याख्यान आदि क्रोधादि का अस्तित्व है, पर ज्ञानी का उनमें एकत्व नहीं है।<sup>१</sup>'

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि ह्व यद्यपि अज्ञानी को भी मन्द कषाय रूप दया, दान आदि के भाव होते हैं, परन्तु वह ऐसा मानता है कि राग की मंदता मुझे लाभदायक है, इस कारण उसे मिथ्यात्व का पाप बना रहता है तथा मन्दकषाय तो ज्ञानी को भी होती, परन्तु उसे पर में अकर्तृत्व का भान होने से वह उनका कर्ता नहीं बनता।

इसप्रकार ज्ञानी व अज्ञानी - दोनों को ही मन्दकषाय रूप पुण्य भाव होते हैं; परन्तु ज्ञानी उस शुभभाव को लाभदायक नहीं मानता उनका कर्ता नहीं बनता।

( 218 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद २००, दि. १०-५-५२, पृष्ठ १६१७

गाथा - १३९

विगत गाथा में चित्त की कलुषता की बात कही गई है।  
 अब प्रस्तुत गाथा में पापास्रव के स्वरूप का कथन करते हैं।  
 मूल गाथा इसप्रकार है ह्व  
 चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसण्णु।  
 परपरिदावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि॥१३९॥  
 (हरिगीत)

प्रमादयुतचर्या कलुषता, विषयलोलुप परिणति।

परिताप अर अपवाद पर का, पाप आस्रव हेतु हैं॥१३९॥

बहु प्रमाद वाली चर्या, कलुषता, विषयों में लोलुपता, पर को परिताप देना तथा पर से अपवाद बोलने ह्व पाप का आस्रव होता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव इस गाथा की टीका में कहते हैं कि ह्व "बहु प्रमाद वाली चर्यारूप परिणति अर्थात् अति प्रमाद से भरे हुए आचरण रूप परिणति, कलुषता रूप परिणति, विषय लोलुपतारूप परिणति ह्व ये पाँच अशुभभाव-द्रव्य पापास्रव को निमित्त रूप से कारणभूत हैं, इसलिए द्रव्य पापास्रव के प्रसंग का अनुसरण करने के कारण वे अशुभभाव भाव आस्रव हैं। और वे अशुभभाव जिनके निमित्त हैं, ऐसे पुद्गलों के अशुभकर्म-द्रव्य पापास्रव हैं।"

इसी विषय को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्व

( सवैया इकतीसा )

जग में प्रमाद रूपी क्रिया है अनादि ही की,

चित्त विषै मूढता सौं अति ही कलुषता।

विषयौ मैं लोलताई पर कौं आतपताई,

परापवाद ताईसौं वाद रूप रूखता॥

एई पाँचों परिणति असुभ हैं भाव पल,

द्रव्य पार करता है आतम विमुखता।

ऐसा भाव द्रव्यपाप आपतें निराग करै,  
 ग्यानी सरवंग सुद्ध ग्यान माँहि पुखता॥१२४॥  
 (दोहा )

पापरूप जब आप है, तब आपा अति अंध ।

विकलरहित सुख मूढ़गत, करै विविधविधि बंध॥१२५॥

कवि कहते हैं कि ह्व जगत में अनादि से जीवों को प्रमाद परिणति है । मूढ़ता से चित्त में कलुषता है, विषयों में लोलुपता है, पर को दुःखदाई भाव है । इसप्रकार जीव अशुभ भावों वर्तता है तथा अपने आत्म स्वभाव से विमुख हो रहा है । ऐसे भाव से द्रव्य पाप होता है । ज्ञानी इन सबसे विमुख रहता है । यद्यपि उक्त भाव यदा-कदा ज्ञानी को भी होते हैं; परन्तु वह अधिकांश विरक्त रहता है ।

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “विषय-कषाय आदि अशुभ क्रिया से जीव के अशुभ परिणाम होते हैं, उन्हें भाव पापास्रव कहते हैं, उन भावास्रवों का निमित्त पाकर मन-वचन-काय के योग द्वारा जो जड़ परमाणु आते हैं, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं । मन-वचन-काय के निमित्त से ह्व आत्मा के प्रदेशों का कम्पित होना योग है, ये योग कर्म परमाणु के आने में निमित्त होते हैं । द्रव्यदृष्टि से तो आत्मा में आस्रव होता ही नहीं है, परन्तु यहाँ ज्ञान प्रधान कथन है, इस कारण आत्मा का स्वरूप निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से बताया है ।

शान्तदशा की प्रतिबन्धक प्रमादसहित क्रिया मुनि को भी यदा-कदा आर्तध्यान के रूप में होती है, परन्तु उन्हें उस भाव का स्वामित्व नहीं होता । कलुषतता का परिणाम ज्ञानी व अज्ञानी दोनों को होता है, किन्तु दोनों की दृष्टि में बहुत बड़ा अन्तर होता है ।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में पापास्रव का स्वरूप बताया है ।

●

( 219 )

गाथा - १४०

विगत गाथा में पापास्रव के स्वरूप का कथन किया गया है ।

प्रस्तुत गाथा में पापास्रव भावों के विस्तार का कथन है ।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अट्टरुद्दाणि ।

णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति॥१४०॥

(हरिगीत)

चार संज्ञा तीन लेश्या पाँच इन्द्रियाधीनता ।

आर्त-रौद्र कुध्यान अर कुज्ञान है पापप्रदा॥१४०॥

चार संज्ञायें, तीन लेश्यायें, पाँचों इन्द्रियों के विषय, आर्त-रौद्रध्यान रूप अशुभभावों में लगा हुआ ज्ञान और मोह ह्व ये सब भाव पापप्रद हैं ।

टीकाकार आचार्य श्री अमृतचन्द्र विस्तार से कहते हैं कि ह्व तीव्र मोह के विपाक से उत्पन्न होने वाली आहार-भय-मैथुन और परिग्रह संज्ञायें, तीव्रकषाय के उदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति, कृष्ण, नील, कापोत नामक ३ लेश्यायें, राग-द्वेष के उदय की उग्रता के कारण वर्तता हुआ इन्द्रियाधीनपना, राग-द्वेष के उद्रेक के कारण प्रिय के संयोग एवं अप्रिय के वियोग की वेदना से छुटकारे का विकल्प तथा हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द एवं विषय संरक्षणानन्द रूप रौद्रध्यान, निष्प्रयोजन अशुभकर्म में दुष्टरूप से लगा हुआ ज्ञान और सामान्य रूप से दर्शन एवं चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेक रूप मोह; यह भावपापास्रव द्रव्यपापास्रव का विस्तार करने वाला है ।

उपर्युक्त भावपापास्रव के अनेक प्रकार द्रव्यपापास्रव के निमित्त हैं ।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्व



( सवैया इकतीसा )

तीव्र मोह उदय होइ आहारादि संज्ञा चारि,  
लेस्या तीन कृष्ण आदि परिनाम लेस हैं।  
राग-द्वेष उदैवस इन्द्रिय अधीनताई,  
इष्ट कै वियोग आदि आरत कलेस हैं॥  
कषाय क्रूरताई है, हिंसानन्द आदि रौद्र,  
दुष्ट नयाधीन उथान मूढ़ता निवेस है।  
एई भावपापास्रव द्रव्य पाप आस्रव हैं,  
इनसौ निराला आप सुद्ध उपदेस है॥१२७॥

( दोहा )

पुण्य-पाप तैं आपको, न्यारा करै जु कोइ।

सो नर सारा सुख लहै, आपद पदकौं खोइ॥१२८॥

कवि हीरानन्दजी कहते हैं कि तीव्र कर्म के उदय में आहारादि चार संज्ञायें होती हैं तथा कृष्ण नील कापोत लेश्यायें होती हैं। राग-द्वेष के उदय से इन्द्रियों की अधीनता तथा रौद्रध्यान के परिणाम होते हैं। तत्त्वज्ञान और भेदविज्ञान होने पर ये कदाचित्त होते हैं, पर ज्ञानी इन्हें जानता है तथा यथाशक्ति इन्हें त्यागने का प्रयास भी करता है।

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “तीव्र मोह के उदय से आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ह ये चार संज्ञायें होती हैं, वे पाप की कारण हैं।

१. आहार संज्ञा : ह अपने ज्ञान को आहार की प्रीति में रोक देना आहार संज्ञा है। आहार लेने के तीव्र भाव को आहार संज्ञा कहते हैं।

२. भय संज्ञा : ह आत्मा के निर्भय स्वभाव को भय में रोकना।

३. मैथुन संज्ञा : ह अपने ज्ञान को इन्द्रियों के विषयों में रोकना।

४. परिग्रह संज्ञा : ह अपने ज्ञान को परिग्रह में अटका देना परिग्रह संज्ञा है?

उक्त चारों ही संज्ञायें भूमिकानुसार ज्ञानी को भी चौथे, पाँचवें गुणस्थान में होती हैं, परन्तु ज्ञानी को ये संज्ञायें पुरुषार्थ की कमी के कारण होती हैं। पर ज्ञानी इन्हें हेय जानता है।

**लेश्यायें** : ह जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर स्वयं को जितना योग की प्रवृत्ति में कषाय सहित जोड़ता है, उसे लेश्या कहते हैं। “कषायानुरंजित योग प्रवृत्ति लेश्या है” उनमें कृष्ण, नील, कापोत ह प्रारंभ की ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। अन्त की पीत, पद्म, शुक्ल - ये तीन लेश्यायें शुभ हैं।

**इन्द्रियाधीनता** : ह अतीन्द्रिय स्वभाव की दृष्टि छोड़कर इन्द्रियों के आधीन रहना पाप आस्रव है। जिन्हें अतीन्द्रिय स्वभाव का भान है, उन्हें अस्थिरता जन्य अल्प आस्रव होता है। जो मिथ्यादृष्टि इन्द्रियों के विषयों में रुचि लेता है, उन्हें मिथ्यात्व सहित होने से तीव्र आस्रव होता है।

**आर्तध्यान** : ह इष्ट पदार्थों के वियोग व अनिष्ट पदार्थों के संयोग में राग-द्वेष करना तथा पीड़ा चिन्तन व निदान बंध करना ह ये चार प्रकार का आर्तध्यान दुःखरूप है। ये भी पाप के कारण हैं।

ज्ञानी को भी साधक दशा में आर्तध्यान होता है; किन्तु पर के कारण नहीं होता। कभी-कभी मुनियों को अपनी स्वयं की कमजोरी के कारण आर्तध्यान होता है। जब भगवान ऋषभदेव मोक्ष गये, तब चक्रवर्ती भरतजी को खेद हुआ था, किन्तु उन्हें उस समय आत्मा का भान था। शुभ के प्रति होने से उनके ध्यान शुभ आर्त कहा जाएगा।

**निदानबंध** : ह अज्ञानी जीवों का जो ब्रत, तप आदि के फल में स्वर्गादि की प्राप्ति की भावना होती है। यह निदान आर्तध्यान है।

**रौद्रध्यान** : ह यह ध्यान अशुभ ही होता है, पाप का कारण ही होता है। ये भी चार प्रकार का है ह १. हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी। ये ध्यान आनन्द रूप होते हैं।

ज्ञानी को पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान होता, परन्तु उसे यह भान है कि ये परिणाम पापास्रव हैं, तो भी रागवर्तता है, इसकारण कभी-कभी ऐसे परिणाम हो जाते हैं, परन्तु वह उन्हें हेय मानता है।<sup>१</sup> ●



## गाथा - १४१

विगत गाथा में पापास्रव भावों का कथन किया।  
अब प्रस्तुत गाथा में संवरतत्व का स्पष्टीकरण किया जा रहा है।  
मूल गाथा इसप्रकार है ह  
इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्टु मग्गाम्हि।  
जावत्तावत्तेसिं पिहिदं पावासवच्छिदं॥१४१॥  
(हरिगीत)

कषाय-संज्ञा इन्द्रियों का, निग्रह करें सन्मार्ग से।  
वह मार्ग ही संवर कहा, आस्रव निरोधक भाव से॥१४१॥  
जो व्यक्ति भलीभाँति मोक्षमार्ग में रहकर इन्द्रियों, कषायों और आहार,  
भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं का जितना निग्रह करते हैं, उनको उतना ही  
पापास्रव का छिद्र बंद होता है।  
आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह “पाप आस्रव के  
कथन के पश्चात् यह पाप के संवर का कथन है।  
मुक्ति का मार्ग वस्तुतः संवर से ही प्रारंभ होता है। उसके निमित्त  
इन्द्रियों, कषायों तथा चार संज्ञाओं का जितने अंश में निग्रह किया जाता  
है, उतने अंश में पापास्रव का द्वार बन्द होता है।”

उक्त गाथा के भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह  
(दोहा )

इन्द्रिय संज्ञ कसाय का, निग्रह जावत काल।  
तितना काल ढक्या रहै, पापास्रव का जाल॥१२९॥  
( सवैया इकतीसा )

रत्नत्रय रूप मोक्ष मारग जिनेस कहया,  
सोई आप रूप जानि उद्यम सु करना।

( 221 )

इन्द्रिय कषाय संज्ञा तीनौ की अवज्ञा करि,  
निग्रह विधान सेती सुद्ध भाव भरना॥  
जैता काल तेता काल पापरूप द्वार रुकै,  
दौनों रूप जैसें तोय शुद्ध करना।  
सोई सुभ संवर है कर्म वैरी संगर है,  
गुन कौ अडंबर है आपरूप धरना॥१३०॥  
(दोहा )

नूतन कर्म निरोध का, संवर कहिए नाम।  
पर-मिलाप तजि आपगत, शुद्धातम परिनाम॥१३१॥

उक्त काव्यों में कहा गया है कि ह जबतक पाँच इन्द्रियों के विषयों  
का, आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह रूप चार संज्ञाओं का तथा क्रोधादि  
कषायों का निग्रह होता है तब तक पापास्रव नहीं होता।

जिनेन्द्र देव ने रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है, उसे आप रूप जानकर  
अपने आत्मा को जानने-पहचानने तथा उसी में स्थिर होने का प्रयत्न  
करना तथा इन्द्रियों, कषायों, संज्ञाओं की उपेक्षा करके शुद्धभाव धारण  
करना, जब तक ऐसा पुरुषार्थ होगा तब तक पापास्रव रुकेगा। बस इस  
आस्रव का रुकना ही संवर है।

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं  
कि ह “आत्मा जो विचार करता है, उसमें मन निमित्त होता है तथा पर  
पदार्थों को जानने में इन्द्रियाँ निमित्त हैं। ‘आत्मा ज्ञान स्वभावी हैं, वह  
इन्द्रियाँ व मन के बिना ही हैं। जो ऐसे अतीन्द्रिय आत्मा की रुचि करके,  
मन व इन्द्रियों की रुचि छोड़कर क्रोध-मान-माया-लोभ तथा चार संज्ञाओं  
के पाप परिणाम छोड़कर जिस समय स्वभाव की दृष्टि करता है, उसी  
समय मिथ्यात्व की अनुत्पत्ति हो जाती है तथा सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो  
जाता है।

देह मन वाणी के बिना तथा विकारी भावों के बिना जो मेरा ज्ञान-

दर्शन-स्वभाव हैं, वह अन्तःतत्त्व है। यही मान्यता सम्यग्दर्शनरूप संवर का मार्ग है। यह संवर चौथे गुणस्थान से प्रगट होता है।

इन्द्रियाँ हैं, मन भी है, पुण्य-पाप के भाव हैं; ये सब होते हुए भी इनकी रुचि छोड़कर त्रिकाल स्वभाव की रुचि करना संवर है। संवर में सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र्य तीनों समा जाते हैं। संवर मोक्षमार्ग है। पाँचों इन्द्रियों एवं मन को जीतने से संवर होता है। चार संज्ञाओं की ओर ढलते परिणाम को रोककर स्वभाव में एकाग्र होना संवर है।

सम्यग्दृष्टि पशु हरी घास खाता हो, समकिती व्यक्ति हीरा-मणि का व्यापार करता हो, विषयों में रमता दिखता हो, कृष्ण, नील, कापोत आदि अशुभ लेश्याओं के परिणाम होते हों, उस स्थिति में भी आत्मा का भान होने के कारण नरक गति अनन्तानुबन्धी तथा मिथ्यात्व आदि ४१ कर्म प्रकृतियाँ नहीं बंधती। अतः मुमुक्षु को आत्मा को जानने-पहचानने का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए।<sup>१</sup>”

इसप्रकार यथार्थ श्रद्धा की प्रेरणा देते हुए यहाँ कहा गया है कि कदाचित् चौथे गुणस्थान की अविरत दशा में न तो इन्द्रियों के विरक्त हो पाया हो तथा न त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरक्त हो पा रहा हो; किन्तु जो जिनेन्द्र भगवान के कहे तत्त्वों का यथार्थ रीति से श्रद्धान करता है वह ४१ प्रकृतियों के बंध के अभाव के कारण अल्पकाल में मुनिव्रत धारण कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

अतः सर्वप्रथम यथार्थ आत्म श्रद्धान का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। इसप्रकार संवर की चर्चा की।



( 222 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. २०४, दि. १३-५-५२, पृष्ठ-१६४८

## गाथा - १४२

विगत गाथा में संवरतत्त्व का स्वरूप कहा।

अब प्रस्तुत गाथा में सामान्यरूप से संवर का ही और कथन करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।

णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥१४२॥

(हरिगीत)

जिनको न रहता राग-द्वेष अर मोह सब परद्रव्य में।

आस्रव उन्हें होता नहीं, रहते सदा समभाव में॥१४२॥

जिसे सर्वद्रव्यों के प्रति राग-द्वेष एवं मोह नहीं है, उस भिक्षु को निर्विकार चैतन्यपने के कारण सम सुख-दुःख हैं, उसे शुभ व अशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह “जिसे समग्र परद्रव्यों के प्रति राग-द्वेष व मोहभाव नहीं होते, उस भिक्षु (मुनि) को, सुनिर्विकार चैतन्यपने के कारण सम सुख-दुःख हैं, उसे शुभाशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता, परन्तु संवर ही होता है। इसलिए यहाँ मोह-राग-द्वेष परिणाम का निरोध भाव संवर है और योग द्वारा प्रविष्ट होने वाले पुद्गलों के शुभाशुभ कर्म रूप परिणामों का निरोध द्रव्य संवर है।

कवि हीरानन्दजी इसी के भाव को काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

रागरूप दोषरूप मोहरूप भाव जाकै,

सुपर दरब विषै नैक नाहिं भावै हैं।

निर्विकार चेतना-सुभाव एक आतमीक,

दुःख-सुख न्यारा सोई भिक्षुक कहावै है॥

ताकै सुभासुभ रूप कर्म कोई आवै नाहिं,  
 संवर सु होता जाइ गुन कौं बढ़ावै है ।  
 भावरूप संवर तैं द्रव्यकर्म संग रहै,  
 आतमा सरूप गामी आप मांहि आवै है ॥१३३॥  
 (दोहा )

जो आतम आतम विषै, आतम लखि थिर होइ ।

सो संवर संवरन है, सकल करम कौ जोइ ॥१३४॥

उक्त छन्दों में कवि कहते हैं कि ह “जिसके राग-द्वेष-मोह नहीं हैं, मात्र एक निर्विकार चेतना स्वभाव है, सांसारिक सुख-दुःख से जो उदास (विरक्त) हो गये हैं, उनके शुभाशुभ कर्मों का आस्रव नहीं होता । आत्मा के स्वरूप में स्थिर हो गये हैं, उनके संवर होता है ।”

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि ह जिस पुरुष को समस्त परद्रव्यों में प्रीति भाव, द्वेषभाव तथा तत्त्वों की अश्रद्धा रूप मोहभाव नहीं है तथा समान है सुख-दुःख जिसके ह ऐसे महामुनि के शुभरूप व पापरूप पुद्गल द्रव्य आस्रव को प्राप्त नहीं होते ।

यहाँ छटवें-सातवें गुणस्थान में झूलते मुनि की अपेक्षा से कथन किया है । कहते हैं कि महामुनियों को पर के कारण प्रमोद नहीं होता, किन्तु अपने स्वयं के कारण सर्वज्ञ भगवान के प्रति शुभ राग आता है । मुनिराजों को सम्पूर्ण पर पदार्थ ज्ञान के ज्ञेय होते हैं, उनकी अपने स्वभाव में लीनता है, इसकारण उनके राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता । इसी प्रकार मुनियों को तत्त्व की अश्रद्धा भी नहीं होती ।

वे यह भी नहीं मानते कि शरीर की निरोता में ही धर्म हो सकता है तथा रोगी शरीर में रोग हो तो धर्म नहीं हो सकता । इसी तरह सुख-दुःख में भी मुनियों को समान भाव वर्तता है ।<sup>१</sup>”

इसप्रकार गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने वादिराज आदि मुनियों के दृष्टान्त देकर सच्चे मुनियों के स्वरूप पर विशेष प्रकाश डाला है । ●

### गाथा - १४३

विगत गाथा में सामान्यरूप से संवर का स्वरूप कहा है ।  
 अब प्रस्तुत गाथा में विशेषरूप से संवर के स्वरूप का कथन हैं ।  
 मूल गाथा इसप्रकार है ह  
**जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स ।  
 संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥१४३॥**

(हरिगीत)

जिस व्रती के त्रय योग में जब पुण्य एवं पाप ना ।

उस व्रती के उस भाव से तब द्रव्यसंवर वर्तता ॥१४३॥

जिस मुनि को विरत रहते हुए जब योग में पुण्य और पाप नहीं होते, तब उसे शुभाशुभ भावकृत कर्मों का संवर होता है ।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह “जिस योगी को विरत अर्थात् सर्वथा निवृत्त वर्तते हुए मन-वचन और काय सम्बन्धी क्रिया में शुभ परिणाम रूप पुण्य तथा अशुभ परिणाम रूप पाप नहीं होते, तब उसे शुभाशुभ भाव निमित्तक द्रव्यकर्मों का अभाव होने के कारण द्रव्य संवर होता है और शुभाशुभ परिणाम के निरोध पूर्वक भाव संवर होता है ।”

कवि हीरानन्दजी इसी भाव को काव्य में कहते हैं ह

(दोहा )

पुण्य-पाप नहीं जोग मैं, जा मुनि कै जिस बार ।

ताकै तब संवरन है, करम सुभासुभ द्वार ॥१३५॥

( सवैया इकतीसा )

सबतैं निवृत्त मुनि विरति कै जोगों विषै,

सुभासुभ रूप परिनाम का निवरना ।

जाही समै होइ ताहीसमै सुभासुभ रूप,  
 द्रव्य कर्म संवर है कर्म का अकरना ॥  
 कारन अभाव होतैं कारज अभाव होइ,  
 कारन कै होतैं काज लोक में समरना ।  
 भावरूप संवर तैं द्रव्यरूप संवर है,  
 भेदग्यान मारग तैं मोख में उतरना ॥१३६ ॥

संवर के स्वरूप का कथन करते हुये कवि कहते हैं कि ह “जब शुभाशुभ भाव का निवारण होता है, तभी शुभाशुभरूप द्रव्यकर्मों का निवारण हो जाता है। द्रव्यकर्म का अभाव होने से भावकर्म के अभाव रूप संवरदशा प्रगट हो जाती है; क्योंकि कारण का अभाव होने कार्य का भी अभाव हो जाता है।

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह “जो जीव निश्चय से परद्रव्यों की तरफ उपेक्षाभाव रखते हैं, उन्हें संवर होता है। यहाँ मुनियों की अपेक्षा से कथन है। दया-दान आदि का भाव शुभ है तथा हिंसा, झूठ आदि के भाव अशुभ हैं। जब मुनियों के मन-वचन-काया के निमित्त से शुभाशुभ भाव होते नहीं हैं तथा जब स्वभाव में लीनता वर्तती है, उस समय जो आते हुए कर्म रुक जाते हैं, वह द्रव्य संवर है।

तात्पर्य यह है कि जब महामुनि के सर्व प्रकार से शुभाशुभ की निवृत्ति होती है, तब आगामी कर्मों का निरोध होता है। शुद्धात्मा का अवलंबन लेने से राग-द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होती। इसे ही भावकर्मों का नाश होना कहते हैं तथा उनके निमित्त से द्रव्यकर्म स्वयं नहीं आते।”

इसप्रकार अत्यन्त सरल भाषा में संवर का विशेष स्वरूप कहा।



( 224 )

गाथा - १४४

विगत गाथा में संवर का विशेष स्वरूप कहा।  
 अब प्रस्तुत गाथा में निर्जरा पदार्थ की व्याख्या करते हैं।  
 मूल गाथा इसप्रकार है ह  
**संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्टदे बहुविहेहिं ।  
 कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥१४४॥**  
 (हरिगीत)

शुद्धोपयोगी भावयुत जो वर्तते हैं तपविषैं।

वे नियम से निज में रमें बहु कर्म को भी निजरिं ॥१४४॥

जो जीव संवर और योग से युक्त होता है, वह बहुविधतपों सहित वर्तता है, अतः वह नियम से अनेक कर्मों की निर्जरा करता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह “संवर अर्थात् शुभाशुभ परिणाम का निरोध और योग अर्थात् शुद्धोपयोग; इन दोनों से युक्त पुरुष अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन तथा कायक्लेशादि भेदोंवाले बहिरंग तपों सहित और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान भेदों वाले अन्तरंग तपों सहित वर्तता है। वह पुरुष वास्तव में अनेक कर्मों की निर्जरा करता है। इसलिए यहाँ ह इस गाथा में ऐसा कहा है कि ह ‘कर्म की शक्ति को क्षीण करने में समर्थ अन्तरंग और बहिरंग तपों द्वारा बढ़ा हुआ शुद्धोपयोग भाव निर्जरा है और उस शुद्धोपयोग के निमित्त से नीरस हुए उपार्जित कर्म पुद्गलों का एकदेश क्षय होना द्रव्य निर्जरा है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

(दोहा )

संवर-जोग विमल सहित, विविध तपोविधि धार।

बहुत करम निर्जर करन, सो मुनि त्रिभुवन सार ॥१३७ ॥

( सवैया इकतीसा )

आस्रव निरोध संवर और सुद्धोपयोग,

इन दौनों सेती सदर जो मुनि चरतु हैं ।

बाहिर-अभ्यन्तर है बारह प्रकार तप,

तातैं कर्म निर्जरा सौ बंधन गरतु है ॥

तातैं कर्मबीज नास करने समर्थ एक,

सुद्ध उपयोग भाव निर्जरा करतु है ।

ताकै परभाव सेती कर्म रस नीरस है,

सोई दर्व निर्जरा है, मोख कौ धरतु है ॥१३८ ॥

( दोहा )

पूरव-संचित करम कौ एकोदेस विनास ।

सो निर्जरा कहान है, ज्यौं जीरन-आवास ॥१३९ ॥

उक्त पद्यों में कवि कहते हैं कि ह्व उन मुनियों का जीवन धन्य है जो मुनि संवर और त्रियोग की निर्मलता के साथ नाना प्रकार के तप करते हैं, और कर्मों की निर्जरा करते हैं। आगे कवि ने कहा ह्व आस्रव का निरोध संवर है। मुनि का आचरण शुद्धोपयोग रूप तथा संवररूप होता है।

अंतरंग व बहिरंग बारह प्रकार का तप निर्जरा का कारण है; क्योंकि उसके प्रभाव से कर्मों का रस नीरस हो जाता है। इसप्रकार वही भाव निर्जरा सहित द्रव्य निर्जरा मोक्ष का कारण बनती है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “जो भेद विज्ञानी शुभाशुभ आस्रव के निरोध रूप संवर तथा शुद्धोपयोगरूप योग सहित अन्तरंग-बहिरंग तप करते हैं, वे निश्चय से बहुत कर्मों की निर्जरा करते हैं।

भेदविज्ञानी जीवों को योग होता है, आत्मा के भान बिना ध्यान किसका/कैसा? आत्मा में समय-समय पर संसारावस्था में विकार होता है, उसमें कर्म निमित्त होते हैं। ऐसा होते हुए भी ‘आत्मा द्रव्यरूप से

शुद्ध है’ ज्ञानी को ऐसा भान होता है। ऐसे भान बिना योग (ध्यान) नहीं हो सकता।

सुदेव-कुदेवादि को समान मानना समभाव नहीं है, बल्कि सुदेव को सुदेव और कुदेव को कुदेव जानने का नाम समभाव है। जो ऐसे वर्तमान पर्याय के अन्तर को नहीं जानते, उसे पर से व राग से आत्मा जुदा है ह्व ऐसा विवेक करना नहीं आता।

सुदेव व कुदेव के बीच विवेक हो, जड़ व चैतन्य का विवेक जाने, विकार व अविकार में अन्तर जाने, बन्ध व अबन्ध के बीच भेद जाने, वे भेद विज्ञानी हैं। उन्हें शुभाशुभ भाव उत्पन्न नहीं होते। उसे संवर होता है। जिसे संवर है, उसे आत्मा में शुद्ध उपयोग रूप जुड़ान से तथा अंतरंग-बहिरंग तप से जो शुद्धता होती है, उस शुद्धता की बृद्धि रूप एवं अशुद्धता के व्ययरूप भाव निर्जरा होती है तथा जो पुराने कर्म क्षय हो जाते हैं उस अपेक्षा द्रव्य निर्जरा होती है। जीव का बारह प्रकार का तप उस द्रव्य निर्जरा में निमित्त होता है।

ज्ञानी जीव को जितना शुद्धोपयोग वर्तता है, उतने प्रमाण में कर्मों की निर्जरा होती है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में संवर की सामान्य चर्चा करते हुए निर्जरा एवं उनके भेद द्रव्य निर्जरा एवं भाव निर्जरा को समझाया है तथा यह बताया है कि ह्व अंतरंग-बहिरंग तपों द्वारा निर्जरा होती है, अतः ज्ञानी को संवरपूर्वक यथा साध्य निर्जरा भी होती है। वह बुद्धिपूर्वक अन्तरंग बहिरंगतप करता ही है।

## गाथा - १४५

विगत गाथा में निर्जरा के स्वरूप का कथन किया।  
अब प्रस्तुत गाथा में निर्जरा के मुख्य कारणों का कथन है।  
मूल गाथा इसप्रकार है ह  
जो संवरेण जुत्तो अप्पट्टपसाधगो हि अप्पाणं।  
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं॥१४५॥

(हरिगीत)

आत्मानुभव युत आचरण से ध्यान आत्मा का धरें।

वे तत्त्वविद संवर सहित हो कर्म रज को निजरेँ॥१४५॥

संवर से युक्त जो जीव वास्तव में आत्मार्थ का अर्थात् स्व प्रयोजन का प्रकृष्ट-साधक वर्तता हुआ आत्मा को जानकर अर्थात् आत्मा का अनुभव करके ज्ञान को निश्चल रूप से ध्याता है, वह कर्मरज को खिरा देता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द सूरि टीका में कहते हैं कि ह्व संवर से अर्थात् शुभाशुभ परिणाम के परम निरोध से युक्त जो जीव वस्तुस्वरूप को अर्थात् हेय-उपादेय तत्त्व को बराबर जानते हुए पर प्रयोजन से जिसकी बुद्धि विमुख हुई है और मात्र स्व प्रयोजन साधने में जिसकी बुद्धि तत्पर हुई है तथा जो आत्मा को स्वोपलब्धि से उपलब्ध करके अर्थात् स्वानुभव द्वारा अनुभव करके गुण-गुणी का वस्तुस्वरूप से अभेद होने के कारण अविचल परिणतिवाला होकर संचेतता है, वह जीव वास्तव में अत्यन्त मोह-राग-द्वेष रहित वर्तता हुआ पूर्वोपार्जित कर्मरज को खिरा देता है।

कवि हीरानन्द इसी भाव को काव्य द्वारा स्पष्ट करते हैं ह्व

(दोहा )

जो संवर संयुक्त है, आपा साधै आप।

ग्यान रूप कै ध्यान तैं, करै न करम मिलाप॥१४०॥

( सवैया इकतीसा )

संवर संयुक्त होइ वस्तुरूप आपा जोई,

पर कै मिलाप सेती आपा न्यारा करई।

अपने प्रयोजन में लगै आप जानि करि,

आप तैं अभिन्न ग्यान आपरूप धरई॥

राग-दोष चिकनाई आपतैं जुदाई जानि,

तातैं रूखै अंग सब कर्म धूलि झरई।

यातैं धर्म शुक्ल ध्यान निर्जरा कौ हेतु है,

ज्ञानी को परम्परा मोक्ष फल देतु है॥१४१॥

कवि कहते हैं कि ह्व “संवर पूर्व के अन्तरंग-बहिरंग तपों द्वारा ज्ञानी जीव कर्मों की निर्जरा करते हैं। निर्जरा का मुख्य हेतु धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान है जो कि ज्ञानी की परम्परा मोक्ष का कारण बनता है।”

इसी गाथा पर व्याख्यान देते हुए गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व यह निर्जरा तत्त्व की बात है। जिसने सर्वप्रथम सच्चे देव-गुरु की श्रद्धा की तथा बाद में उनसे भी राग छोड़कर आत्मा की श्रद्धा, अनुभूति तथा लीनता की, उसे निर्जरा होती है। इच्छा का निरोध तप है, किन्तु वह इच्छा निरोध विकार रहित शुद्ध चैतन्य स्वभाव के आश्रय से होता है। उस शुद्ध आत्मा के आश्रय से जो शुद्ध उपयोग होता है, वह भावनिर्जरा है तथा चिदानन्द शान्त स्वरूप आत्मा के आश्रय से शान्ति प्रगट होने पर जो पुराने कर्म खिर जाते हैं वह कर्मों का खिर जाना द्रव्य निर्जरा है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में मुख्य बात यह कही कि ह्व निर्जरा का मुख्य हेतु संवरपूर्वक आत्मा का ध्यान करना है, जोकि सर्वप्रथम सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु के यथार्थ श्रद्धापूर्वक होता है, कालान्तर में देव-शास्त्र-गुरु पर से उपयोग हटकर आत्मानुभूति करता है, उसे आत्मलीन होने से कर्मों की निर्जरा होती है। यही निर्जरा का क्रम है, जो ज्ञानी को परम्परा मुक्ति का कारण बनता है।

( 226 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. २१०, दि. १९-५-५२, गाथा-१४५, पृष्ठ-१७०३



## गाथा - १४६

विगत गाथा में द्रव्य एवं भाव निर्जरा के मुख्य कारण बताये हैं?

अब प्रस्तुत गाथा में ध्यान के स्वरूप का कथन करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।

तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायदे अगणी॥१४६॥

(हरिगीत)

नहिं राग-द्वेष-विमोह अरु नहिं योग सेवन है जिसे।

प्रगटी शुभाशुभ दहन को, निज ध्यानमय अग्नि उसे॥१४६॥

जिसे मोह और राग-द्वेष नहीं हैं तथा योगों का सेवन नहीं है अर्थात् मन-वचन-काय के प्रति उपेक्षा है, उसे शुभाशुभ को जलानेवाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव टीका में सविस्तार कहते हैं कि ह “शुद्धस्वरूप में अविचलित चैतन्य परिणति ही यथार्थ ध्यान है। ध्यान प्रगट होने की विधि यह है कि ह जब ध्यानकर्ता दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय का विपाक होने से उस विपाक को अपने से भिन्न अचेतन कर्मों में समेट कर, तदनुसार परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके अर्थात् उस विपाक के अनुरूप परिणमन में से उपयोग को निवर्तन करके मोही, रागी और द्वेषी न होनेवाले उपयोग को शुद्ध आत्मा में ही निष्कम्परूप से लीन करता है, तब उस योगी को ह जो कि अपने निष्क्रिय चैतन्य स्वरूप में विश्रान्त है, मन-वचन-काय को नहीं ध्याता, मन-वचन-काय का अनुभव नहीं करता और स्वकर्मों में व्यापार नहीं करता

उसे सकल शुभाशुभ कर्म रूप ईंधन को जलाने में समर्थ अग्निसमान परम पुरुषार्थ रूप ध्यान प्रगट होता है। अतः अन्य की तो बात ही क्या करें, यहाँ तो कहते हैं कि शास्त्रों में भी अधिक नहीं उलझना चाहिए।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी अपनी काव्यभाषा में कहते हैं ह

(दोहा )

राग-दोष नहिं मोह फुनि, जोग नहिं अस जास ।

ध्यान-अगनि करि तासकै, करम सुभासुभ नास॥१४३॥

( सवैया इकतीसा )

जाही समै जोगी-जीव दर्सन-ज्ञान-चारित्र,

कर्म कै विपाक सबै न्यारा रूप करता ।

राग-दोष-मोह तीनों इनकौ अभाव कीनौ,

सुद्ध ग्यान रूप आपा आप माहिं परता ॥

ताही समै काय-वाचा-मन सौं निराला आप,

चेतना अचल रूप कर्म नाहिं वरता ।

तातैं पुरुषार्थ-सिद्ध-साधक है ध्यान-वह्नि,

पुरा कर्म दाहि दाहि सुद्ध रूप धरता॥१४४॥

(दोहा )

सुद्ध-सरूप विषै अचल चेतनता सो ध्यान ।

यातैं आतम-लाभ का कारण रूप निदान॥१४५॥

कवि हीरानन्दजी उक्त काव्यों में कहते हैं कि ह जिनके राग-द्वेष व मोह नहीं है तथा योगों का सेवन नहीं हैं अर्थात् मन-वचन-काय के प्रति उपेक्षा है, उनके शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है। उससे वे जीवों के राग-द्वेष-मोह ह तीनों का अभाव करके तथा भेदज्ञान द्वारा दर्शन ज्ञान चारित्र को प्राप्त कर मन-वचन-काय से भिन्न करके ध्यानरूपी अग्नि से पुराने कर्मों को नष्ट करते हैं, उनके कर्मों की निर्जरा होती है।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “जिन जीवों के राग-द्वेष-मोह नहीं है तथा तीन योगों का परिणमन नहीं है, उन जीवों को शुभाशुभ भावों का नाश करने वाली ध्यान स्वरूप अग्नि प्रगट हो जाती है। जो जीव अपने ज्ञान स्वरूप में एकाग्र होकर राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करते, उनके शुभाशुभ भावों का नाश हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि ह्व जो जीव परमात्म स्वरूप में अडोल हैं, वे जीव ध्यान करने वाले हैं। जिनका उपयोग शुभाशुभ भाव में नहीं जाता, परमात्मा स्वभाव में स्थिर हो गया है, उसे धर्म होता है।

जब स्वरूप में एकाग्रता करने वाले संत-मुनि अनादिकालीन मिथ्या वासना का अभाव करके अपने स्वरूप में आते हैं, तब उन्हें ध्यान होता है। सम्यग्दर्शन होते ही निर्जरा प्रारंभ हो जाती है। मुनियों को विशेष निर्जरा होती है।

इसप्रकार जो जीव आत्मा का श्रद्धानज्ञान करके मोह-राग-द्वेष रहित शुद्ध स्वरूप में निष्कम्प रूप से स्थिरता करते हैं, उन भेद विज्ञानी ध्यानी को स्वरूप साधक पुरुषार्थ का परम उपाय रूप ध्यान उत्पन्न होता है। ऐसे ध्यान से निर्जरा होती है।<sup>१</sup>”

उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन से यह फलित होता है कि - जिन जीवों के तत्त्वज्ञान के अभ्यास से ज्यों-ज्यों मोह-राग-द्वेष क्रम होते जाते हैं उनके अपनी भूमिकानुसार धर्मध्यान होने लगता है। वैसे तो सम्यग्दर्शन होते ही निर्जरा होने लगती है, किन्तु मुनि भूमिका में आत्मध्यान की स्थिरता विशेष होने से विशेष निर्जरा होती है।



( 228 )

१. श्रीगुरु प्रवचन प्रसाद नं. २१०, दि. १९-५-५२, पृष्ठ-१९५२

## गाथा - १४७

विगत गाथा में ध्यान के स्वरूप का कथन किया।

अब प्रस्तुत गाथा में बंध पदार्थ का व्याख्यान करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।**

**सो तेण हवदि बद्धो पोग्गलकम्मेण विविहेण॥१४७॥**

(हरिगीत)

आत्मा यदि मलिन हो, करता शुभाशुभ भाव को।

तो विविध पुद्गल कर्म द्वारा, प्राप्त होता बन्ध को॥१४७॥

यदि आत्मा रक्त (विकारी) वर्तता हुआ उदित शुभाशुभ भावों को करता है तो वह आत्मा उन भावों उन भावों के निमित्त से विविध पुद्गल कर्मों से बद्ध होता है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्र देव टीका में कहते हैं कि ह्व “यदि वास्तव में यह आत्मा अन्य के (पुद्गल कर्म के) आश्रय से अनादिकाल से रक्त रहकर कर्मोदय के प्रभाव सहित वर्तने से प्रगट होनेवाले शुभ या अशुभ भाव को करता है, तो वह आत्मा उस निमित्त भूत भाव द्वारा विविध पुद्गल कर्मों से बद्ध होता है। इसलिए यहाँ ऐसा कहा है कि ह्व मोह-राग-द्वेष द्वारा स्निग्ध जीव के शुभ या अशुभ परिणाम भावबन्ध हैं तथा उन शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से शुभ-अशुभ कर्म रूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ अन्योन्य अवगाहन द्रव्यकर्म है।”

इसी भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्व

(दोहा )

उदित शुभाशुभ भाव कौं, करे सरागी जीव।

तिसही करि नूतन बंधे, पुद्गल कर्म सदीव॥१५६॥

( सवैया इकतीसा )

आत्मा अनादि-रागी, परभाव पागी तातैं,  
 औदयिकभाव मांहि नवा भाव धारै है ।  
 ताही भाव-कारन तैं पुगल विविध कर्म,  
 एकमेव रूप होइ बंधन समारै है ॥  
 तातैं राग-दोस-मोह-चिकनाई भावबंध,  
 कारण निमित्त रूप लोककाज सारै है ।  
 कर्मरूप पुगल औ जीवदेस एकमेक,  
 द्रव्य बंध सोइ लसै ज्ञानी भेद पारै है ॥१५७॥

कवि उक्त पद्यों में कहते हैं कि ह सरागी जीव जो शुभाशुभ भाव करता है, उनका निमित्त पाकर द्रव्यकर्मों का बंध होता है ।

आत्मा अनादि से रागी हआ परभावों में रचता-पचता है, इसकारण औदयिक भावों में नये भाव धारण करता है । उन भावों के कारण से विविध पौद्गलिक कर्म आत्मा से एक-मेक होकर बंधते हैं । फिर उनसे मोह-राग-द्वेष रूप होकर भाव कर्म बंधते हैं । उस भावबंध से कर्मरूप पुद्गल बंधते हैं, फिर दोनों एकमेक होकर कर्म प्रक्रिया चलती है । ज्ञानी दोनों के भेद को जानकर समता रखते हैं ।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपने व्याख्यान<sup>१</sup> में कहते हैं कि ह “आत्मा ज्ञान स्वभावी है, उससे चूककर जो अज्ञान भाव से पुण्य-पाप एवं राग-द्वेष रूप भाव होते हैं वे भाव बन्ध हैं, विकार परिणाम हैं । उनके निमित्त से जो जड़ कर्म बंधते हैं, वे द्रव्यकर्म हैं । ज्ञानी दोनों यथार्थ जानता है ।”

तात्पर्य यह है कि ह आत्मा अनादि अविद्या के कारण पर के सम्बन्ध से मोही होता है तथा कर्म के उदय के निमित्त से शुभाशुभभाव करता है ।

यद्यपि जीव एवं कर्म के बीच अत्यन्ताभाव है; किन्तु अपने स्वभाव को चूककर पर में सजग हुआ तथा निमित्ताधीन होकर जीव जो रागादि भाव करता है, वह भावबंध है । ज्ञानी दोनों को यथार्थ जानता है ।

( 229 )

गाथा - १४८

विगत गाथा में द्रव्यबंध एवं भाव का स्वरूप समझाया ।  
 अब इस गाथा में बंध के बहिरंग एवं अंतरंग का स्वरूप कहते हैं ।  
 मूल गाथा इसप्रकार है ह  
**जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।  
 भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥१४८॥**  
 (हरिगीत)

है योग हेतुक कर्म आस्रव, योग तन-मन जनित है ।

है भाव हेतुक बन्ध अर भाव रतिरुष सहित है ॥१४८॥

कर्मग्रहण का निमित्त योग है । योग मन-वचन-काय जनित हैं । बंध का निमित्त भाव है; भाव राग-द्वेष-मोह से युक्त आत्म परिणाम है ।

आचार्य अमृतचन्द्र देव टीका में कहते हैं कि ह “कर्म पुद्गलों का जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में स्थित होना बंध है, उसका निमित्त योग है । योग अर्थात् मन-योग-वचन योग व काय योग ह ये कर्मबंध में निमित्त हैं । भावार्थ यह है कि ह कर्मबंध पर्याय के चार प्रकार हैं ह प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध । इनमें स्थिति अनुभाग ही विशेष हैं, प्रकृति प्रदेश गौण हैं; क्योंकि स्थिति-अनुभाग के बिना कर्मबंध पर्याय नाममात्र ही रहता है । इसलिए यहाँ प्रकृति-प्रदेशबंध का मात्र ‘ग्रहण’ शब्द से कथन किया है । और स्थिति-अनुभाग बन्ध का ही ‘बंध’ शब्द से कथन है ।

इसी के भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहा है ह

(दोहा )

कर्म ग्रहण है जोग करि, जोग वचन-मन-काय ।

भाव-हेतु थिति बंध है, रागादिक उपजाय ॥१५९॥

( सवैया इकतीसा )

काय-बाक-मनो रूप बरगनावलंबी है,

आतम-प्रदेस बंध जोग नाम कहना ।

तिनका निमित्त पाय कर्मपुंज आवै धाय,

आतम-प्रदेस विषै एकमेव गहना ॥

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ११२, दिनांक २१-५-५२, पृष्ठ-१९०८

राग-दौष-मोह रूप जीव-भाव कारन तैं,  
 थिति का प्रबन्ध होइ जेता काल रहना ।  
 बहिरंग-हेतु जोग अंतरंग जीवभाव,  
 दौनौ कै पिछानै सेती, कर्मपुंज दहना ॥१६० ॥  
 (दोहा )

आप भूल की भूल तैं, भूला सब संसार ।

भूलि भूल जब लखि परा, तब पाया भवपार ॥१६१ ॥

कवि कहते हैं कि ह् द्रव्य कर्मों का ग्रहण योगों से होता है तथा योग मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप है । ये भाव कर्म हेतु हैं । भावकर्म रागादि की उत्पत्ति रूप हैं । उनका निमित्त पाकर पुनः कर्म वर्गणायें आती हैं और आत्मा के प्रदेशों के साथ बंध जाती हैं । आत्मा के राग-द्वेष-मोह उनमें कारण होते हैं, उनसे स्थिति बंध होता है । इसप्रकार कर्मबंध में बहिरंग हेतु तथा अन्तरंग में हेतु जीव के भाव होते हैं । दोनों की यथार्थ पहचान से कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपने प्रवचन में कहते हैं कि ह् “जड़ कर्म अपनी योग्यता से बंधते हैं, उस बंध के दो कारण हैं ह् (१) अंतरंग कारण (२) बहिरंग कारण । योग को बहिरंग कारण कहते हैं तथा राग-द्वेष-मोह को अन्तरंग कारण कहते हैं । आत्मा के प्रदेशों का कम्पन योग है, उसमें मन-वचन-काय निमित्त हैं । वे योग नवीन कर्मों के आने में बहिरंग निमित्त कारण हैं तथा मोह-राग-द्वेष नवीन कर्मों के आने में अंतरंग कारण हैं । यद्यपि दोनों का कार्य भिन्न-भिन्न है ।

योग का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म जीव के प्रदेशों में परस्पर एक क्षेत्रावगाहने ग्रहण होते हैं । वहाँ योग बहिरंग कारण है तथा मोह-राग-द्वेष अंतरंग कारण है । परवस्तु अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है, किन्तु ‘यह वस्तु अनुकूल है तथा वह वस्तु प्रतिकूल है ह् ऐसा मोह-राग-द्वेष भाव बंध है और यह राग-द्वेष, मोह द्रव्य कर्मबंध का अन्तरंग कारण है ।’

इसप्रकार द्रव्य कर्मबंध के अन्तरंग बहिरंग कारणों की चर्चा हुई । ●

## गाथा - १४९

विगत गाथा में बंध के अंतरंग-बहिरंग कारणों का कथन किया । अब प्रस्तुत गाथा में मिथ्यात्वादि द्रव्य पर्यायों को भी बंध के बहिरंग कारणपने का कथन करते हैं । मूल गाथा इसप्रकार है ह्  
 हेदू चदुव्वियप्पो अट्टुवियप्पस्स कारणं भणिदं ।  
 तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१४९ ॥  
 (हरिगीत)

प्रकृति प्रदेश आदि चतुर्विधि कर्म के कारण कहे ।

रागादि कारण उन्हें भी, रागादि बिन वे ना बंधे ॥१४९ ॥

द्रव्य मिथ्यात्व आदि चार प्रकार के हेतु जो आठ प्रकार के कर्मों के कारण कहे गये हैं; उनमें भी जीव के रागादि भाव कारण हैं; उन रागादि भावों के अभाव में जीव नहीं बंधते ।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव टीका में कहते हैं कि ह् “यह मिथ्यात्वादि द्रव्य पर्यायों को भी बहिरंग कारणपने का प्रकाशन है । अन्य शास्त्रों में भी मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ह् इन चार प्रकार के द्रव्य हेतुओं को अर्थात् द्रव्य प्रत्ययों को आठ प्रकार के कर्मों के हेतु से बंध के हेतु कहे गये हैं, उन्हें भी रागादिक हैं; क्योंकि रागादि भावों का अभाव होने से द्रव्य मिथ्यात्व, द्रव्य असंयम, द्रव्य कषाय और द्रव्य योग के सद्भाव में भी जीव बंधते नहीं हैं । इसलिए रागादि भावों का अंतरंग हेतुपना होने के कारण निश्चय से बंध हेतुपना है ।

कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्

(दोहा )

अष्ट करम-कारण कह्या, हेतु चारि परकार ।

तिन कारण रागादि हैं, इन विन बंध निवार ॥१६२ ॥

( सवैया इकतीसा )

आठ कर्म कारन है मिथ्या आदि चारि भेद,

ताका फुनि और हेतु राग आदि जानना ।

रागादिक भाव बिना कर्मबन्ध होई नाहिं,

मिथ्या आदि उदै हेतु बाहर का मानना ॥

तातैं राग-दोष-मोह अंतरंग कारन है,  
निहचै सौ बंध हेतु इनही कौं ठानना ।  
इनकै अभाव सेती मोख का स्वभाव सधै,  
काललब्धि आये सेती इनका पिछानना॥१६३॥

यहाँ कवि कहते हैं कि मिथ्यात्व आदि पुराने द्रव्यकर्म नवीन द्रव्य कर्म बंध में कारण होते हैं, इनके निमित्त से जीव में मोह-राग-द्वेष होते हैं। रागादि के बिना कर्म बंध नहीं होते, इसकारण राग-द्वेष-मोह ही बंध के अन्तरंग कारण कहे गये हैं, इनके अभाव से मोक्ष की साधना होती है, काललब्धि आने पर इन सबकी पहचान स्वतः हो जाती है।”

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह “पुराने द्रव्यकर्म (द्रव्य मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग) ये चारों द्रव्यकर्म नवीन आठ प्रकार के कर्मबंध में निमित्त कारण होते हैं। चारों द्रव्य प्रत्ययों के निमित्त कारण से जीव के मोह राग-द्वेषादि विभावभाव होते हैं। यदि जीव के विभाव भाव न हों तो पुराने कर्म के उदय को निमित्त नहीं कहते। मोह-राग-द्वेष के निमित्त से ही नवीन कर्मों का बंध होता है तथा उनका विनाश होने से नये कर्म नहीं बंधते हैं।

जीव जब अपने स्वभाव से चूककर पर में सुखबुद्धि करके मोह-राग-द्वेष करता है, उस समय उसे उस कारण पुराने जड़कर्मों का उदय नवीन कर्मों के आने में निमित्त कहलाते हैं। जब जीवों के उपादान की वैसी योग्यता होती है, तब तदनुकूल द्रव्यकर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है। वस्तुतः तो दोनों स्वतंत्र हैं। स्वतंत्र होते हुए दोनों में ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है।

जड़ नये कर्म वस्तुतः तो स्वयं की तत्समय की योग्यता से बंधते हैं, परन्तु जड़कर्म के आने में योगों का कम्पन होता है तथा राग-द्वेष भाव कर्म होते हैं।”

मिथ्यात्व, असंयम व कषाय हू ये तीनों मोहकर्म में आते हैं तथा योग नाम कर्म का भेद है। इसलिए पुराने मोहकर्म व नामकर्म का उदय नये ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में बहिरंग कारण हैं, ऐसा यहाँ बताया है। ●

१. श्रीमद् सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. २१२, दिनांक २१-५-५२, पृष्ठ-१७२१

## मोक्षपदार्थ का व्याख्यान

गाथा - १५०-१५१

विगत गाथा में मिथ्यात्वादि पर्यायों में द्रव्यकर्म को बहिरंग कारण बताया है।

अब प्रस्तुत गाथाओं में भाव मोक्ष का स्वरूप कहते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो ।  
आस्रवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो॥१५०॥  
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य ।  
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं॥१५१॥

(हरिगीत)

मोहादि हेतु अभाव से ज्ञानी निरास्रव नियम से।  
भावास्रवों के नाश से ही कर्म का आस्रव रुके॥१५०॥  
कर्म आस्रवरोध से सर्वत्र समदर्शी बने।  
इन्द्रिसुख से रहित अव्याबाध सुख को प्राप्त हों॥१५१॥

मोह, राग-द्वेषरूप हेतुओं का अभाव होने से ज्ञानी को नियम से आस्रव का निरोध होता है और आस्रव भाव के अभाव में कर्म का निरोध होता है तथा कर्मों का अभाव होने से वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होता हुआ इन्द्रियरहित, अव्याबाध अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द स्वामी टीका में कहते हैं कि ह “आस्रव का हेतु वास्तव में जीव का मोह-राग-द्वेष रूप भाव है। ज्ञानी के मोहादिक का अभाव होने से आस्रव भाव का अभाव होता है। आस्रव भाव का अभाव होने से कर्मों का अभाव होता है। कर्म का अभाव होने से सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता और अव्याबाध, अतीन्द्रिय अनन्त सुख होता है। यही जीवन्मुक्त नामक भाव मोक्ष है।



यहाँ जिस भाव का कथन करना है, वह भाव वास्तव में संसारी को अनादि काल से मोहनीय कर्म के उदय के कारण अशुद्ध है, द्रव्य कर्मास्रव का हेतु हैं; परन्तु वह ज्ञप्ति क्रिया रूप भाव ज्ञानी को मोह-राग-द्वेष परिणति की हानि को प्राप्त होता है, इसलिए उसको आस्रव भाव का निरोध होता है।

जिसे आस्रव भाव का निरोध हुआ है, उस ज्ञानी को मोह क्षय द्वारा अत्यन्त निर्विकारपना होने से जो अनादिकाल से अनन्त चैतन्य और अनंतवीर्य मुँदा (ढँका) हुआ था, वह ज्ञानी क्षीण मोह गुण स्थान में शुद्ध ज्ञप्ति क्रिया रूप से अन्तर्मुहूर्त व्यतीत करके युगपद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होने से कथंचित् कूटस्थ ज्ञान को प्राप्त करता है। इसप्रकार उसे ज्ञप्ति क्रिया के रूप में क्रम प्रवृत्ति का अभाव होने से भावकर्म का विनाश होता है। इसलिए कर्म का अभाव होने पर वह वास्तव में भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा इन्द्रिय व्यापार रहित, अव्याबाध अनन्त सुखवाला सदैव रहता है।

इसप्रकार यह भाव मोक्ष का स्वरूप है तथा द्रव्य मोक्ष का हेतुभूत परम संवर का स्वरूप है।

कवि हीरानन्दजी ने प्रस्तुत १५०-१५१ गाथाओं पर काव्य के रूप में जो लिखा है वह इसप्रकार है।

(दोहा )

आस्रव हेतु अभाव तैं, ग्यानी आस्रव रोध।

आस्रवबिन सब करम का, सहजै होई निरोध॥१६५॥

( सवैया इकतीसा )

संसारी अनादि मोहकर्म आवरित ग्यान,

क्रमरूप वर्तमान अविशुद्ध सगरा।

सोई राग-द्वेष-मोह भावरूप आस्रव है,

ग्यानी कै अभाव भये मिटे मोह झगरा॥

( 232 )

तातैं द्रव्य आस्रव का आसरा निराला भया,

ज्ञानदृष्टि आवरन घातकर्म सगरा।

सर्वग्यानी सर्वदर्शी इन्द्रिय रहित सुद्ध,

अव्याबाध सुख अनंत पावै मोक्ष नगरा॥१६७॥

(चौपाई )

आस्रव हेतु जीव के सारे राग-द्वेष अरु-मोह निवारै।

तिनकालसै अभाव सुहाया, ग्यानी जियकै जैन बताया॥१७०॥

तातैं भावास्रव जब भासा द्रव्यास्रव तब सहज विनासा।

जब कारण का भया निवारा, तब कारज का कौन सहारा॥१७१॥

जबहि करन अभाव कहावै, तब केवल पद सहजहिं पावै।

जिन सरवग्य सरवदरसी हैं, सुख अनन्त केवल परसी है॥१७२॥

(दोहा )

भेदग्यान सौं मुगति है, जुगति करौ किन कोई।

वस्तु भेद जाने ही मुगति कहाँ से होइ॥१७५॥

कवि हीरानन्द कहते हैं कि आस्रव के हेतुओं के अभाव के आस्रव का निरोध हो जाता है। आस्रव के अभाव से शेष सब कर्मों का भी सहजनरोध हो जाता है। संसारी जीव अनादिकाल से मोहकर्म से ढँके हैं, इससे वर्तमान में मलिन है। वही मोह राग-द्वेष भाव आस्रव है।

ज्ञानी के इनका अभाव होने से मोह का झगड़ा मिटाया है। इस कारण द्रव्य आस्रव का भी अभाव हो गया है। सब ज्ञान दृष्टि के आवरण के अभाव से सर्वज्ञान दर्शन और इन्द्रिय के विषयों से रहित होकर मुक्त होकर अव्याबाध सुख प्राप्त कर लेता है।

आस्रव के हेतुभूत समस्त मोह-राग-द्वेष का तीनों काल के निवारण कर ज्ञानी होता है। इसप्रकार भावास्रव व द्रव्यास्रव का विनाश कर किया।

जब कारणों का ही अभाव हो गया तो कार्य कहाँ से/कैसे होगा। इस तरह वह ज्ञानी जीव सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी और अनन्त सुखी हो जाता है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व “आत्मा शुद्ध चैतन्य मूर्ति



अनादि अनन्त है, उसके ज्ञान से चूककर रागादि विकार करना संसार का कारण है तथा उस विकार का अभाव करके पूर्ण शुद्धदशा प्रगट करना मोक्ष है। शरीर को अपना मानना तथा पुण्य-पाप के भाव जो दुःखदायक हैं, संसार के कारण हैं, उन्हें हितरूप मानना भ्रान्ति है। अनुकूल वस्तुओं में राग करना अज्ञान है।

अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि ह्व शरीर की अवस्था मुझसे हुई है, पुण्य का भाव हितरूप है, ऐसा मानकर राग करता है। आत्मा देह से भिन्न तत्त्व है तो भी अज्ञानी ऐसा मानता है कि ह्व देह नीरोग स्वस्थ हो तो ही धर्म हो सकता है। वस्तुतः परपदार्थ आत्मा के नहीं हैं। वे परपदार्थ तो ज्ञानी के ज्ञेय मात्र हैं। ऐसे अपने अन्तर स्वभाव में स्थिर हो जाय तो आस्रव नहीं होता तथा आते हुए कर्म भी रुक जाते हैं। कर्मों का सर्वथा नाश होने पर निरावरण सर्वज्ञ पद प्रगट हो जाता है।<sup>१</sup>

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है। यदि वह राग-द्वेष में अटके तो संसार सागर में डूबता है और यदि आत्मा अपने चैतन्यस्वभावी शुद्ध आत्मा में एकाग्रता करता है तो निर्मोही होकर केवलज्ञानी होता है।

जिनके राग होता है, उनका ज्ञानोपयोग क्रमशः होता है तथा केवलज्ञानी का ज्ञान समस्त लोकालोक को (स्व-पर) को एक साथ जानता है। यहाँ मोक्षतत्त्व की बात बता रहे हैं। अतः कहते हैं कि जो मोक्ष में उपयोग को क्रमशः होता हुआ मानता है, उसका वह मानना ठीक नहीं है; क्योंकि केवली भगवान को ज्ञान क्रिया की प्रवृत्ति क्रमशः नहीं होती, सर्वज्ञ-अक्रम से एकसाथ समस्त लोकालोक जानते-देखते हैं।<sup>२</sup>”

इसप्रकार उक्त गाथाओं में कहा है कि - मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से ज्ञानी को नियम से आस्रव का निरोध होता है और आस्रव के अभाव में कर्मों का निरोध होता है तथा कर्मों का अभाव होने से जीव सर्वज्ञ हो जाता है, इन्द्रिय ज्ञान से रहित अव्याबाध और अनन्त सुख को प्राप्त करता है। ●

१-२. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. २१४ एवं २१६, दि. २३-५-५२, पृष्ठ-१७२५, १७३०

## गाथा - १५२

विगत गाथाओं में द्रव्यमोक्ष एवं भावमोक्ष के संदर्भ में मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान हुआ।

अब प्रस्तुत गाथा में निर्जरा के कारणभूत ध्यान का कथन करते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**दंसणणाणसमगं ज्ञाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं ।**

**जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१५२॥**

(हरिगीत)

**ज्ञान दर्शन पूर्ण अर परद्रव्य विरहित ध्यान जो।**

**वह निर्जरा का हेतु है निजभाव परिणत जीव को ॥१५२॥**

स्वभाव सहित साधु को अर्थात् स्वभाव परिणत केवली भगवान को दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य से असंयुक्त ध्यान निर्जरा का हेतु होता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव टीका में कहते हैं कि यह द्रव्यकर्म मोक्ष के हेतुभूत ऐसी परम-निर्जरा के कारणभूत ध्यान का कथन है।

वस्तुतः यह भावमुक्त (भाव मोक्षवाले) भगवान केवली के स्वरूप तृप्तपने के कारण जिनकी कर्म विपाक कृत सुख-दुःखरूप स्थिति समाप्त हो गई है, उनके कर्मकृत आवरण समाप्त होने के कारण तथा अनन्त ज्ञान-दर्शन से सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञानचेतनापने कारण और अतीन्द्रिय सुख प्राप्त हो जाने से जो अन्य द्रव्य के संयोग से रहित हैं और शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यवृत्ति रूप होने के कारण जो कथंचित् ध्यान नाम के योग्य हैं, ऐसा आत्मा स्वरूप पूर्व संचित कर्मों की शक्ति क्षीण होने के कारण अथवा का नाश हो जाने के कारण निर्जरा के हेतुरूप से वर्णन किया जाता है।

सारांश यह है कि ह्व केवली भगवान के आत्मा की दशा ज्ञानावरण

एवं दर्शनावरण के क्षयवाली होने के कारण, शुद्ध ज्ञानचेतनामय होने से तथा इन्द्रिय व्यापारादि बर्हिद्रव्य के अवलम्बन रहित होने से अन्य द्रव्य के संसर्ग रहित है और शुद्ध स्वरूप में निश्चल चैतन्य परिणति रूप होने से किसी प्रकार 'ध्यान' नाम के योग्य है। उनकी ऐसी आत्मदशा का निर्जरा रूप से वर्णन किया जाता है; क्योंकि उन्हें पूर्वोपार्जित कर्मों की शक्ति हीन होती जाती है तथा वे कर्म खिरते जाते हैं।

(दोहा )

आन दरब संयुक्त नहिं, दृष्टि ज्ञानयुत ध्यान ।  
भाव सहित मुनिराज काँ, निर्जर हेतु बखान ॥१७६ ॥

( सवैया इकतीसा )

भावमुक्त भगवान केवली स्वरूप तृप्त,  
तातैं सुख-दुख-कर्म विक्रिया की समता ।  
खीन आवरन तातैं ग्यान-दर्सन समूह,  
चेतना ममत्व आन द्रव्य नाहिं गमता ॥  
सुद्ध रूप विषै अविचलित चेतना तातैं,  
ध्यान नाम पावै सदा आप रूप रमता ।  
पूर्व कर्म-सक्ति नासै निर्जरा सरूप भासै,  
तातैं द्रव्यमोख पावै, रहै न लोक ममता ॥१७७ ॥

(दोहा )

दरब मोख का हेतु है, परम निर्जरा हेतु ।  
ध्यान नाम तातैं कहा, पुरुषार्थ संकेत ॥१७८ ॥

उपर्युक्त दोहे में कहा है कि "जो अन्य द्रव्यों से संयुक्त नहीं है, ऐसे मुनिराजों के अर्थात् सर्वज्ञदेव के सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित एवं अन्यद्रव्य के ध्यान से रहित जो आत्मध्यान होता है वह निर्जरा का कारण है।

सवैया इकतीसा में इसी की पुष्टि में कहते हैं कि भावयुक्त केवली भगवान का आवरण क्षीण हो गया है, इसकारण चेतना का ममत्व पर में नहीं रहा। शुद्धस्वरूप में ही अविचल चेतना है, इसलिए अपने में रमणता

का नाम ही ध्यान कहा जाता है। इससे अघातिया कर्मों की शक्ति भी होती जाती है, द्रव्य निर्जरा के साथ द्रव्य मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। इसप्रकार उनका आत्मध्यान द्रव्य मोक्ष एवं परम निर्जरा का हेतु होता है।

अब गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह "आत्मा अखण्ड परिपूर्ण शुद्ध चैतन्य है। उसका सामान्य से देखना दर्शन है तथा विशेष जानना ज्ञान है। सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान दर्शन में एक साथ परिपूर्णता है। दर्शन ज्ञान में अपूर्णता नहीं है। भगवान के अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए हैं। इसकारण उनको परद्रव्य की चिन्ता के निरोध रूप परम ध्यान होता है तथा वह ध्यान चार अघाती कर्मों की निर्जरा का कारण है। स्वरूप अनुभव की अपेक्षा से केवली भगवान को उपचार से ध्यान कहा है। पूर्व में बंधे कर्म समय-समय पर खिरते जाते हैं, इस अपेक्षा से उनके ध्यान को निर्जरा का कारण होता है ह ऐसा कहते हैं।

अरहंत परमेश्वर अपने अखण्ड चैतन्य स्वरूप में प्रवर्तते हैं। भेद किये बिना निर्विकल्प रस का अनुभव करते हैं। इस कारण से कथंचित् प्रकार से वे अपने स्वरूप के ध्यानी हैं। ऐसा उपचार से कहा जाता है।

इसप्रकार जब आत्मा विकारी परिणाम से मुक्त होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब केवली भगवान अपने स्वरूप के आत्मिक सुख से तृप्त रहते हैं।<sup>१</sup>

इस तरह इस गाथा में यही कहा है कि - केवली भगवान अपने में समग्र रूप से एकाग्र होते हैं तथा पूर्वकर्म समयानुसार क्षय होते जाते हैं। जो अबतक अघाती कर्मों के निमित्त से अपने प्रतिजीवों गुणों में अशुद्धता थी, जब भगवान उसका भी नाश करते हैं, वह उनका द्रव्य मोक्ष है।

( 234 )

गाथा - १५३

विगत गाथा में द्रव्य निर्जरा के हेतुभूत तथा परम निर्जरा के कारणभूत परमध्यान का कथन किया गया।

अब प्रस्तुत गाथा में द्रव्यमोक्ष के स्वरूप का कथन है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।

ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो॥१५३॥

(हरिगीत)

जो सर्व संवर युक्त हैं अरु कर्म सब निर्जर करें।

वे रहित आयु वेदनीय और सर्व कर्म विमुक्त हैं॥१५३॥

जो संवर से युक्त है, ऐसा केवलज्ञानी जीव सर्व कर्मों की निर्जरा करता हुआ वेदनीय कर्म और आयुर्कर्म रहित होकर केवलज्ञानी सर्व कर्म पुद्गलों को एवं भव को छोड़ता है, वह उसका द्रव्य मोक्ष है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव टीका में कहते हैं कि यह द्रव्यमोक्ष के स्वरूप का कथन है।

“वास्तव में केवली भगवान को भाव मोक्ष होने पर परम संवर सिद्ध होने के कारण भावी कर्म परम्परा का निरोध होने पर, परम निर्जरा के कारणभूत ध्यान सिद्ध होने के कारण पहले की कर्म संतति की स्थिति कदाचित् वेदनी, नाम और गोत्र की स्थिति आयु कर्म से अधिक होने पर वह स्थिति घटकर आयुर्कर्म जितनी होने में केवली समुद्घात निमित्त बनता है। अपुनर्भव के लिए वह भव छूटने के समय होने वाला जो वेदनीय-आयु-नाम-गोत्र रूप कर्म पुद्गलों का जीव के साथ अत्यन्त वियोग होता है, वह द्रव्यमोक्ष है।”

कवि हीरानन्दजी काव्य में इसी बात को इसप्रकार कहते हैं।

(दोहा )

जो संवर संजुत्त है सरव करम निर्जरैइ।

आयु वेदना विगत सो, भवतजि मुकति करेइ॥१७९॥

( सवैया इकतीसा )

केवली जिनेसुर कै भाव मोख हुए सेती,

आगामी कर्मरोध पुरा कर्म भगरा।

ध्यान की प्रसिद्ध तातें निर्जरा सहज रूप,

पुराकर्म संतति का नास होइ सगरा॥

कोई एक जीव विषै समुद्घात होने तैं,

आयुमान रहै वेद-नाम-गोत-रगरा।

चौदह अजोगी अंत सर्व कर्म अन्त होइ,

सिद्ध थान पावै जीव मिटै लाग झगरा॥१८०॥

(दोहा )

दरब मोख की विधि कही सिवसिधिसाधन हार।

उपादेय सब कथन मैं, ग्यानी विषै त्रिकार॥१८२॥

कवि हीरानन्दजी के काव्यों का सारांश यह है कि ह जो संवर से सहित हैं, सब कर्मों की निर्जरा कर दी है, आयुर्कर्म, वेदनीय कर्म आदि आदि से रहित हो गये हैं वे सिद्ध जीव हैं।

केवली भगवान के मोक्ष होने पर आगामी कर्मों का निरोध तथा पुराने कर्मों का क्षय होता है, ध्यान की सिद्धि होने से सम्पूर्ण पुराने कर्मों की निर्जरा सहज होती है। किन्हीं जीवों को समुद्घात होने से शेष अघाती कर्म की निर्जरा हो जाती है और मोक्ष हो जाता है।”

इसप्रकार द्रव्य मोक्ष की विधि बताई। मोक्षमार्ग में रत्नत्रय की सब प्रक्रिया पूर्ण हुई।

ह • श्री मोक्ष पदार्थ व्याख्यान समाप्त • ह

( 235 )

१. नोट : इस १५३ गाथा पर गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का व्याख्यान उपलब्ध नहीं है।

## अथ मोक्षमार्ग प्रपञ्च चूलिका

गाथा - १५४

विगत गाथा में द्रव्य मोक्ष के स्वरूप का कथन है।

अब प्रस्तुत गाथा में मोक्षमार्ग के स्वरूप का कथन है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

जीवसहावं गाणं अप्पडिहददंसणं अणणमयं।

चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं॥१५४॥

(हरिगीत)

चेतन स्वभाव अनन्यमय निर्बाध दर्शन-ज्ञान है।

दृग ज्ञानस्थित अस्तित्व ही चारित्र जिनवर ने कहा॥१५५॥

जीव का स्वभाव अप्रतिहतदर्शन ज्ञानमय है, जोकि जीव से अनन्यमय है। उन ज्ञान-दर्शन में नियत अस्तित्वमय है और जो अनिन्दित है, उसे चारित्र कहा है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र कहते हैं कि ह यह मोक्षमार्ग के स्वरूप का कथन है। जीवस्वभाव में नियत चारित्र मोक्षमार्ग है। जीव स्वभाव वास्तव में ज्ञान-दर्शनमय हैं; क्योंकि वे ज्ञान-दर्शन जीव से अनन्य हैं। ज्ञान-दर्शन का जीव से अनन्यपना होने के कारण यह है कि वे विशेष चैतन्यमय दर्शन जीव से निष्पन्न हैं। अर्थात् जीव द्वारा ज्ञान-दर्शन रचे गये हैं।

अब कहते हैं कि ह जीव के स्वरूपभूत ज्ञान-दर्शन में स्थित (स्थित) जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप वृत्तिमय (होने रूप) अस्तित्व रागादि परिणाम के अभाव के कारण अनिन्दित है, वह चारित्र है, वही मोक्षमार्ग है।

संसारी जीवों में चारित्र दो प्रकार का है - १. स्वचारित्र २. पर चारित्र। स्वभाव में स्थित स्वचारित्र है और परभाव में स्थित परचारित्र है। स्वभाव में स्थित चारित्र अनिन्दित है। यह साक्षात् मोक्षमार्ग रूप है।

कवि हीरानन्दजी काव्य में उक्त गाथा भाव स्पष्ट करते हैं ह  
( सवैया इकतीसा )

सामानि-विसेष रूप चेतना स्वरूप जीव,

ग्यान-दृग दौनों भेद अजुत विचारना।

इनही में नियत है उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य,

वृत्तिरूप अस्तित्ताई राग आदि टारना॥

क्रम तैं अनिन्दित है चारित अमंद रूप,

मोख पंथ नीका लसै आप मैं निहारना।

याही पंथ मोखपंथी गये हैं गिरंथी कहै,

अब भी जो जाया चाहै ताकौ इहै धारना॥१८५॥

कवि कहते हैं कि जीव की चेतना के दो प्रकार हैं - १. सामान्य २. विशेष। दोनों को दर्शन-ज्ञान के रूप में जानना। इनमें ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। जीव स्वभाव में नियत चारित्र ही मोक्षमार्ग है।

अब इसी गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह आत्मा शुद्ध स्वभावी है, उसे जीवतत्त्व मानना, पुण्य को विकार मानना, जड़ द्रव्यों के जड़ जानना ह इसप्रकार प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय जैसे हैं, वैसी पहचान करके जानना ह ऐसा ज्ञान का स्वभाव है।

‘यह जड़ है, यह चेतन है’ ह ऐसा भेद किए बिना सामान्यपने देखना दर्शन है तथा भेद करके जानना ज्ञान है। दोनों का एक नाम ‘चैतन्य’ है। वह जीव का असाधारण लक्षण है। जानना-देखना जीव का स्वभाव है। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति राग होना पाँच महाव्रत का राग होना आत्मा का असली स्वभाव नहीं है। जीव तो उनका भी ज्ञाता ही है। इसप्रकार निमित्त एवं पुण्य-पाप की रुचि छोड़े बिना तथा ज्ञान-दर्शन स्वभाव से आत्मा की दृष्टि हुए बिना धर्म नहीं होता।

जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा ही सर्वज्ञ ने देखा है, वही उनकी

दिव्यध्वनि में आया है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन एकरूप है। उस ज्ञान-दर्शन के स्वभाव में स्थिर रहना चारित्र है। विकार तो एक समय मात्र पर्याय में होता है, वह आत्मा त्रिकाली स्वभाव नहीं है। 'अरूपी आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है' ह्व ऐसी दृष्टि होना तथा ऐसा ही ज्ञान होना सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है तथा उसी में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। पाँच महाव्रत के परिणाम, २८ मूलगुण पालने के परिणाम चारित्र धारण करने की वृत्ति भूमिकासार होती अवश्य है; परन्तु ये शुभभाव हैं, ये राग हैं, वीतराग भावरूप सम्यक्चारित्र नहीं है।

जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा ही सर्वज्ञ ने देखा है, वही उनकी दिव्यध्वनि में आया है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शनमय एकरूप है। उस ज्ञान-दर्शन के स्वभाव में स्थिर रहना चारित्र है। विकार तो एक समय मात्र पर्याय में होता है, वह आत्मा त्रिकाली स्वभाव नहीं है। 'अरूपी आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है' ह्व ऐसी दृष्टि होना तथा ऐसा ही ज्ञान होना सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है तथा उसी में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। पाँच महाव्रत के परिणाम, २८ मूलगुण पालने के परिणाम चारित्र धारण करने की वृत्ति भूमिकानुसार होती अवश्य है; परन्तु ये शुभभाव हैं, ये राग हैं, वीतराग भाव रूप सम्यक्चारित्र नहीं है।<sup>१</sup>

इसप्रकार इस गाथा द्वारा जीव का स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान-दर्शनयुक्त बताया है तथा उसे जीव से अनन्यमय कहा है और जीव स्वभाव में नियत चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है। संसारी जीवों की अपेक्षा उस चारित्र के दो भेद हैं - (१) स्वचारित्र (२) परचारित्र। उसमें स्वभाव अवस्थित चारित्र व वस्तुतः परचारित्र से भिन्न होने के कारण अनिन्दित हैं। यही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

## गाथा - १५५

विगत गाथा में मोक्ष के स्वरूप का कथन किया गया है।

अब प्रस्तुत गाथा में मोक्षमार्ग के संदर्भ में स्व समय-परसमय का स्वरूप कहते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमओ।**

**जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो॥१५५॥**

(हरिगीत)

स्व समय स्वयं से नियत है पर भाव अनियत पर समय।

चेतन रहे जब स्वयं में तब कर्मबंधन पर विजय॥१५५॥

जीव द्रव्य स्वभाव से नियत (एकरूप) होने पर भी यदि अनियत (अनेकरूप) गुणपर्यायवाला हो तो 'परसमय' है। यदि वह नियत गुणपर्याय से परिणत होकर स्वयं को स्वसमय रूप करता है तो कर्मबंधन से छूटता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव टीका में कहते हैं कि ह्व स्वसमय के ग्रहण और परसमय के त्यागपूर्वक कर्मक्षय होता है। इस गाथा में ऐसे प्रतिपादन द्वारा ऐसा दर्शाया है कि ह्व "जीव स्वभाव में नियत चारित्र मोक्षमार्ग है।"

संसारी जीव द्रव्य अपेक्षा ज्ञान-दर्शन में स्थित (ज्ञानदर्शन वाले) होने पर भी जब अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करने के कारण अशुद्ध उपयोग वाला होता है तब भावों की अनेकरूपता ग्रहण होने के कारण अनियत (अनिश्चित) के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति को छोड़कर अत्यन्त शुद्ध उपयोग वाला होता है, तब भाव की एकरूपता ग्रहण होने से उसे जो एकरूप (नियत) गुणपर्यायपना होता है, वह स्वसमय-स्वचारित्र है।

अन्त में आचार्य कहते हैं कि ह्म वास्तव में यदि जीव किसी भी प्रकार सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट करके, परसमय को छोड़कर स्वसमय को ग्रहण करता है तो कर्मबंध से अवश्य छूटता है; इसलिए वास्तव में ऐसा निश्चित होता है कि ह्म जीव का स्वभाव में एकरूप होना मोक्षमार्ग है।”

इसी भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह्म

( सवैया इकतीसा )

संसारी जीवोंके ग्यान-दृग-गुन जो पै तौ पै,

मोहिनी अनादिवस राग-दोष वसता ।

तातैं नानारूप भाव गुन-परजायविषै,

परसमैरूप होइ पररूप लसता ॥

सोई मोह झारि एक सुद्ध उपयोग धारि,

कालजोग पाय आपविषै आप धसता ।

सुद्ध गुन-परजैमैं स्वसमय एकाकी है,

सोई मोखमारगमैं कर्मबंध नसता ॥१९३ ॥

( दोहा )

काल-लब्धि-बल पायकैं, सम्यक् ज्योति-उद्योत ।

पर समयाश्रित पर लसै, स्व-समय निजपद होत ॥१९४ ॥

कवि कहते हैं कि - संसारी जीवों के यद्यपि ज्ञान-दर्शन गुण हैं तथापि अनादि से मोह के वश होकर राग-द्वेष करते हैं इसकारण परसमय होकर नाना प्रकार से राग-द्वेष करता है। यदि जीव मोह को त्यागकर, शुद्धोपयोग धारण कर, काललब्धि आने पर स्वयं में रमण करें तो शुद्ध गुण-पर्याय रूप होकर एकाकी स्व-समय में स्थिर होकर मोक्षमार्ग में आ जाता है तथा कर्मबंध का नाश कर देता है। आगे कहते हैं कि - काललब्धि आने पर सम्यग्ज्ञान ज्योति के प्रकाश में पर-समय को त्याग कर स्व-समय में आकर निजपद को प्राप्त कर लेता है।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्म “यह आत्मा निश्चय से अपने शुद्ध आत्मिक भावों में निश्चल है। जिसतरह लैंडीपीपल में अव्यक्तरूप से चौसठपुटी चरपराहट है, किन्तु वह पीसने पर प्रगट होती है, उसीतरह आत्मा में अन्तर शक्ति रूप में सुख-शान्ति भरी हुई है; किन्तु पर की ओर झुकाव होने से उसकी शान्ति बाहर व्यक्तरूप से दिखाई नहीं देती। गुण-गुणी अभेद हैं। सब आत्मार्थें अपने स्वभाव में निश्चल हैं तथा ज्ञानादि गुणों से भरपूर हैं; किन्तु अनादि से जीव को अज्ञान की वासना है। अतः ऐसा मानता है कि दान देने से धर्म होता है, जबकि दान द्वारा धन की तृष्णा घटाने से पुण्य होता है। धर्म नहीं।

पुण्य-पाप दोनों विकार हैं। क्रोध-मान-माया लोभ का परिणाम १०४ डिग्री का बुखार जैसा है तथा दया-दानादि का शुभभाव ९९ डिग्री जैसा है। परन्तु दोनों रोग हैं। ९९ डिग्री का बुखार अधिक दिन रहे तो क्षयरोग हो जाता है। पुण्य-पाप रहित शुद्ध स्वभाव में स्थिर होना चारित्र है।

“मैं ज्ञायक हूँ, विकार मेरा स्वरूप नहीं है” ह्म ऐसा न मानकर अनादि से पर में उपयोग होने से पुण्य-पाप में लीन हो रहा है। तथा अभिमान करता है कि ‘मैं पर में फेर-फार कर सकता हूँ।’ उससे कहते हैं कि अपनी श्रद्धा का विषय पलट और ऐसा मान कि ‘मैं पर का कुछ भी नहीं कर सकता हूँ।’”

सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि - आत्मा का स्वभाव ज्ञानदर्शन है, उस स्वभाव में रमणता ही चारित्र है। संसारी जीव सम्यक् पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शनज्ञान सहित आत्मिक स्वरूप में जो आचरण करते हैं, वह चारित्र है। ऐसे चारित्र का पालन करने से जीव मुक्ति प्राप्त करता है।



## गाथा - १५६

विगत गाथा में स्व समय की मुख्यता से स्व समय, पर-समय की चर्चा की गई है। प्रस्तुत गाथा में पर-चारित्र में प्रवर्तन करने वाले जीवों की मुख्यता की बात करते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह

**जो परदव्वम्हि सुहं असुहं रागेण कुण्णदि जदि भावं।**

**सो सगचरित्तभट्टो परचरियचरो हवदि जीवो॥१५६॥**

(हरिगीत)

जो राग से पर द्रव्य में करते शुभाशुभ भाव हैं।

पर-चरित में लवलीन वे स्व-चरित्र से परिभ्रष्ट है॥१५६॥

जो जीव राग से पर द्रव्य में शुभ या अशुभ भाव में प्रवर्तन करते हैं, वे जीव स्वचारित्र से भ्रष्ट होकर पर चारित्र का आचरण करने वाले हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रजी अपनी टीका में कहते हैं कि ह “जो जीव वास्तव में मोहनीय कर्म के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति के वश होने के कारण राग रंजित उपयोग वाला वर्तता हुआ, पर द्रव्य में शुभ या अशुभ भाव को धारण करता है, वह जीव स्व-चारित्र से भ्रष्ट पर-चारित्र का आचरण करने वाला कहा जाता है; क्योंकि वास्तव में स्वद्रव्य में शुद्ध-उपयोगरूप परिणति स्वचारित्र है और परद्रव्य में विकारयुक्त हुई परिणति परचारित्र हैं।”

कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

मोहनीय-करम कै उदैवस वरती है,

जीव राज्यमान तातैं पर मैं मगनता।

सुभ औ असुभ भाव दौनौ का करैया लसै,

स्वचारित्र भ्रष्ट परचारित्र लगनता॥

निज द्रव्य विषै सुद्ध उपयोग निज सोई,

निज चरित नाम ताकै अपनी जगनता।

परद्रव्य विषै राग रंजित है परचारी,

मिथ्या रूढिकारी जौ पै धारी है नगनता॥१९७॥

(दोहा )

स्व चरित अस पर चरित की, निज लख जानी बात।

तिन आतम आतम लख्या, दरसन-मोह विलात॥१९८॥

कवि कहते हैं कि - मोहनीय कर्म के उदयवश जीव पर में लीन होता है। इस कारण पर में मग्न होता है। स्व-चारित्र से भ्रष्ट एवं पर-चारित्र में मग्न होकर शुभाशुभ भाव करता है। निजद्रव्य में लीनता से शुद्ध उपयोग होता है, परन्तु अज्ञानी परद्रव्य में रंजायमान होकर उठता है। वह भले बाहर में नग्न हो तो भी मिथ्या रूढिवादी है। जब स्व-चारित्र व पर-चारित्र का यर्थाथ ज्ञान होता है। अपना स्वरूप जानने से मोह नाश होता है।

इस गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “अविद्या रूपी डाकन ने अज्ञानी जीवों को ग्रसित कर लिया है। जो जीव चैतन्य स्वभाव को छोड़कर राग में एकाकार हो जाते हैं, उन्हें मोहरूपी चुड़ेल ग्रस लेती है। जो जीव दया दानादि भावों से धर्म का लाभ होना मानते हैं, उन्हें आचार्य नशा में गाफिल हुआ जैसा कहते हैं। व्रत, संयम, भक्तिभाव तथा पाँच इन्द्रियों के विषय-कषाय के भाव असत् भाव हैं। जो उन्हें करते हैं, वे जीव आत्मिक शुद्ध आचरण से रहित हैं तथा पर समय के आचरण वाले हैं।

वस्तुस्वरूप की दृष्टि बिना श्रद्धा एवं ज्ञान बिना जो व्रत-तप करते हैं, वे चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण किया करते हैं।”

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि ह जो अपने शुद्ध आत्मा के आचरण को भूलकर व्रत, तप तथा विषय-कषाय आदि का आचरण करते हैं, वे जीव आत्मिक शुद्ध आचरण से रहित हैं। वे पर-समय के आचरण वाले हैं, उन्हें शुद्धि नहीं होती। इसप्रकार इस गाथा में पर-चारित्ररूप पर-समय का स्वरूप कहा। ●

( 239 )

## गाथा - १५७

विगत गाथा में पर-चारित्र रूप पर समय का स्वरूप कहा है।  
अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि जो पर समय में प्रवर्तन करेगा, उसे  
बंध होगा। मूल गाथा इसप्रकार है ह

आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण ।  
सो तेण परचरित्तो हवदि त्ति जिणा परूवेत्ति ॥१५७॥  
(हरिगीत)

पुण्य एवं पाप आस्रव आत्म करे जिस भाव से।  
वह भाव है परचरित ऐसा कहा है जिन्देव ने ॥१५७॥  
जिस भाव से आत्मा को पुण्य-पाप आस्रवित होते हैं, उस भाव  
द्वारा वह जीव पर चारित्र है ह ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

आचार्य श्री अमृतचन्द टीका में कहते हैं कि ह “यहाँ पर चारित्रवृत्ति  
बंध का हेतु होने से, उसे मोक्षमार्गपने का निषेध किया है, अर्थात् पर  
चारित्रवृत्ति मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि वह बंध का हेतु है।

वास्तव में शुभरूप विकारी भाव पुण्यास्रव है और अशुभरूप  
विकारीभाव पापास्रव है। पुण्य या पाप जिस भाव से आस्रवित होते हैं।  
वह भाव जब जिस जीव को हो तब वह जीव उस भाव द्वारा पर-चारित्र  
है ह ऐसा प्ररूपित किया जाता है। इसलिए ऐसा निश्चित होता है कि ह  
परचारित्र में प्रवृत्ति बंध मार्ग ही है, मोक्षमार्ग नहीं।”

कवि हीरानन्दजी इसी भाव को काव्य में कहते हैं ह  
(दोहा )

पुण्य-पाप नित आस्रवै जा सुभाव करि लोड़ ।  
ता सुभाव करि जीव कै, पर चारितता होई ॥१९९॥

( 240 )

( सवैया इकतीसा )

जाही समै जीव विषैं सुभ उपराग होड़,  
ताही समै भावपुण्य आस्रव कहाई है ।  
ऐसैं ही पाप-उपराग पाप-आस्रव कहावै,  
पुण्य-पाप भाव सो तौ जीव में रहाई है ॥  
ता ही भावकरि जीव परचरित धारी है,  
तातैं पर की प्रवृत्ति बंधता लहाई है ।  
मोक्ष पंथ बाधक है भवरूप साधक है,  
ज्ञानी जीव जानि जानि आपतैं बहाई है ॥२००॥

कवि का कहना है कि - जिस भावों से जीव पुण्य-पाप रूप आस्रव  
करता है, उससे उसे पर-चारित्र होता है। शुभ उपराग से पुण्यबंध एवं  
अशुभराग से पापबंध होता। उस पर-प्रवृत्ति से बंध होता, जोकि मोक्ष  
पंथ का बाधक है और संसार का साधक है, ज्ञानी ऐसा जानते हैं, अतः  
वे मोक्षमार्ग में लगते हैं।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह “संसारी  
आत्मा में जो शुभाशुभ भाव होते हैं, वह अशुद्धोपयोग है। दया, दानादि  
के भावों से पुण्य के परमाणु आते हैं, हिंसा, झूठ, चोरी आदि से पाप के  
परमाणु आते हैं; वे सब अशुद्ध भाव हैं; वे अशुद्ध भाव परसमय का  
आचरण करनेवाले भाव हैं। स्वभाव से चूककर जो भी पर समय की  
प्रवृत्ति होती है, वह सब पर-चारित्र है। वह सब बंध का कारण है।

भावार्थ यह है कि यह बात भगवान ने कही है तथा शास्त्रों में लिखी है  
कि आत्मा का स्वभाव चूककर जो शुभभाव होता है, वह नये पुण्यबंध का  
कारण है तथा जो मिथ्यात्व व अशुभभाव होते हैं वे नये पुण्यबंध एवं पापबंध  
के कारण हैं। जिन भावों से पुण्य व पाप होते हैं व आस्रवभाव हैं।”

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि ह जो व्यक्ति पुण्य को भला मानता  
है, वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। वह अपने शुद्ध चिदानन्द स्वभाव को  
छोड़कर पुण्य-पाप भावों में आनन्द मानता है। पुण्य-पाप में रुचि रखता  
है और मानता है कि हम धर्म कर रहे हैं, जबकि यह भ्रान्ति है। ●

## गाथा - १५८

विगत गाथा में कहा है कि ह्व जो पुरुष परसमय में प्रवृत्ति करता है, उसे बंध होता है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व स्वसमय के आचरण वाला कौन है? मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

जो सव्वसंगमुक्को गण्णमणो अप्पणं सहावेण।

जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो॥१५८॥

(हरिगीत)

जो सर्व संगविमुक्त एवं अनन्य आत्मस्वभाव से।

जाने तथा देखे नियत रह उसे चारित्र है कहा॥१५८॥

जो सर्व संग से मुक्त और अनन्य मनवाला वर्तता हुआ अपने आत्मा को ज्ञान-दर्शन रूप स्वभाव द्वारा नियतरूप से (स्थिरतापूर्वक) जानता-देखता है, वह जीव स्वचारित्र आचरता है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी समय व्याख्या टीका में कहते हैं कि ह्व “यह स्वचारित्र में प्रवर्तन करने वाले के स्वरूप का कथन है।

जो जीव वास्तव में निरूपराग उपयोग वाला अर्थात् शुद्धउपयोग वाला होने के कारण सर्वसंग मुक्त वर्तता हुआ परद्रव्य से विमुख होने के कारण अनन्य मनवाला अर्थात् जिसकी परिणति अन्य के प्रति नहीं है ऐसा वर्तन करता हुआ आत्मा को अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव के द्वारा नियत रूप से अर्थात् अवस्थित रूप से जानता-देखता है, वह जीव वास्तव में स्वचारित्र आचरता है; क्योंकि वास्तव में आत्मा में सामान्य अवलोकन रूप से वर्तना स्व-चारित्र है।”

तात्पर्य यह है कि ह्व जो जीव शुद्धोपयोग में वर्तता है और जिसकी

परिणति पर की ओर नहीं जाती तथा आत्मा को स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन परिणाम द्वारा स्थिरतापूर्वक जानता-देखता है, वह जीव स्व-चारित्र का आचरण करनेवाला है; क्योंकि दर्शन-ज्ञान स्वरूप आत्मा में मात्र दर्शन ज्ञानरूप से परिणमित होकर रहना स्वचारित्र है।

कवि हीरानन्दजी उक्त कथन को काव्य में कहते हैं ह्व

(दोहा )

सकल संग परिहरण करि, एकपना जो आप।

जानै-देखै नियत सो, स्व-समय जीव-प्रताप॥२०२॥

( सवैया इकतीसा )

सुद्ध उपयोग जान्या सब संग मैल मान्या,

पररूप त्यागा आप रूप एक मनसा।

अपना सुभाव एक दृग ज्ञान रूप ताकाँ,

देखै जानै आन और देखै है सुपन सा॥

सोई स्वचारित्र चारी आप मैं विहारी जीव,

तिनही मोख जाने की कीनी है सुगमता।

तातैं दृग-ज्ञान-रूप आत्मा सरूप सारा,

चारित सुकीय धारा सुद्ध है गगन सा॥२०३॥

(दोहा )

दरसन ज्ञान सरूप मैं, आपरूप गत जीव।

सोई स्वचरित जानिए, स्व-समयरूप सदीव॥२०४॥

कवि हीरानन्दजी उक्त काव्यों में चारित्र का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि ह्व ज्ञानी जीव स्व-समय की श्रद्धा के प्रताप से जगत के मात्र ज्ञाता-दृष्टा रह जाते हैं तथा सकल परिग्रह का त्याग कर अपने एकत्व स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

( 241 )

अपने शुद्धोपयोग को अपना कर समस्त परिग्रह को मैल मानते हैं। पर का त्याग करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप अपने स्वभाव को

अपना कर अपने स्वरूप में ही रमते-जमते हैं और मोक्षमार्ग सुगम कर लेते हैं।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी उक्त गाथा पर प्रवचन करते हुए कहते हैं कि ह्व सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है, वह सम्यक्-दर्शन-ज्ञानपूर्वक होता है। मुनि अन्तरबाह्य परिग्रह से रहित होते हैं। निश्चय से स्वरूप की एकाग्रता ही चारित्र है।

आचार्य श्री जयसेन स्वामी अपनी टीका में लिखते हैं कि ह्व मुनि संग विमुक्त होते हैं। उनके तीनों कालों में तीन लोक के समस्त पदार्थों के प्रति उदासीनता रहती है। पाँचों पापों का मन-वचन-काय कृत-कारित अनुमोदना आदि नव प्रकार से त्याग रहता है। चैतन्य में से वीतरागता का आनन्द प्रवाहित होता है। आत्मा के प्रदेश-प्रदेश से आनन्द का अमृत झरता है। ऐसी मुनिदशा होती है। वे मुनि सहजानन्द का अनुभव करते हैं। इसी गाथा के विषय में पृष्ठ १७९० पर गुरुदेवश्री ने कहा है कि - शुभाशुभभाव से रहित अंतरंग में लीनता होना शुद्धभाव हैं। इसके पूर्व चैतन्य व जड़ के बीच भेदज्ञान होना चाहिए। ज्ञान स्वभावी आत्मा से जड़ पदार्थ छूटते ही नहीं है। संयोगी दृष्टि वालों को स्वभाव की प्रतीति नहीं होती, जबकि स्वभाव व रागादि विकार - दोनों भिन्न-भिन्न हैं - ऐसा नक्की हो तो धर्म होता है।<sup>१</sup>”

उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि ह्व आत्म स्वभाव में, निजगुण-पर्यायों में निश्चल स्वरूप का अनुभव करने वाले मुनियों को स्वसमय कहते हैं। इसी अवस्था का नाम स्व-चारित्र हैं। यही मुक्तिमार्ग है, अर्थात् इसी मार्ग से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

## गाथा - १५९

विगत गाथा में स्वचारित्र में प्रवर्तन करने वाले पुरुष का कथन है। प्रस्तुत गाथा में शुद्ध स्वचारित्र प्रवृत्ति के मार्ग का कथन है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**चरियं चरदि संगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा।  
दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो।।१५९।।**

(हरिगीत)

पर द्रव्य से जो विरत हो निजभाव में वर्तन करे।

गुणभेद से भी पार जो वह स्व-चरित को आचरे।।१५९।।

जो पर द्रव्यात्मक भावों से अर्थात् परद्रव्य रूप भावों से रहित स्वरूप में वर्तता हुआ अपने दर्शन-ज्ञान रूप आत्मा में अभेद रूप आचरण करता है, वह स्व-चारित्र आचरता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी टीका में कहते हैं कि यह शुद्ध स्व-चारित्र प्रवृत्ति के मार्ग का कथन है।

जो योगीन्द्र समस्त मोह समूह से बाहर होने के कारण परद्रव्य के स्वभावरूप भावों से रहित स्वरूप में वर्तते हैं तथा स्वद्रव्य के अभिमुख अनुसरण करते हुए निजस्वभाव रूप दर्शन-ज्ञान-भेद को भी आत्मा में अभेदरूप से आचरते हैं, वे ही वास्तव में स्व-चारित्र को आचरते हैं।

इसप्रकार शुद्ध पर्याय परिणत द्रव्य के आश्रित अभिन्न साध्य-साधन भाववाले निश्चयनय के आश्रय से मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है।

इसप्रकार शुद्ध पर्याय परिणत द्रव्य के आश्रित अभिन्न साध्य-साधन भाववाले निश्चयनय के आश्रय से मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है। तथा जो पहले १०७वीं गाथा में दर्शाया गया था, वह स्व-पर हेतुक पर्याय के आश्रित भिन्न साध्य-साधन भाववाले व्यवहारनय के आश्रय से अर्थात् व्यवहारनय की अपेक्षा से प्ररूपित किया गया था। इसमें परस्पर विरोध नहीं है; क्योंकि सुवर्ण और सुवर्ण पाषाण की भाँति निश्चय-

व्यवहार को साध्य-साधनपना है। इसीलिए परमेश्वरी तीर्थ प्रवर्तना दोनों नयों के आधीन है।”

इसी के भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

(दोहा )

स्व-चरित कौं जो आचरै, पर आपा नहिं जास।

दरसन ग्यान-विकल्पगत, अवकल्पी परकास।।२०५।।

( सवैया इकतीसा )

जाकै भेदज्ञान जग्या राग-दोष मोह भग्या,

सगरा सरूप भास्या पर कै भगर का।

विवहार-निहचै का रूप आपरूप जान्या,

जामैं भेद निरभेद दौनों की करम का।।

विवहार-निहचै का रूप आपरूप जान्या,

साधन अभेद साधि जामैं निरूपाधिरूप।

सोई स्वचरिती सुद्ध पन्थ का पथिक नीका,

तिनही पयान कीना मोख कै नगर का।।२०६।।

(दोहा )

साधन-साधि-विकल्पता, यहु कथनी विवहार।

निहचै एक अभिन्नता निरविकल्प अविचार।।२०७।।

कवि कहते हैं कि - जो स्व-चारित्र को आचरते हैं अर्थात् स्व में लीन रहते हैं तथा पर में अपनापन नहीं करते वे दर्शन-ज्ञान के भेद को भी भुलाकर अपने में निर्विकल्प हो जाते हैं।

आगे कहते हैं कि जिसके भेदज्ञान प्रगट हुआ तथा मोह-राग-द्वेष का अभाव हो गया, सम्पूर्ण स्वरूप भासित हो गया, निश्चय-व्यवहार के द्वारा अपना स्वरूप जान लिया। साधन-साध्य का कथन तो व्यवहार का विकल्प है। निश्चय से तो आत्मा निर्विकल्प है, साधन-साध्य का कथन तो व्यवहार का विकल्प है। निश्चय से तो आत्मा अपने अभिन्न है अर्थात् भेद रहित है - ऐसा चिन्तन ही मुक्ति का मार्ग है।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी कहते हैं कि ह्व जो पुरुष अपने स्वरूप का आचरण करते हैं वे दर्शन और ज्ञान अथवा निराकार व साकार अवस्था का भेद रहित अभेद रूप आचरण करते हैं। दर्शन का विषय अभेद है, इसलिए निराकार तथा ज्ञान भेद सहित जानता है, इसलिए साकार ह्व इस प्रकार दर्शन-ज्ञान को भेदरहित अभेदपने जानता है। वह भेद विज्ञानी परद्रव्य के अहं भाव से रहित है।

यह मुनियों के संदर्भ में बात है। मुनिराजों को वीतरागता का स्वसंवेदन मुख्य है। जोकि आकुलता रहित है।

छठवें गुणस्थान में मुनियों को महाव्रत आदि के विकल्प होते हुए भी उनको उस ओर की मुख्यता नहीं है। देखो! मुनिराजों को ऐसी प्रतीति तो हुई है कि गुण-गुणी अभेद हैं; किन्तु अपनी पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण देव-गुरुओं के प्रति प्रमोद आता है, परन्तु वे जानते हैं कि इस प्रमोद भाव से धर्म नहीं होता। धर्म तो वीतराग भाव ही हैं।

मुनिराजों को जैनधर्म की प्रभावना का विकल्प उठता है। कुन्दकुन्दाचार्य की शिष्य परम्परा में आचार्य जयसेन ने कहा है कि “जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा विधि का पाठ बताओ” देखो! मुनिराजों को भी मन्दिर के निर्वाण आदि का राग आता है, परन्तु उसकी मुख्यता नहीं होती।

**प्रश्न :**ह्व मुनि सर्व संगत्यागी हैं, तो फिर उन्हें मन्दिर बनवाने में राग कैसे आ सकता है? वे तो राग को अधर्म मानते हैं न?

**समाधान :**ह्व भाई मुनियों को अभी सम्पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति नहीं हुई, राग की भूमिका है। स्वद्रव्य में अभी छठवें गुणस्थान शुभ की भूमिका है, मन्दिर तो निमित्त मात्र है। स्वद्रव्य व परद्रव्य का कारण पाकर शुभराग की पर्याय उत्पन्न होती है।<sup>१</sup>”

इसप्रकार यहाँ कहा है कि मुनियों के यद्यपि निर्विकल्पता की ही मुख्यता; परन्तु यदा-कदा छठवें गुणस्थान में मन्दिर बनवाने जैसा शुभराग भी आ जाता है।

( 243 )



इसी के भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह  
(दोहा )

धर्मादिक में सुरुचि सो, सम्यक् श्रुत गत ज्ञान ।  
तपतैं चरजा चरित है, विवहारी सिब जान ॥२१० ॥

( सवैया इकतीसा )

छहों द्रव्य नवों पद-विषै श्रद्धा प्रीति रुचि,  
आपनी सुमुख होइ सम्यक् लखावना ।  
तत्वों की प्रतीति विषै रीत न्यारी-न्यारी लसै,  
सोई नाम ग्यान नाना रस का चखावना ॥  
परतैं विमुख आप विषै जो चरित नाम,  
नाना तप धारी मोहचारित नसावना ।  
सई तीनों विवहार निहचै स्वरूप साधै,  
विवहार मोख माहिं इनका रखावना ॥२११ ॥

कवि कहते हैं कि - छहद्रव्यों एवं नवतत्त्वों के स्वरूप की समझ एवं श्रद्धारूप धर्म में जो रुचि अर्थात् श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है। इन्हीं का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा आत्मा में स्थिरता सम्यक्चारित्र है। इसी क्रम में नाना तपों के द्वारा मोह का नाश होता है। यह सब व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा अभेद एक रूप निज आत्मा में स्थिरता ही निश्चय चारित्र है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने कहा कि - “छह द्रव्यों की श्रद्धा व्यवहार मोक्षमार्ग है। भगवान ने छह द्रव्य देखें हैं और उनकी दिव्यध्वनि में भी आये हैं। जिनधर्मी जीवों को आत्मा के आश्रय से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं, उन्हें रागरहित आत्मा की ऐसी प्रतीति होती है कि लोक में छह द्रव्य हैं और उनकी श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है। यद्यपि यह व्यवहार समकित शुभभाव है, पुण्यबंध का कारण है, परन्तु ऐसी श्रद्धा सम्यक्त की पूर्व भूमिका में होती ही है। जो ऐसा न माने वह मूढ़ है।

## गाथा - १६०

विगत गाथा में शुद्ध स्वचारित्र में प्रवृत्ति के मार्ग का कथन किया है। प्रस्तुत गाथा १६० में निश्चय मोक्षमार्ग के साधन रूप व्यवहार मोक्षमार्ग का निर्देश है। मूल गाथा इसप्रकार है ह

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।  
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६० ॥  
(हरिगीत)

धर्मादि की श्रद्धा सुदृग पूर्वांग बोध-सुबोध है।

तप माँहि चेष्टा चरण मिल व्यवहार मुक्तिमार्ग है ॥१६० ॥

धर्मास्तिकायादि का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, अंगपूर्व सम्बन्धी ज्ञान सम्यग्ज्ञान एवं तप में चेष्टा सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र कहते हैं कि सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है। छह द्रव्यरूप और नव-पदार्थ रूप जिसके भेद हैं ह ऐसे धर्मास्तिकाय आदि की तत्वार्थ प्रतीतिरूप भाव जिसका स्वभाव है ह उनका श्रद्धान ही सम्यक्त है। तत्वार्थ श्रद्धान के सद्भाव में अंग पूर्वगत विशेषों का जानना ज्ञान है तथा आचारादि सूत्रों द्वारा कहे गये अनेक प्रकार के मुनियों के आचार रूप तप में चेष्टा चारित्र है। ऐसा यह स्व-परहेतुक पर्यायाश्रित भिन्न साध्य-साधन भाव वाले व्यवहारनय के आश्रय से (व्यवहारनय की अपेक्षा से) अनुसरण किया जाने वाला मोक्षमार्ग में एकाग्रता को प्राप्त जीव को अर्थात् जिसका अंतरंग एकाग्र है, समाधि को प्राप्त है ह ऐसे जीव को पद-पद पर परम रम्य शुद्ध भूमिकाओं में अभेद रूप स्थिरता उत्पन्न करता है। यद्यपि शुद्ध जीव कथंचित् भिन्न साध्य-साधन भाव के अभाव के कारण स्वयं शुद्धस्वभाव से परिणत होता है, तथापि ह निश्चय मोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है।



जिन्हें स्वभाव सन्मुखता की दृष्टि हुई है, उसकी नवतत्त्व की श्रद्धा ही व्यवहार समकित नाम पाती है।

भगवान ने दो नय कहे हैं। वे दोनों नय सच्चे तभी कहलाते हैं, जबकि वह अपने शुद्ध आत्मा को आदरणीय माने तथा व्यवहारनय का विषय जानने योग्य हैं। ऐसा जाने। उसको आत्मवस्तु के आश्रय से वीतरागता प्रगट होती है।

द्वादशांग के ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वर्तमान में द्वादशांग के पूर्ण ज्ञान का तो विच्छेद, किन्तु उन अंगों का थोड़ा सा ज्ञान धरसेनाचार्य आदि को था। उनसे षट्खण्डादि आगमों की रचना हुई। कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार आदि ग्रन्थों की रचना की, उनमें भी अंगों का अंश ही है।

जो ज्ञान आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है, वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

अब व्यवहार चारित्र की बात करते हैं। बारह प्रकार का तप एवं तेरह प्रकार का चारित्र हूँ ये सब शुभराग हैं, व्यवहार चारित्र है। अशुभ से बचने के लिए ऐसे शुभ मुनियों को आते हैं। जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं होती, तब तक शुभ विकल्प आये बिना नहीं रहता। जब धर्मी जीव शुद्ध चैतन्य स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक स्वज्ञेय का अनुभव करते हैं, तब उस तत्त्व को बताने वाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति उन धर्मी जीवों को प्रमोद आये बिना नहीं रहता।

यदि कोई कहे कि हमें राग वाली भूमिका है, तो भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति उल्लास नहीं आता तो यह बात झूठ है धर्मी को धर्म धर्मायतनों के प्रति उल्लास आता ही है, आना ही चाहिए; उल्लास को ही धर्म माने तो यह भी गलत है; क्योंकि उसने शुभभाव में धर्म माना; जबकि धर्म तो वीतराग भाव रूप है, राग रूप नहीं।<sup>१</sup>

इसप्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा।



## गाथा - १६१

विगत गाथा में निश्चय मोक्षमार्ग के साधन रूप व्यवहार मोक्षमार्ग का निर्देश किया।

अब इस गाथा में व्यवहार मोक्षमार्ग के साध्यरूप से निश्चय मोक्षमार्ग का कथन है। मूल गाथा इसप्रकार है ह

**णिच्छयणण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हुजो अप्पा।**

**ण कुग्गदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खम्मो त्ति।।१६१।।**

(हरिगीत)

जो जीव रत्नत्रय सहित आत्म चिन्तन में रमे।

छोड़े ब्रह्मे नहीं अन्य कुछ शिवमार्ग निश्चय है यही।।१६१।।

जो आत्मा सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हूँ इन तीनों में एकाग्र (अभेद) होता हुआ अन्य कुछ भी करता नहीं तथा छोड़ता भी नहीं है, वह निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि हूँ “सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा समाहित हुआ (सातवें गुणस्थान को प्राप्त) आत्मा ही स्वभाव में नियत चारित्र रूप होने के कारण निश्चय से मोक्षमार्ग है।

यह आत्मा वास्तव में निज उद्यम से अनादि अविद्या का नाश करके व्यवहार मोक्षमार्ग को प्राप्त करता हुआ धर्मादि सम्बन्धी तत्त्वार्थ अश्रद्धान के तथा अंग पूर्वगत पदार्थों सम्बन्धी अज्ञान के और अतप में चेष्टा के त्याग हेतु से तथा धर्मादि सम्बन्धी तत्त्वार्थ श्रद्धान के, अंग पूर्वगत पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान के और तप में चेष्टा के ग्रहण हेतु से हूँ इसप्रकार (तीनों के त्याग हेतु तथा तीनों के ग्रहण हेतु से) विवेकपूर्वक हेय-उपादेय रूप से जानने पर उसके ग्रहण व प्रतिकार का उपाय करता हुआ अच्छी भावना से स्वभावभूत रत्नत्रय के साथ अंग-अंगी भाव से परिणति द्वारा रत्नत्रय से समाहित होकर अर्थात् सातवें गुणस्थान में जाकर ग्रहण-त्याग के विकल्प से शून्य होने के कारण, भावरूप व्यापार विराम को प्राप्त होने से निष्कम्प रूप से रहता है

उसकाल और उतने काल तक यही आत्मा जीव स्वभाव में नियत चारित्र रूप होने से निश्चय से मोक्षमार्ग कहलाता है। इसप्रकार निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग को साध्य-साधकपना घटित होता है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

( सवैया इकतीसा )

जग मैं अनादि मिथ्या-वासना विनास करिं,  
विवहार मोखपंथ नीकै जीव लखै है।

दृग ग्यान चारित मैं त्याग उपादान भेद,  
आप रूप धारना तैं भेदभाव नखै है॥

अंग-अंगी-भाव एक गई है जुदाव टेक,  
आप माँहि निःकम्प सुद्धरूप रखैं हैं।

सोई है निहचै रूप मोख मारग सरूप,  
अव्यय अनंत सुख सदाकाल चखै है॥२१५॥

( दोहा )

निहचै अरु विवहार करि, मोखपंथ दुय भेद।

साधन-साध्य सधावतैं, बधै बहुत परिच्छेद॥२१७॥

कवि कहते हैं कि “जगत में जीव ने अनादिकालीन मिथ्यावासना का विनाश करके व्यवहार मोक्षमार्ग प्रगट किया तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निमित्त-उपादान के भेदों को गौण करके अपने निज आत्मा में ही दर्शन ज्ञान व चारित्र को अर्थात् तीनों को भलिभाँति देखा है। यही निश्चय मोक्षमार्ग है। इसे प्राप्त कर ही जीव अनादि-अनंतकाल तक अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करता है।

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। जो साध्यरूप निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट करता है, उसी के व्यवहार श्रद्धा ज्ञान-चारित्र साधन कहे जाते हैं। ये भेद विकल्प ही व्यवहार मोक्षमार्ग है।

उक्त गाथा पर व्याख्यान करते हुए गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि ह “मैं अभेद ज्ञान स्वभावी तत्त्व हूँ” ऐसी स्वभाव की शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और उसी आत्मा में रमणता रूप आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है।

जो ऐसा अभेद मोक्षमार्ग प्रगट करता है, उसी के व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र साधन कहे जाते हैं। ध्रुव स्वभाव का अवलम्बन लेकर वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट कर आत्मा के साथ एकरूप हुआ इसी का नाम निश्चय मोक्षमार्ग है तथा भेद के विकल्प व्यवहार मोक्षमार्ग है।

शुद्ध-उपादान तो त्रिकाली चैतन्य द्रव्य है। उसके अवलम्बन से ही निश्चय मोक्षमार्ग होता है। व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का निमित्त है उसे निमित्त भी कहा जाता है, जबकि शुद्ध उपादान अनादि आत्मा के आश्रय से निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट करे।

जीव हित करना चाहता है। इसका अर्थ यह है कि उसकी वर्तमान पर्याय में हित नहीं है। अरेभाई! हित कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि अपने अन्दर स्वभाव में से ही आता है। आत्मा के स्वभाव के अवलम्बन से ही अहित का नाश होकर ही हित होता है। एतदर्थ पहले ऐसा विचार आता है कि ह सर्वज्ञ कैसे हैं? उनके द्वारा कहे हुए छह द्रव्य सात तत्त्वों का स्वरूप क्या है? ऐसा जो विचार आता है, वह व्यवहार धर्म है; परन्तु यदि उस शुभभाव रूप व्यवहार का अवलम्बन छोड़कर अन्तर में आत्मा के शुद्धस्वभाव में एकाग्रता करें तो उस शुभराग शुद्धस्वभाव का अवलम्बन लेकर जिसने निश्चय सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप समरस भाव प्रगट किया है ह ऐसा आत्मा निश्चय से मोक्षमार्ग है। वह ज्ञानी आत्मा कोई भी परद्रव्य का कुछ भी नहीं करता, परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं परद्रव्य में फेरफार कर सकता हूँ।<sup>१</sup>”

इसप्रकार धर्मी को तो ऐसा ज्ञान हो गया कि ह “मैं ज्ञायकमूर्ति हूँ”, ऐसा ज्ञान होने पर ज्ञानी जीव एक भी परद्रव्य की क्रिया को अपने आधीन नहीं मानता। तथा सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप आत्म स्वभाव को भी छोड़ता नहीं है।

एकरजकण की क्रिया को भी अपनी मानता नहीं है तथा उनके प्रति राग भी नहीं करता तथा अपने चिदानंद स्वभाव को कभी छोड़ता नहीं है। ऐसे आत्मा को मोक्षमार्ग होता है। इसप्रकार गुरुदेव श्री ने इस गाथा पर विस्तार से चर्चा की।

( 246 )

## गाथा - १६२

विगत गाथा में व्यवहार मोक्षमार्ग के साधन द्वारा साध्यरूप से निश्चयमोक्षमार्ग का कथन किया।

अब प्रस्तुत गाथा में आत्मा के चारित्र-ज्ञान-दर्शन का प्रकाश करते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है ह

**जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अण्णमयं।**

**सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि॥१६२॥**

(हरिगीत)

देखे जाने आचरे जो अनन्यमय निज आत्म को।

वे जीव दर्शन-ज्ञान अर चारित्र हैं निश्चयपने॥१६२॥

जो जीव अनन्यमय आत्मा को आत्मा से आचरता है, जानता है, देखता है; वह आत्मा ही चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है हू ऐसा यहाँ समझाया है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र कहते हैं कि हू “यह आत्मा के चारित्रज्ञान-दर्शनपने का प्रकाशन है।

जो जीव वास्तव में अनन्यमय आत्मा को आत्मा से जानता है। उसे आत्मा से आचरता है, स्वभाव में दृढरूप में स्थित अस्तित्व द्वारा अनुवर्तत है। अर्थात् स्वभावनियत अस्तित्वरूप से परिणमित होकर अनुसरता है, स्व-पर-प्रकाशकरूप से चेतता है, अनन्य आत्मा को आत्मा से देखता है अर्थात् यथातथ्य रूप से अवलोकता है; वह आत्मा ही वास्तव में चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है हू ऐसा कर्ता-कर्म-करण के अभेद के कारण निश्चित है।

इससे ऐसा निश्चित हुआ कि चारित्र-ज्ञान-दर्शनरूप होने के कारण आत्मा को जीवस्वभाव नियत चारित्र जिसका लक्षण है हू ऐसा निश्चय

मोक्षमार्गपना अत्यन्त घटित होता है। अर्थात् आत्मा ही चारित्र-ज्ञान-दर्शन होने के कारण आत्मा ही ज्ञान-दर्शनरूप जीवस्वभाव में दृढरूप से स्थित चारित्र जिसका स्वरूप है हू ऐसा निश्चय मोक्षमार्ग है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं हू

(दोहा )

देखे जाने अनुचरै, जो आपन कौं आप।

सो दृग-ग्यान-चरित्र पद, निहचै पर न मिलाप॥२१८॥

( सवैया इकतीसा )

आप माहिं आपरूप पर माहिं पर तातैं,

ग्यानी आप माहिं चरै आपरूप जानि कै।

स्व-पर प्रकास पुंज अपना सरूप जानै,

आप रूप जैसा तैसा देखै आप मानिकै॥

तातैं है चरित आप ग्यान दृग औमिलाप,

कर्ता-कर्म-करण की पद्धति पिछान कै।

भेदभाव त्यागि निरभेद-सुधा पान करि,

सुद्ध मोख पन्थी होइ कर्मपुंज भानि कै॥२१९॥

(दोहा )

दरसन में दरसन लसै, ग्यान माहिं फुनि ग्यान।

चारित मैं चारित भला, तीनों समरस भान॥२२०॥

कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं कि - जो पर से भिन्न स्वयं का सामान्य अवलोकन करे, अपने स्वरूप को विशेषरूप से जानें तथा उसी में रमे, यही निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का स्वरूप है।

ज्ञानी निज आत्मा सम्यक् प्रतीतिपूर्वक स्व-पर का भेद विज्ञान करके स्वयं में स्थिर होते हैं।

इसप्रकार ज्ञानी कर्ता-कर्म आदि के स्वरूप को पहचान करके

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता द्वारा अपने में उत्पन्न भेद-विकल्पों को त्याग कर अभेद अखण्ड एक आत्मा के आनन्द का अमृतपान करते हुए कर्मपुंज को जलाकर मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह्व जो पुरुष अपने ज्ञाता स्वरूप से ज्ञानादि गुण पर्यायों से अभेद एक रूप आचरण करता है, जानता है, श्रद्धा करता है, वह आत्मा ही स्वयं चारित्र है। ज्ञाता-दृष्टा एवं आचरण करने वाला ह्व ये तीनों नामभेद रहित स्वयं दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप होते हैं। राग रहित स्वरूपानन्द में स्थित होने का नाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। जितनी मात्रा में राग रहता है, उतनी मात्रा में मोक्षमार्ग नहीं है। चिदानन्दमय परम शांत-वीतरागी आनन्द को मग्नता का नाम मोक्षमार्ग है।

तात्पर्य यह है कि वस्तुतः जो आत्मा अपने में अभेदरूप आचरण करता है तथा अन्तर आनन्द में लीन होता है, वही चारित्र है; क्योंकि अभेद दृष्टि से आत्मा गुण-गुणी भाव से एक है। जिस तरह नीबू और उसकी खटास (खट्टापन) एक है, उसी प्रकार नित्य आनन्द स्वभाव एवं स्वभाववान आत्मा एक है।

इसप्रकार निर्मल प्रतीति अनुसार जो आत्मा अपने स्वभाव से निश्चलभाव में प्रवर्तता है। वही मोक्षमार्ग है।<sup>१</sup>”

सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जो अनन्य रूप से निज आत्मा को जानता है आचरण करा है, श्रद्धान करता है, वह आत्मा ही स्वयं दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप है।



( 248 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. २२८, दि. ६-६-५२, पृष्ठ-१८७४

## गाथा - १६३

विगत गाथा में आत्मा के चारित्र-ज्ञान-दर्शन का प्रकाशन किया गया है।

प्रस्तुत गाथा में कहा है कि ह्व “सभी संसारी जीव मोक्षमार्ग के योग्य नहीं होते।” मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**जेण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि ।**

**इदि तं जाणदि भविओ अभवियसत्तो ण सदहदि।।१६३।।**

(हरिगीत)

जाने-देखे सर्व जिससे, हो सुखानुभव उसी से।

यह जानता है भव्य ही, श्रद्धा करे न अभव्य जिय।।१६३।।

जिससे आत्मा मुक्त होने पर सबको जानता है और देखता है। उससे वह निराकुल सुख का अनुभव करता है ह्व ऐसा भव्य जीव जानते हैं। अभव्य जीव ऐसे निराकुल सुख तथा मोक्ष की श्रद्धा नहीं करता।

आचार्य अमृतचन्द टीका में कहते हैं कि ह्व “वास्तव में सुख का कारण स्वभाव की प्रतिकूलता-विपरीतता का अभाव है। आत्मा का स्वभाव दृशि-ज्ञप्ति अर्थात् दर्शन-ज्ञान है। मोक्ष में आत्मा सर्वज्ञ है अतः वहाँ स्वभाव की प्रतिकूलता का अभाव है। मोक्ष में निराकुल सुख की अचलित अनुभूति होती है।

इसप्रकार भव्य जीव ही उस अनन्त सुख को जानते हैं। उपादेय रूप से श्रद्धते हैं, इसलिए वे भव्य जीव ही मोक्षमार्ग के योग्य हैं। अभव्य जीव इस प्रकार की श्रद्धा नहीं करते, इसलिए वे मोक्षमार्ग के योग्य नहीं हैं।

इससे ऐसा कहा है कि कुछ ही संसारी मोक्षमार्गी हैं, सब नहीं।”

इसी भाव को कवि हीरानन्दजी ने काव्य में लिखा है -

(दोहा )

देखै जानै जिसहिकरि, तिस ही करि सुख होइ ।  
भव्य मांहि, यहु आचरन, नहिं अभव्य महिं सोइ ॥२२२॥  
( सवैया इकतीसा )

याही आत्मा के विषै दृग-ज्ञान-सुभाव तामै,  
विषय-अभिलाष ताका पडिकूल है ।  
मोख माहिं जीव तातैं देखै जानै है सदीव,  
तामैं विषै का अभाव सोई हेतु मूल है ॥  
ताही है अनाकुलता लच्छण सुभाव सुख,  
ताकी अनुभूति मोख मन्दिर मैं फूल है ।  
ऐसी अनुभूति भव्य माहिं अनुभूति होइ,  
सदा ही अभव्य माहिं सुद्धभाव भूल है ॥२२३॥

(दोहा )

मोख जाइवे जोग है, भव्य जीव निरधार ।  
नहिं अभव्य सिव मग लहै, जतन करौ अनिवार ॥२२४॥

कवि हीरानन्दजी ने जो काव्य में कहा उसका सार यह है कि वह जिस विधि से ज्ञानी-ज्ञाता-दृष्टा होता, उसी विधि से जीव सुखी होते हैं अर्थात् जिस वस्तु स्वरूप की समझ, स्व-पर भेदविज्ञान और वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त के समझने से जीव ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है, उन्हीं सिद्धान्तों की समझ से वह सुखी होता है। ऐसा स्वरूप सन्मुखता का आचरण भव्यों को ही होता है, अभव्यों को नहीं।

जीव मोक्ष में सदैव ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। वहाँ विषयाभिलाषा नहीं है। अनाकुल सुख प्रगट हो जाता है। ऐसी अनुभूति के पात्र भव्य जीव ही हैं।”

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार कहते हैं ह  
“आत्मा अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता रूप मोक्षमार्ग से

परमानन्द दशा प्राप्त करता है। भगवान को पूर्णज्ञान और आनन्ददशा प्रगट हो गई है, इसकारण भगवान को पूर्ण सुख का अनुभव है।

अहो! अनाकुल स्वभाव की रमणता से मुक्ति और परमानन्द दशा प्रगट होती है। ऐसे स्वभाव को ही धर्मीजीव उपादेय मानते हैं, परन्तु अपने-अपने गुणस्थान अनुसार वे सुख का अनुभव करते हैं। ‘आत्मा के स्वभाव में ही सुख है’ ह्व ऐसी श्रद्धा तो सब ज्ञानियों के समान ही है; परन्तु सुख का अनुभव तो गुणस्थान के अनुसार बढ़ता जाता है।

आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वभाव जब अपने विपरीत पुरुषार्थ के कारण ढँक जाता है, तब आवरण कर्म को निमित्त कहा जाता है। कर्म का आवरण तो संयोग है, उसके कारण कोई सुख-दुःख नहीं होता। उल्टे पुरुषार्थ से जो कर्म बंधते हैं, सीधे पुरुषार्थ से उनका नाश हो जाता है। अपने ज्ञान-दर्शन-स्वभाव की पहचान करके उसमें एकाग्र होने पर जब वह आवरण नष्ट हो जाता है तथा केवल दर्शन-केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। तब जो आत्मिक शांतरस उत्पन्न होता है, वह सच्चा सुख मात्र मोक्ष में है अन्यत्र नहीं।”

इसप्रकार इस गाथा में विशेष यह कही कि श्रद्धा तो चौथे गुण स्थान में पूर्ण हो जाती है; परन्तु चारित्रगुण में गुणस्थानों के अनुसार वृद्धि होती है तदनुसार ही सच्चे निराकुल सुख में भी वृद्धि होती है।

समकिति जीवों को भी भूमिकानुसार मंदकषायरूप शुभ होते हैं, परन्तु वह उस रूप आचरण करते हुए भी उसे धर्म नहीं मानता तथा परिणामों में जैसी-जैसी निर्मलता बढ़ती है उसी शुभभाव का उल्लंघन कर वीतरागता को प्राप्त करने में तदनुसार निरन्तर उद्यमवन्त रहता है। ●

( 249 )

गाथा - १६४

विगत गाथा में कहा गया है कि ह 'सभी संसारी प्राणी मोक्ष प्राप्ति के योग्य नहीं होते, केवल भव्य जीव ही मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।'

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कथंचित् हेतुपना है और जीवस्वभाव में नियत चारित्र का साक्षात् हेतुपना है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

दंक्षणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।

साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा॥१६४॥

(हरिगीत)

दृग-ज्ञान अर चारित्र मुक्तिपन्थ मुनिजन ने कहे।

पर ये ही तीनों बंध एवं मुक्ति के भी हेतु हैं॥१६४॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं। इसलिए वे सेवन योग्य हैं; परन्तु उनसे बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र देव टीका में कहते हैं कि ह "दर्शन ज्ञान चारित्र कथंचित् मोक्ष हेतु एवं कथंचित् बंध हेतु भी हैं। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र यदि अल्प भी परसमय प्रवृत्ति के साथ हों तो उष्णघृत की भाँति कथंचित् विरुद्ध कार्य के कारण अर्थात् बंधरूप कार्य के कारणपने की व्याप्ति के कारण बंध का हेतु भी है।"

जब वे दर्शन-ज्ञान-चारित्र समस्त पर समय प्रवृत्ति से निवृत्त रूप स्व-समय की प्रवृत्ति के साथ संयुक्त होते हैं तब विरुद्ध कार्य का कारण निवृत्त हो गया होने से साक्षात् मोक्ष कारण ही है इसलिए 'स्वसमय प्रवृत्ति' नाम के चारित्र में साक्षात् मोक्षमार्गपना घटित होता है।

इसी भाव को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं, जो इसप्रकार हैं ह

(दोहा )

दरसन ज्ञान चरित्र ए, मारग सिव के सेय।

साधूजन यों कहत हैं, बंध-मोख विधि एय॥२२६॥

( सवैया इकतीसा )

एई दृग-ग्यान चारु चारित त्रिकार जानि,

पर कै मिलाप सेती बंधन प्रगट है।

अपने सुभाव जब होहिं तीनों एक रूप,

स्व समै कहावै तब मोखरूप वट है॥

जैसैं अग्नि संजोग घीव दाहक स्वरूप होइ,

अग्नि संजोग मिटै सेती सीतता सु घट है।

तैसैं स्व चरित्री जीव आपतैं पवित्री होइ,

सुद्ध मोख मारग मैं सबही सुलट है॥२२७॥

(दोहा )

मोख पंथ के पथिक कौं, सिव पदार्थ पाथेय।

दरसन ग्यान चरित्र पद, और सकल पद हेय॥२२८॥

कवि हीरानन्दजी के काव्य का सार यह है कि ह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं। ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जब तीनों एकरूप होते हैं तो स्व-समय कहलाते हैं और मोक्ष के कारण बनते हैं। तथा जब इनका मिलाप परद्रव्य के साथ होता है तो ये ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र संसार के कारण बनते हैं। जैसे ह अग्नि के संयोग से घी दाहक स्वरूप हो जाता है तथा अग्नि का संयोग मिटते ही शीतल हो जाता है, उसीप्रकार स्वरूप में लीन होने से जीव पवित्र होता हुआ शुद्ध मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है और पर के संयोग से पर में एकत्व से ये संसार के कारण बनते हैं।

( 250 )

इसप्रकार मोक्षमार्ग के पथिक को दर्शन ज्ञान-चारित्र-पाथेय हैं, शेष सब हेय हैं।"



गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह “सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है। चिदानन्द भगवान् आत्मा की प्रतीति ज्ञान एवं रमणता मोक्ष का कारण होने से धर्मी जीवों को सेवन करने योग्य है। तथा जब तक रत्नत्रय की पूर्णता नहीं होती, तबतक राग से बन्धन भी होता है, इस कारण रत्नत्रय को कथंचित् बंध का कारण भी कहा है; परन्तु वस्तुतः तो बात यह है कि ह रत्नत्रय के साथ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा वगैरह में जो राग है, वही बंध का कारण है, रत्नत्रय बंध का कारण नहीं है। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव होने से मोक्ष का ही कारण है। ज्ञानी के रत्नत्रय के साथ पाँच व्रतादि के जो शुभभाव होते हैं, वे शुभभाव बंध के कारण हैं। ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति रूप निश्चय सम्यक्दर्शन तो निर्विकल्प है, वह बंध का कारण नहीं है।

देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहार श्रद्धा, नवतत्त्व में क्षयोपशमभाव तथा पंच महाव्रत की वृत्ति शुभराग है। ऐसे व्यवहार श्रद्धा ज्ञान चारित्र सहित साधकदशा की यह बात है। ज्ञानी को जो निश्चय रत्नत्रय है, वह तो मोक्ष का ही कारण है, उसके साथ जो पर की ओर का श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है, वह राग है, बंध का कारण है। उसे व्यवहार से मोक्ष का कारण भी कहते हैं। इसीलिए यहाँ ऐसा कहा है कि रत्नत्रय कथंचित् बंध का कारण है और कथंचित् मोक्ष कारण है।”

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र कथंचित् मोक्ष का हेतु है और कथंचित् बन्ध हेतु हैं। यदि अल्प पर-समय प्रकृति के साथ हों तो बंध के हेतु होते हैं और पर-समय प्रवृत्ति से पूर्ण निर्वृत्त होते हैं तो साक्षात् मोक्ष कारण होते हैं। इसप्रकार गुरुदेव श्री ने भी रत्नत्रय को बंध व मोक्ष के कारणपने का स्पष्टीकरण किया। ●

( 251 )

### गाथा - १६५

विगत गाथा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कथंचित् बंध हेतुपना बताया। अब प्रस्तुत गाथा में सूक्ष्म पर-समय के स्वरूप का कथन किया है। मूल गाथा इसप्रकार है ह

**अण्णाणादो गाणी यदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।  
हवदि ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो॥१६५॥**

(हरिगीत)

शुभभक्ति से दुःखमुक्त हो जाने यदि अज्ञान से।

उस ज्ञानी को भी परसमय ही कहा है जिन्देव ने॥१६५॥

सुद्ध संप्रयोग से अर्थात् शुभ भक्तिभाव से दुःख से मुक्ति होती है ह कोई यदि अज्ञान से ऐसा माने अर्थात् शुभभाव की ओर झुके तो वह ज्ञानी भी पर समयरत है ह ऐसा माना जाता है।

तात्पर्य यह है कि यदि कोई ज्ञानी अज्ञान के कारण ऐसा माने कि ह ‘अरहंतादि के प्रति भक्ति-अनुराग वाली मन्द शुद्धि से भी क्रमशः मोक्ष होता है’ तो वह भी सूक्ष्म पर-समय रत है। यहाँ अज्ञान के कारण का अर्थ ‘मिथ्यात्व के वश नहीं, बल्कि रागांश के कारण’ है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि ह यह सूक्ष्म परसमय के स्वरूप का कथन है।

सिद्धि के साधनभूत अर्हदादि के प्रति भक्तिभाव से अनुरंजित अर्थात् सराग चित्तवृत्ति ही शुद्ध संप्रयोग का अर्थ है। अब अज्ञानत्व के आवेश से अर्थात् अल्प अज्ञानवश उत्साह में आकर यदि ज्ञानवान भी ऐसा माने कि शुद्ध संप्रयोग से मोक्ष होता है ह ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद-खिन्न होता हुआ उस शुद्धसंयोग में अर्थात् शुभभाव में प्रवृत्ति करे तो तबतक वह भी रागत्व अर्थात् किंचित् राग के सद्भाव के कारण जब वह भी परसमयरत

कहलाता है, तो जो निरंकुश रागरूप क्लेश से कलंकित हैं, ऐसी अनरंगवृत्ति वाले क्या पर समयरत नहीं कहलायेंगे? अवश्य कहलायेंगे ही।

इस गाथा पर विशेष टिप्पणी करते हुए आचार्य श्री जयसेन ने कहा है कि ह्व कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्म भावना स्वरूप परमोपेक्षा संयम में स्थित रहना चाहता है, परन्तु उसमें स्थित रहने में अशक्त वर्तता हुआ काम-क्रोधादि अशुभ परिणामों के वंचनार्थ अथवा संसार स्थिति के छेदनार्थ जब पंच परमेष्ठी के प्रति गुणस्तवन आदि भक्ति करता है, तब वह सूक्ष्म परसमय रूप से परिणत वर्तता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि है।

यदि वह पुरुष शुद्धात्म भावना में समर्थ होने पर भी उसे शुद्धात्म भावना को छोड़कर 'शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है' ह्व ऐसा एकांत माने तो वह स्थूल परसमय रूप परिणाम द्वारा अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

कवि हीरानन्दजी इसी भाव को काव्य में कहते हैं ह्व

(दोहा )

ग्यानी जब अज्ञान तैं माने करम विमोख ।

सुद्ध प्रयोग परम्परा पर समयश्रित धोख॥२२९॥

( सवैया इकतीसा )

आपतैं विमुख होई ग्यानी जीव जाही समै,

ताहि समै एक अवलम्ब चाहे है ।

जातैं विषै उपजनि औ क्रोधादि बढनि,

दौनों का विनास होइ कर्म पुंज दाहै है ॥

जिन आदि पंच गुरु उर मैं विचार करै,

तिनही की भगति मैं प्रीति निरवाहै है ।

सुद्ध संप्रयोगधारी सूच्छिम परसमै तैं,

परम्परा जीव सुद्ध मोख अवगाहै है ॥२३१॥

(दोहा )

ग्यानी सुद्ध-सुभाव-युत, परसमयाश्रित सोइ ।

सूच्छिम-राग प्रभावतैं तद्भव मुक्त न होइ ॥२३२॥

(सोरठा )

मुगति विरोधक राग, सवै विभावके जनक हैं ।

तातैं पहिलहिं त्याग, राग-विरोध-विमोह मल ॥

कवि कहते हैं कि - ज्ञानी जब क्षयोपशम अज्ञानवश अथवा वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से ऐसा कहे कि शुद्धसंप्रयोग अर्थात् शुभभाव भी परम्परा मोक्ष का हेतु है तो वह सूक्ष्म पर-समय है। यदि वह शुभराग को भी मोक्ष कारण माने तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। इसलिए सूक्ष्मराग भी त्यागने योग्य ही है।

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि ह्व आत्मा का राग भले भगवान की भक्ति का ही क्यों न हो, वह बन्ध का ही कारण है। भले! शास्त्र पढ़ने का हो तो भी यदि सूक्ष्म राग को भी मोक्ष का कारण माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा का तो ज्ञान स्वभाव है, उसमें एकाग्रता छोड़कर राग में लीन होना तथा राग को मोक्ष का कारण माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। अरहंत भक्ति का शुभराग भी मोक्ष का कारण नहीं है। जिस भाव से तीर्थकर नाम कर्म बंधे, वह भाव भी राग है। वह भी आदरणीय नहीं है।

अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव में परिणमन करने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, वह ही मोक्ष का कारण है। इसके सिवाय देव-गुरु-शास्त्र की ओर का भक्तिभाव बंध का कारण है। मोक्ष की प्राप्ति का शुद्ध उपादान तो आत्मा का चैतन्य स्वभाव है तथा अरहंत देव वगैरह तो मोक्ष के निमित्त हैं। उस निमित्त की ओर के झुकाव वाला जो रागभाव है, वह ज्ञानस्वभाव नहीं है। वह बंध का कारण रूप शुभभाव है।

इसप्रकार गाथा एवं टीका में आचार्य देव ने सूक्ष्म पर समय का स्वरूप कहा।

( 252 )

## गाथा - १६६

विगत गाथा में सूक्ष्म परसमय के स्वरूप का कथन किया।

अब प्रस्तुत गाथा में निश्चय से शुद्धसंप्रयोग को शुभभावरूप बंध का हेतुपना होने से मोक्षमार्ग होने का निषेध किया गया है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो ।

बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि।।१६६।।

(हरिगीत)

अरहंत सिद्ध मुनिशास्त्र की अर चैत्य की भक्ति करे।

बहु पुण्य बंधता है उसे पर कर्मक्षय वह नहीं करे।।१६६।।

अरहंत, सिद्ध, चैत्य (अरहंत की प्रतिमा) प्रवचन (शास्त्र) मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बांधता है, परन्तु वस्तुतः वह कर्मक्षय नहीं करता।

आचार्य अमृतचन्द्र अपनी समय व्याख्या टीका में कहते हैं कि ह “पूर्वोक्त शुद्धसंप्रयोग को कथंचित् अर्थात् निश्चयनय की अपेक्षा से बंध हेतुपना होने से उसका मोक्षमार्गपना निषिद्ध है अर्थात् ज्ञानी को वर्तता हुआ शुद्धसंप्रयोग (शुभभाव) निश्चय से बंध का हेतुभूत होने के कारण मोक्षमार्ग ही है ह ऐसा दर्शाया है।

अर्हतादि के प्रति भक्ति युक्त जीव कथंचित् शुद्धसंप्रयोगवाला होने पर भी अल्पराग विद्यमान होने से शुभोपयोगीपने को न छोड़ता हुआ बहुत पुण्य बांधता है; परन्तु वस्तुतः सकल कर्म का क्षय नहीं करता। इस कारण सर्वत्र राग की कणिका भी त्यागने योग्य है; क्योंकि वह राग की कणिका परसमय प्रवृत्ति का कारण है।”

इसी भाव के पोषण को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

(दोहा )

जिन-सिध-चैत्य सु परवचन, संघ-ग्यान इन प्रीति ।

पुण्य करम का बंध बहु, करमनास नहिं रीति।।२३४।।

( सवैया इकतीसा )

देव-गुरु-ग्रन्थ विषैं भक्ति धर्मानुराग,

सुद्ध संप्रयोग सोई ग्यानी विषै तोषना ।

राग अंस जीवै तातैं सुभ उपयोग भूप,

भूमिका प्रसिद्ध तातैं पुण्यबंध पोषना ।।

बंध की प्रनाली लसै करम की सत्ता बसै,

विद्यमान मोख नाहीं कर्मरूप सोषना ।

तातैं रागरूप कनीं ज्ञानी जहाँ वहाँ हनी,

ऐसी जिनराज मनी साची भाँति घोषना।।२३५।।

(दोहा )

राग-कनी जौलों रहे, तौलों मुकति न होइ ।

वीतराग तातैं कह्या, सिव अधिकारी जोइ।।२३६।।

कवि हीरानन्दजी ने उक्त काव्यों में कहा उसका सारांश यह है कि ह “अरहंत, सिद्ध, जिनप्रतिमा, जिनप्रवचन एवं मुनि संघ के प्रति प्रीति और भक्ति से पुण्य कर्म का बंध होता है, कर्मों का नाश नहीं होता; क्योंकि वह सब शुभराग है, पर ऐसा भाव ज्ञानी को आये बिना भी नहीं रहता।

देव-शास्त्र-गुरु के प्रति जो भक्तिभाव, धर्मानुराग ज्ञानी को होता है, उसे ही शुद्ध संप्रोक्त कहते हैं। भूमिकानुसार ऐसा भाव आता ही है, पर ज्ञानी यह भी जानता है कि यह बंध है, इससे मोक्ष नहीं होता; इसलिए ज्ञानी इस रागांश को भी अनन्तः त्याग कर आत्मा के स्वरूप में स्थिर होने का पुरुषार्थ करता है।

‘जब तक रागांश रहता है, तब तक मुक्ति नहीं होती’ ह ऐसा उपरोक्त दोहा नं. २३६ में स्पष्ट कहा है तथा यह भी कहा है कि ह वीतरागी ही मोक्ष का अधिकारी है, ऐसा जानना।”

गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी अपने व्याख्यान<sup>१</sup> में कहते हैं कि ह्व वीतरागी सर्वज्ञ भगवान के प्रति भक्ति का भाव यद्यपि पुण्य-बंध का कारण है, तथापि ज्ञानी को भक्ति का भाव आये बिना रहता।

अरहंत, सिद्ध, चैत्यालय, जिनप्रतिमा, जिन प्रवचन एवं मुनिराजों के प्रति भक्ति एवं आदर का भाव धर्मी जीव को आये बिना नहीं रहता; परन्तु वह जानता है कि ह्व यह राग परद्रव्य के अवलम्बन से होनेवाला है, अतः यह धर्म नहीं है। यद्यपि जिनप्रतिमा पर हुआ रागभाव भी बंध का कारण है; पर इससे शुभराग में निमित्तभूत जिनप्रतिमा के प्रति भक्तिभाव का निषेध नहीं हो सकता। धर्मी को शुभराग होने पर जिनप्रतिमा की भक्ति-पूजा का भाव आता ही है; परन्तु धर्मी राग से धर्म होना नहीं मानता तथापि शुभराग के निमित्तभूत जिनेन्द्र प्रतिमा की उत्थापना भी नहीं करता।

धर्मी जीव राग को मोक्षमार्ग नहीं मानते। मोक्षमार्ग तो एक वीतराग भाव ही है। ऐसा जानते हुए भी धर्मी जीवों को भूमिकानुसार आत्मभान-पूर्वक देव-शास्त्र-गुरु के प्रति प्रमोदभाव, भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता।<sup>१</sup>”

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा है कि - शुभभाव में निमित्तभूत अरहंत की प्रतिमायें, प्रवचन और मुनिगणों एवं ज्ञानवृद्ध एवं वय और संयम-साधना में वृद्ध ज्ञानियों के प्रति भक्तिभाव रखने वाले जीव पुण्य बहुत बाँधते हैं, परन्तु उन्हें कर्मक्षय नहीं होता। गुरुदेव श्री ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए मोक्षमार्ग में शुभभाव की उपयोगिता भी बताई और साथ ही उस मोक्षमार्ग में शुभभाव से ऊपर उठने की प्रेरणा भी दी।



( 254 )

१. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. २३०, दिनांक ९-६-५२, पृष्ठ १८६६-६७

### गाथा - १६७

विगत गाथा में कहा गया है कि अरहंत सिद्ध और उनकी प्रतिमा की पूजा एवं प्रवचन आदि से भक्त पुण्य तो बहुत कमाते हैं, परन्तु कर्मों का क्षय नहीं करते।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि स्व-समय की उपलब्धि न हो पाने का कारण एकमात्र राग है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

**जस्स हिदणुमेत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो ।**

**सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि॥१६७॥**

(हरिगीत)

अणुमात्र जिसके हृदय में परद्रव्य के प्रति राग है।

हो सर्व आगमधर भले जाने नहीं निजआत्म को॥१६७॥

जिसे परद्रव्य के प्रति अणुमात्र भी, लेशमात्र भी राग हृदय में विद्यमान है, वह भले ही सर्व आगम का पाठी हो, तथापि स्वकीय समय को नहीं जानता, आत्मा का अनुभव नहीं करता।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र समय व्याख्या टीका में कहते हैं कि ह्व स्वसमय की उपलब्धि न होने का एकमात्र कारण 'राग' है।

रागरूपी धूल का एक कण भी जिसके हृदय में विद्यमान है, वह भले ही समस्त सिद्धान्त शास्त्रों का पारंगत हो, तथापि निरूपराग अर्थात् शुद्धस्वरूप निर्विकारी स्वरूप को नहीं चेतता, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं करता। इसलिए 'धुनकी (यंत्र) से चिपकी हुई रुई' का न्याय लागू होने से अर्थात् जिसप्रकार धुनकी यंत्र से चिपकी हुई थोड़ी सी भी रुई धुनने के कार्य में विघ्न करती है, उसीप्रकार थोड़ा भी राग स्वसमय

की प्रसिद्धि के हेतु अर्हतादि की भक्ति विषयक राग भी क्रमशः दूर करने योग्य है।

इसी बात को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह  
(दोहा )

अणुमात्र पर दरव मैं, राग जास किन होइ ।  
सो नहिं जानैं सुअ समै, आगम सरब विलोइ ॥२३८ ॥  
( सवैया इकतीसा )

जाकै राग रेनु कनी जीवै है हिरदै मांहि,  
आपतैं विमुख कछू बाहिर कौं बगै है ।  
सबही सिद्धान्त-सिन्धु पारगामी यद्यपि है,  
तथापि स्वरूप विषै मैल-भाव जगै है ॥  
तातैं जिन आदि विषै धरमानुराग-कनी,  
सुद्धमोखमारग मैं साधक सी लगै है ।  
मोख कै सधैया तातैं वीतराग जीव कहे,  
जग कै वंधैया माहिं राग-दोष पगै है ॥२३९ ॥  
(दोहा )

जहाँ राग कनिका रहै, तहाँ न जीव विराम ।  
वीतराग तातैं मुकत, सकल राग परत्याग ॥२४० ॥

कवि हीरानन्दजी उपर्युक्त पद्यों में कहते हैं कि - जिनके हृदय में परद्रव्यों के प्रति अणुमात्र भी राग है तो वे भले ही सर्वश्रुत के ज्ञाता हों तो वे स्व का अर्थात् निजात्मा का अनुभव नहीं करे।

प्रस्तुत गाथा के सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिसके हृदय में अणुमात्र भी परद्रव्य के प्रति राग है, वह क्षयोपशमज्ञान की विशेषता से समस्त शास्त्रों को पढ़ा हो तो भी जबतक अपने आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक वह अज्ञानी ही है।

## गाथा - १६८

पिछली गाथा में कहा है कि जिसे आत्मज्ञान नहीं है, वह सर्व आगम घर होते हुए भी अज्ञानी ही है।

अब प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि समस्त अनर्थ परम्पराओं का मूल रागादि विकल्प हैं, क्योंकि इससे शुभाशुभ कर्मों का संवर नहीं होता।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

धरिदुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं ।  
रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥१६८ ॥  
(हरिगीत)

चित्त भ्रम से रहित हो निःशंक जो होता नहीं।

हो नहीं सक्ता उसे संवर अशुभ अर शुभ कर्म का ॥१६८ ॥

जो राग के सद्भाव के कारण अपने चित्त को स्थिर नहीं रख सकता, उसके शुभाशुभ कर्मों का निरोध नहीं है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह “यह रागांश मूलक दोष परम्परा का निरूपण है। अर्थात् अल्परोग जिसका मूल है ऐसी दोषों की संतति का यहाँ कथन है। टीकाकार कहते हैं कि ह इस लोक में वास्तव में अर्हतादि के ओर की भक्ति भी रागपरिणति के बिना नहीं होती। आत्मज्ञान से शून्य रागादि परिणति होने से आत्मा अपने मन की चंचलता को नहीं रोक सकता और बुद्धिप्रसार अर्थात् मन की चंचलता होने से शुभ या अशुभ कर्म का निरोध नहीं होता। इसलिए अनर्थ संतति का मूल कारण राग ही है।”

( 255 )

इसी अभिप्राय को कवि हीरानन्दजी काव्य में कहते हैं ह

(दोहा )

जाकै आत्मज्ञान बिन, चित की होइ न रोक ।  
ता आत्म कै क्यों मिटै, पुण्य-पाप की धोक ॥२४२॥

( सवैया इकतीसा )

पंच परमेशुर की भगति धरम राग,  
तातैं मन का पसार नाना रूप पसरै ।  
तातैं सुभ-असुभ है करम का परिवार,  
आतमीक धरम का सारा रूप खसरै ॥  
तातैं राग कनिका भी बन्धन का मूल लसै,  
मोक्ष का विरोधक है परस रूप भसरै ।  
मोखरूप साधक कै बाधक है राग-दोष,  
जिनराज वानी जानै, राग दोष विसरै ॥२४३॥

कवि हीरानन्दजी ने उक्त काव्यों में जो कहा है, उसका सार यह है कि - जिसके आत्मज्ञान के बिना चित्त की चंचलता नहीं रूकती उसके पुण्य-पाप के परिणाम कैसे रूक सकते हैं। अर्थात् वे पुण्य-पाप में ही अटके रहते हैं।

यद्यपि पंचपरमेष्ठी की भक्ति रूप धर्मानुराग होने से भक्ति का प्रसार नानारूप में होता रहता है। तथापि मोक्ष साधक के वह राग भी बाधक होता है।

इसप्रकार उक्त गाथा में टीका एवं पद्य में यही कहा गया है कि ह्व जो व्यक्ति आत्मज्ञान से शून्य राग के सद्भाव के कारण चित्त भ्रम से रहित नहीं होता, वह निःशंक नहीं रह सकता। तथा जो निःशंक नहीं होता उसे शुभाशुभ कर्म का संवर नहीं हो सकता। अतः आत्मार्थी को चित्त भ्रम से रहित होना चाहिए।

( 256 )

गाथा - १६९

विगत गाथा में कहा गया है कि अनर्थ परम्पराओं का मूल आत्मज्ञान शून्य रागादि विकल्प ही है।

प्रस्तुत गाथा में कहते हैं कि ह्व रागरूप क्लेश सम्पूर्ण नाश करने योग्य है। मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो ।  
सिद्धेस कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि ॥१६९॥  
(हरिगीत)

निःसंग निर्मम हो मुमुक्षु सिद्ध की भक्ति करें।

सिद्धसम निज में रमन कर मुक्ति कन्या को वरे ॥१६९॥

मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति करता है अर्थात् शुद्धात्म द्रव्य में स्थिरता रूप पारमार्थिक सिद्ध भक्ति करता है, इसलिए वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि ह्व 'रागादि परिणति होने से चित्त भ्रमित होता है। चित्त भ्रमित होने से कर्मबन्ध होता है' ह्व ऐसा पहले कहा गया है, इसलिए मोक्षार्थी को कर्मबन्ध के मूल कारण चित्त भ्रम को जड़मूल से नष्ट कर देना चाहिए। यह चित्त भ्रम रागादि परिणति का भी मूलकारण है।

चित्तभ्रम का निःशेष नाश किया जाने से जिसे निःसंगता और निर्मोह परिणति की प्राप्ति हुई है, वह जीव शुद्धात्मद्रव्य में विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्ध भक्ति धारण करता हुआ स्व-समय की प्रसिद्धिवाला होता है। इसकारण वह जीव कर्मबंध का निःशेष नाश करके सिद्धि को प्राप्त करता है।

कवि हीरानन्दजी काव्य की भाषा में कहते हैं ह्व



(दोहा )

तातैं निर्वृत्ति काम कै, ममता संग न कोई ।  
सिद्ध भगति इक चित करै, निर्वृति पावै सोइ ॥२४५ ॥  
( सवैया इकतीसा )

रागादिक वरतना चित्त उद्धांत करै,  
चित्त की विकलतामें नाना कर्म बंधै हैं ।  
तातैं मोक्ष अरथी कै बंध मूल चित्त भ्रांति,  
ताका मूल रागकनी ताका अंत सधै है ॥  
राग अंत भये सिद्ध-भगति की प्रीति बढी,  
निरसंग निर्ममत्व आपरूप खंडै है ।  
सोई स्वसमय परसिद्ध रिद्धि पूरन है,  
सर्व कर्म अन्त करै सिद्धों कौं निबंध्यै है ॥२४६ ॥

(दोहा )

तातैं रागकनी कही, रही न नीकी नैक ।  
निरममत्व निरसंग पद, अलख निरंजन एक ॥२४७ ॥

उपर्युक्त हिन्दी पद्यों में जो कहा गया है, उसका सार यह है कि -  
मोक्षार्थी जीव, निरसंग अर्थात् परिग्रह रहित तथा निर्ममत्व अर्थात् ममता  
रहित होकर सिद्ध भगवान की भक्ति कर सिद्धों के समान ही स्वयं रमण  
करके मुक्ति प्राप्त करते हैं ।

रागादि भावों में प्रवृत्त होने से चित्त चंचल होता है । चित्त की  
चंचलता या विकलता से नाना कर्मों का बंध होता है । इन कारणों से  
मोक्षार्थी जीवों के चित्त में भ्रम उत्पन्न होता है, इन सबका मूल राग है ।

राग का अन्त होने पर सिद्धगति की प्राप्ति होती है, अतः भव्य जीवों  
को मोक्ष का पुरुषार्थ ही करने योग्य है ।

( 257 )

गाथा - १७०

विगत गाथा में राग का सम्पूर्णत नाश करके सिद्ध होने का कथन है ।  
अब प्रस्तुत गाथा में कहा है कि ह्व अरहंतादि की भक्तिरूप परसमय  
प्रवृत्ति होने से यद्यपि साक्षात् मोक्षहेतुत्व का अभाव है, किन्तु परम्परा से  
मोक्षहेतुपने का सद्भाव है । मूल गाथा इसप्रकार है ह्व  
सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स ।  
दूरतरं णिग्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स ॥१७० ॥  
(हरिगीत)

तत्त्वार्थ अर जिनवर प्रति जिसके हृदय में भक्ति है ।

संयम तथा तपयुक्त को भी दूरतर निर्वाण है ॥१७० ॥

संयमतप संयुक्त होने पर भी नवपदार्थों तथा तीर्थकरों के प्रति भक्तिभाव  
रूप बुद्धि का झुकाव होने पर भी तथा सर्वज्ञकथित जिनसूत्रों के प्रति भी  
जिसे रुचि है, उन ज्ञानी जीवों को शुद्धता मिश्रित शुभभाव की मुख्यता  
होने के कारण निर्वाण दूरतर है ।

आचार्यश्री अमृतचन्द समयव्याख्या टीका में कहते हैं कि ह्व “यहाँ  
इस गाथा में अर्हन्तादि की भक्ति रूप पर समय प्रवृत्ति में साक्षात् मोक्षहेतुपने  
का अभाव होने पर भी परम्परा से मोक्षहेतुपने का सद्भाव दर्शाया है ।

जो जीव वास्तव में मोक्ष के हेतु से उद्यमी वर्तते हुए अर्चिंत्य संयमतप  
करते हुए भी तथा उत्कृष्ट वैराग्य की भूमिका पर आरोहण करने के योग्य  
प्रबल शक्ति उत्पन्न न होने से नव-पदार्थों की भेदरूप श्रद्धा तथा अर्हतादि  
की भक्तिरूप पर समय प्रवृत्ति का त्याग नहीं कर सकता, वह जीव  
साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करता, किन्तु देवलोक आदि के क्लेश की  
प्राप्ति कर परम्परा से स्वभाव सन्मुख होता हुआ मुक्ति प्राप्त करता है ।”

कवि हीरानन्द इस गाथा एवं टीका के भाव को काव्य में कहते हैं ह्व

(दोहा )

नव-पद जुत जिन नमत जो, सूत्र विषै रुचिवंत ।

संयम-तप-ब्रतवंत कौं, सिवपद दूर हवंत ॥२४८ ॥

( सवैया इकतीसा )

निकट संसार आवै जीव मोख-सुख धावै,  
संयम तपस्या भार भारी भारवाही है ।  
परम वैराग्य धारै आप प्रभुता संभारै,  
आपतैं उतरिकै पै पररूप गाही है ॥  
ताकै पंच गुरु प्रीति पर समै रीति सारी,  
न्याय करि सकै नाहीं प्रीति निरवाही है ।  
विद्यमान मोख नाहीं पर की प्रतीत माहिं,  
परम्परा मोख पावै जिनने कहा ही है ॥२४९ ॥

( दोहा )

सूच्छिम परसमयी पुरुष, मुक्त न है ततकाल ।

सुरग आदि सुख भुगत करि, क्रमकरि सिवसुख लाभ ॥२५० ॥

जो नवधा भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव का नमन करते हैं तथा शास्त्र स्वाध्याय में रुचिवंत हैं एवं संयम-तप एवं व्रतों का पालन करते हैं, वे शुभभाव वाले हैं, इस कारण वीतरागभाव से अर्थात् शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाली मुक्ति उनसे दूर हो जाती है अर्थात् उन्हें उन शुभभावों के कारण जब तक मुक्ति मिलती जब क शुद्धोपयोगी नहीं होवे ।

यद्यपि उनका संसार अल्प रह जाता है, मुक्ति क ओर उनका मुख हो जाता है, क्योंकि वे संयम, तप करते हैं, बैरागी हैं, आत्म वैभव से सुपरिचित हैं, परन्तु अभी उनके पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि के शुभभाव की मुख्यता है । इन कारणों से उनके शीघ्र मुक्ति संभव नहीं है । उन्हें परम्परा से मोक्ष होगा; क्योंकि वे सूक्ष्म पर स्वरूप हैं ।

इसप्रकार इस गाथा एवं टीका के कथन का अभिप्राय यह है कि समस्त व्यवहार धर्म का पालन करते हुए भी जबतक स्पर्धक सूक्ष्म परसमय रत रहेगा, तबतक वह स्वर्ग के आकुलता जन्य सुखाभास में रहेगा; उसे उस भव में मोक्ष प्राप्त नहीं होगा और कालान्तर में जब वह भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर निश्चय चारित्र में अर्थात् निज स्वरूप में स्थिरता प्राप्त करना तब मोक्ष पद प्राप्त करता है । ●

गाथा - १७१

विगत गाथा में कहा है कि ह्व व्यवहार धर्म का पालन करते हुए सूक्ष्म पर-समय रत रहने वालों को मोक्ष दूरतर होता है ।

अब गाथा १७१ में कहते हैं कि मात्र अरंहतादि की भक्ति जितना राग स्वर्गसुख प्राप्त कराता है । मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

अरहंतसिद्धचेदियपवयणभक्तो परेण णियमेण ।

जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि ॥१७१ ॥

( हरिगीत )

अरहंत-सिद्ध-जिनवचन सह जिनप्रतिओं के भजन को ।

संयम सहित तप जो करें वे जीव पाते स्वर्ग को ॥१७१ ॥

जो जीव अरहंत, सिद्ध, चैत्य और जिनप्रवचन के प्रति भक्तियुक्त वर्तता हुआ परमसंयम सहित तप कर्म करता है वह स्वर्ग को प्राप्त करता है ।

आचार्य श्री अमृतचन्द देव टीका में कहते हैं कि ह्व जो जीव वास्तव में अरहंतादि की भक्ति के आधीन वर्तता हुआ परमसंयम प्रधान अतिथि संविभागादि व्रतों का पालन करता है, वह मात्र उतने रागरूप क्लेश से कलंकित मन वाला वर्तता हुआ जिसका अंतःकरण विषय विष की गंध से मोहित होता है ह्व वह ऐसे स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है, जो मोक्ष का अंतराय है तथा जहाँ चिरकाल तक रागरूप अंगारों से संतप्त होता है ।

कवि हीरानन्दजी इसी भाव को काव्य में कहते हैं ह्व

( दोहा )

जिन-सिद्ध-चैत्य-सु-प्रवचन, भगति करै मन लाय ।

संयमतपधारी पुरुष, सो सुरलोकहिं ॥२५१ ॥

( 258 )

( सवैया इकतीसा )

जाकै चित्त विषैं अरहंत की भगति वसै,  
सिद्ध का स्वरूप लसै चैत्यबिम्ब नमना ।  
जिनवाणी का सरूप लसै निजहिय में अनूप,  
जाकै उपादान सुद्ध अंतरंग रमना ॥  
नाना तप तपै औ, निदान बिना क्रिया करै,  
सम्यक् स्वरूप दृष्टि मिथ्या मोह वमना ।  
पर के प्रसंग सेती मोक्ष नाही विद्यमान,  
सुरगादि सुख पावै रहे लोकभमना ॥२५२॥

( दोहा )

देवग्रन्थ गुरु भगति तैं, पुण्य कलपतरु स्वाख ।

सुरगादिक सुख विविधफल, फलें सकल अभिलाष ॥२५३॥

मूलगाथा, टीका एवं कवि हीरानन्दजी के काव्य का सार यह है कि ह्व जो व्यक्ति अरहंत, सिद्ध, जिनप्रतिमा और जिन प्रवचन की भक्ति करता है, संयम, तप और व्रतों का पालन करता है, वह देवगति को प्राप्त करता है तथा जिसके चित्त में जिनवाणी के माध्यम से तत्त्वों का चिन्तन-मनन चलता है, उसके उपादान में अर्थात् जिन आत्मा में शुद्धता की वृद्धि होती है ।

जो निदान के बिना नाना प्रकार के तपश्चरण करता है, वह ज्ञानी पुराने मोह का वमन कर देता है ।

इसप्रकार इस गाथा में पुण्य का फल स्वर्गलोक है ह्व ऐसा बतलाया गया है, क्योंकि उक्त सभी क्रियायें सम्यक्त्व सहित होकर भी शुभभाव रूप हैं तथा शुभभाव मात्र स्वर्ग का ही हेतु है, मोक्ष का नहीं ।

जिसे मोक्ष प्राप्त करना हो, उन्हें वीतराग भाव रूप शुद्धोपयोगी होते हुए अन्तर्मुखी होना अनिवार्य है ।

गाथा - १७२

विगत गाथा में मात्र अर्हतादि की भक्ति जितने शुभ राग से उत्पन्न होनेवाले साक्षात् मोक्ष होने के अन्तराय का प्रकाशन है ।

प्रस्तुत गाथा में साक्षात् मोक्षमार्ग का सार क्या है, इस बात की सूचना द्वारा शास्त्र तात्पर्यरूप उपसंहार है ।

मूल गाथा इसप्रकार है ह्व

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुण्डु मा किंचि ।

सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि ॥१७२॥

( हरिगीत )

यदि मुक्ति का है लक्ष्य तो फिर राग किंचित् ना करो ।

वीतरागी बन सदा को भवजलधि से पार हो ॥१७२॥

हे मोक्षाभिलासी! तुम सर्वत्र ही किंचित् भी राग मत करो; क्योंकि पूर्वोक्त कथनानुसार किंचित् राग भी दुःखद है, संसार का कारण है तथा शुभाशुभ राग में हेयबुद्धि से भव्यजीव वीतराग होकर भवसागर से तर जाते हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र समयव्याख्या टीका में कहते हैं कि ह्व यहाँ साक्षात् मोक्षमार्ग को सारभूत सूचना द्वारा शास्त्र तात्पर्य रूप उपसंहार है ।

साक्षात् मोक्षमार्ग में अग्रसर सचमुच वीतरागपना है, इसलिए वास्तव में अर्हतादि की ओर के राग को भी चन्दनवृक्ष की अग्नि की भाँति देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति समझकर मोक्ष का अभिलाषी सब ओर के राग को छोड़कर, अत्यन्त वीतराग होकर दुःखदभव सागर से पार उतर कर शुद्धस्वरूप अमृत जल में अवगाहन कर शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है ।

आचार्य कहते हैं कि विस्तार से बस हो। जयवन्तवर्ते वह वीतरागता जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्र तात्पर्यभूत हैं।

तात्पर्य दो प्रकार का होता है ह्र १. सूत्र तात्पर्य और २. शास्त्र तात्पर्य। सूत्र तात्पर्य तो प्रत्येक गाथा में प्रतिपादित किया गया है और शास्त्र तात्पर्य में सम्पूर्ण ग्रन्थ का तात्पर्य क्या है? यह बताया जाता है।

सर्व पुरुषार्थों में सारभूत मोक्षपुरुषार्थ ऐसे मोक्षतत्त्व अर्थात् मोक्षपुरुषार्थ का प्रतिपादन करने के लिए, जिसमें पञ्चास्तिकाय और षट्द्रव्य के स्वरूप के प्रतिपादन द्वारा समस्त वस्तुस्वरूप दर्शाया गया है तथा नवपदार्थों के विस्तृत कथन द्वारा जिसमें बंध-मोक्ष के स्वामी तथा बन्ध-मोक्ष के आयतन (स्थान) और बंध-मोक्ष के विकल (भेद) प्रगट किये गये हैं।

निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का जिसमें सम्यक्निरूपण किया गया है तथा साक्षात् मोक्ष के कारणभूत परमवीतरागपने में जिसका समस्त हृदय स्थित है, वह शास्त्र तात्पर्य है।

कवि हीरानन्दजी इसी भाव को काव्य में कहते हैं ह्र

(दोहा )

तातैं निवृत्ति काम कै, सर्व राग परिहार।

वीतरागता लहि भविक, उतरै भवनिधि पार।।२५४।।

( सवैया इकतीसा )

जैसे एक चन्दन कै वृक्ष विषै आगि लगै,

चन्दन कौ जारे जो पै चन्दन की सीत है।

तैसेँ धर्मानुराग देवलोक सुख देय,

सो भी सुग्यानी विषै अंतदाह गीत है।।

ऐसेँ ज्ञानी जानत है मोखरूप मानत है,

सवै राग त्याग करै राग सौँ अतीत है।

दुःख रासि सुखाभास भव का समुद्र तरै,

सुद्धज्ञान सागर में सदाकाल नीत है।।२५५।।

कवि हीरानन्दजी ने प्रस्तुत काव्यों में कहा है कि - इसलिए जिसे भव्य जीवों ने काम से निवृत्त होकर तथा सर्व राग का परिहार करके वीतरागता प्राप्त कर ली, वे शीघ्र ही संसार सागर पार होंगे।

आगे चन्दन वृक्ष का उदाहरण देकर कहते हैं कि भले चन्दन के वृक्ष में आग लग जाये तो भी चन्दन शीतल स्वभाव नहीं छोड़ता। ऐसे ज्ञानी अपने मोक्ष रूप को जानते हैं, सब राग त्याग करके वीतराग होकर भवसागर से तिरते हैं तथा शुद्ध ज्ञानसागर में सदैव डुबकी लगाकर सुखी रहते हैं।

इसप्रकार प्रस्तुत परिशीलन में आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव की मूल गाथाओं को, आचार्यश्री अमृतदेव की समय व्याख्या टीका हिन्दी अर्थ को कवि हीरानन्दजी के हिन्दी काव्यों को तथा मैंने अपने मूल गाथाओं के पद्यानुवाद को यथा स्थान देकर उनके अर्थों को सरलतम भाषा में देने का प्रयास किया है।

कवि हीरानन्दजी ने भी प्रत्येक गाथा पर दोहा और सवैया इकतीसा छन्दों के माध्यम से गाथाओं में टीका का भावग्रहण करके जो युग के अनुरूप पञ्चास्तिकाय संग्रह की पद्यों में रचना कर तत्कालीन पाठकों को तो लाभान्वित किया ही है, आज भी उक्त सभी की उपयोगिता असंदिग्ध है। सामान्यजन जो उनकी प्राकृत संस्कृत व प्राचीन ग्रामीण हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ हैं, उन्हें किंचित् कठिनाई हो सकती है; उसके लिए स्थान-स्थान पर मैंने प्रायः सभी छन्दों के सामान्य अर्थ लिखने का प्रयास किया है, आशा है, उनसे पाठकों को स्वाध्याय में सरलता हो जायेगी तथा मूल गाथा का अर्थ, समय व्याख्या का अर्थ समझ में आ जाने पर हीरानन्दजी की भाषा भी समझ में आ ही जायेगी।

### गाथा - १७३

विगत गाथा में साक्षात् मोक्षमार्ग का सार बताकर शास्त्र तात्पर्य का उपसंहार किया है।

प्रस्तुत अन्तिम गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने प्रतिज्ञा पूर्ण करने का संकेत करते हुए ग्रन्थ के समापन की सूचना दी है।

मूल गाथा इसप्रकार है ह

**मगगप्पभावणट्टं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया ।**

**भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगह सुत्तं ॥१७३॥**

(हरिगीत)

प्रवचनभक्ति से प्रेरित सदा यह हेतु मार्ग प्रभावना।

दिव्यध्वनि का सार यह ग्रन्थ मुझसे है बना ॥१७३॥

प्रवचन की भक्ति से प्रेरित होकर मैंने मोक्षमार्ग की प्रभावना हेतु प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र कहा है।

टीकाकार आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव ने आचार्य श्री कुन्दकुन्द द्वारा की गई प्रतिज्ञा का उल्लेख करते हुए तथा उनके प्रति श्रद्धा का भाव प्रगट करके ग्रन्थ समाप्ति की घोषणा की।

अन्त में टीकाकार ने निम्नांकित पद्य द्वारा अपनी लघुता तथा अकर्तृत्व भाव व्यक्त करते हुए कहा ह

स्वशक्ति संसूचित वस्तु तत्त्वे,

व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।

स्वरूप गुप्तस्य न किञ्चिदस्ति,

कर्तव्यमेवामृतचन्द्र सूरैः ॥८॥

आचार्य अणुकचन्द्र कहते हैं कि ह “अपनी शक्ति प्रमाण मैंने वस्तु का तत्त्व भलीभाँति कहा है तथा जिनवाणी के शब्दों में ही मैंने इस समय

व्याख्या अर्थात् “पंचास्तिकाय संग्रह” शास्त्र की टीका की है, स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र सूरि का इसमें किञ्चित् भी कर्तव्य नहीं है।”

कवि हीरानन्दजी इसी भाव को काव्य में कहते हैं ह

(दोहा )

मार्ग-परभावनं<sup>१</sup> निमित्त, प्रवचन-भगति-विनोद ।

अस्तिकाय-संग्रह कथन, प्रवचनसूत्र प्रमोद ॥३११॥

( सवैया इकतीसा )

परम वैराग्यकारी आग्या जिनराजकेरी,

आप माहिं जानी और उपदेस दीना है ।

परमरूप आगम-अनुराग-वेग बंध्या,

तातैं वाक्यरचना यौं पूरा ग्रंथ कीना है ॥

वस्तुतत्त्व-सूचकतैं द्वादसांगवानी-सार,

पंचास्तिकाया नाम संग्रह नवीना है ।

सम्यक कारन है दोष का निवारन है,

कुंदकुंदाचार जने आपा सोध लीना है ॥३१२॥

(दोहा )

कुन्दकुन्द मुनिराज की, भई प्रतिग्या पूर ।

कहना था सो सब कहा, जो जिनसासन मूर ॥३१३॥

(दोहा )

सरव दरवमैं लसतु<sup>२</sup> है, गुन-परजाय-सुभाव ।

पै तथापि न्यारा विकत, वरनन सुहित बढाव ॥३१८॥

मोखनगरकै पथिककौं, निपट निकट यह पंथ ।

गुन-परजैकरि दरव सब, जिनवानी-रसमंथ ॥३१९॥

(कुण्डलिया )

जानपना<sup>३</sup> निज मुकत है, जानि सकै तौ जानि ।

जानपना जान्या नहीं, तौ बहका भ्रम मानि ॥

( 261 )

१. प्रभावना

२. शोभित होता है

३. ज्ञायक स्वभाव

तौ बहका भ्रम मानि, रिजुमै<sup>१</sup> सरप समाना ।  
 थाणुरूपकौ<sup>२</sup> पुरुष, सीपकौ रजत पिछाना ॥  
 काललब्धि-बल पाय, आप जिन समझा अपना ।  
 तब सब भ्रम मिटि गया, मुक्त निज है ग्यानपना ॥३२१॥  
 ( सवैया इकतीसा )

जेते भये सब सिद्ध सिवालै मैं,  
 ते-ते सबै निजरूप कै जानैं ।  
 और जु होहिं हैं होहिंगै आगै पै,  
 तेऊ सबै निजरूप पिछानैं ॥  
 तातैं ब जानपना निज जानिए,  
 आनकौं हेय हिये महि आनैं ।  
 भेदविग्यान सु आप रु आन है,  
 तातैं ए द्रव्य बखान प्रमानैं ॥३२२॥  
 (चौपाई )

छहौं दरवकै गुन-परजाये, जिन जीवनकै हिये सुहाये ।  
 तिनही जिय निजपर पहिचान्या, अपना मरम आपमैं जान्या ॥६९॥  
 जो जियि दरव भेद नहीं जानै, सो कैसें करि स्वपरि पिछानै ।  
 जबलगि स्वपर भेद नहीं सूझै, तबलगि आपा कैसें बूझै ॥३९७॥  
 यातैं गुन-परजैका लखना, दरव माहिं आदेय परखना ।  
 सबमैं चेतन परखनवाला, पाँचौं जड़ वरतैं तिरकाला ॥३९८॥  
 विषय-कषाय धायकरि लागा, मोह-गहल-ममता-रसपागा ।  
 सुत-दारा-धन-तन-मन मेरा, सबै जगतमैं किया बसेरा ॥३९९॥  
 अपना रूप न रंचक जाना, परमैं दौर दौर लपटाना ।  
 देखै सुनै अनुभये सारे, बारबार परभाव निवारै ॥४००॥

अब तौ याकौ चाहिए चेता, 'को हूँ 'को पर' जग यहु केता ।  
 विषय-विरमकरि जानै आपा, भेदविग्यान सहज गुन मापा ॥४०१॥  
 बहुत बढ़ाव कहाँलौं कीजै, जानपना अनुभौ-रस पीजै ।  
 जैसा कछु मुनिराज बताया, जानपना पंचासतिकाया ॥४०२॥  
 तैसा याकौ चाहिए जाना, और भाँतिकरि जग भटकाना ।  
 कुंकुंद मुनि जग-उपकारी, प्रगट किया जनहिय-हित सारी ॥४०३॥  
 पंचासतिकाया हित सारा, कुंदकुंद मुनिराज विथारा ।  
 जे इस हितका अनुभौ करई, ते अपना गुन सहजहिं धरई ॥४०४॥  
 (कुण्डलिया )

पंचासिकाया सकल, पूरन भया गरंथ ।  
 कुंकुंद मुनिराजकृत, पंचमगतिका पंथ ॥  
 पंचमगतिका पंथ, प्रगट जामैं दिखराया ।  
 आपरूप पररूप, लखन सब मुनिजन भाया ॥  
 आप उपादै लसै, हेय पर-पद सब बंचा ।  
 सकल भेद जगमगै, अस्तिकाया जह पंचा ॥४०५॥  
 (सोरठा )

पंचमगतिका पंथ, सिवगामीकौं प्रगट है ।  
 जिनवानी-रस-मंथ, कालजोग चेतन लहै ॥४०६॥

उपर्युक्त पद्यों में कवि हीरानन्दजी ने उपर्युक्त छन्दों में जो कहा, उसका भावार्थ यह है कि ह्व "जिनधर्म की प्रभावना के निमित्त से एवं प्रवचन भक्ति के प्रमोद से मैंने पंचास्तिकाय संग्रह की हिन्दी काव्य में रचना की है ।

जिनराज के परम वैराग्य प्रेरक उपदेश को जानकर मैंने आगम के अनुरागवश पंचास्तिकायों का उपदेश करके यह काम पूरा किया है । इस पंचास्तिकाय संग्रह में द्वादशांग वाणी का सार भरा है ।

आगे के सवैया में कवि ने कहा है कि ह्व जितने भी आज तक सिद्ध हुए वे सब निजस्वभाव के जानने से ही हुए हैं तथा जो आगे होंगे वे भी



निजस्वरूप की पहचान से ही होंगे। इसलिए पर व पर्यायों से भेद विज्ञान करके अब अपने-अपने ज्ञायक स्वरूप शुद्धात्मा को जानें।

आगे चौपाई नं. ३७९ से ४०४ में कहा कि ह्व जिन्होंने छहों द्रव्यों के गुण-पर्यायों को भलीभाँति जाना, उन्हें ही अपने-पराये की पहचान हुई है। जो जीव और परद्रव्यों के भेद-प्रभेद नहीं जानेंगे, वे न स्वयं को जान पायेंगे और न अन्य को ही नहीं पहचान सकेंगे। इन सब द्रव्यों में एक जीव ही चेतन है, शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं। संसारी जीवों ने मोहवश स्वयं को नहीं जाना, स्त्री, पुत्र परिवार एवं तन-मन-धन में ही अटका रहा, इस कारण संसार में भटकता रहा।

कवि कहते हैं कि ह्व अब तो संसारी जीवों चेत जाना चाहिए, अन्यथा चतुर्गति का भ्रमण नहीं मिटेगा। वे कुन्दकुन्द मुनिराज परम उपकारी हैं, जिन्होंने जगत के जीवों को पाँच अस्तिकाय की स्वतंत्रता का ज्ञान कराकर उनका अज्ञान दूर कर दिया है।”

इसप्रकार मुनिराज कुन्दकुन्ददेव ने पंचास्तिकाय लिखकर पंचम गति का पन्थ दिखा दिया है और आचार्य अमृतचन्द्र ने टीका में विस्तार से स्पष्टीकरण करके तत्त्वज्ञान को और भी सुगम कर दिया तथा कवि हीरानन्दजी ने हिन्दी कवित्त रचकर हिन्दी भाषियों का मार्ग सुगमकर दिया। इस सबके बाद गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने पंचास्तिकाय पर प्रवचन करके पंचास्तिकाय का हृदय ही खोलकर रख दिया है।

मैंने तो मात्र सभी मनीषियों का गहराई से अध्ययन करके स्वान्तसुखाय एवं सामान्यजन हिताय सरलतम हिन्दी भाषा से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। मैं अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुआ? यह बात मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। एतदर्थ सभी पूज्य मुनीन्द्र वृन्द को सविनय वंदन तथा कविवर हीरानन्दजी एवं गुरुदेव श्री कानजीस्वामी को यथायोग्य नमन एवं अभिनन्दन।

— रतनचन्द्र भारिल्ल



लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	६१ हजार ५००	२०.००
०२.विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	१५ हजार	१२.००
	१ लाख दैनिक समाचार जगत में प्रकाशित	
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	५१ हजार	१८.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी) उपन्यास	२३ हजार	१६.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि., म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु., क.)	७१ हजार २००	६.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	१० हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१(हि.म.गु.क.त.अं.)	३ लाख ६६ हजार २००	२.५०
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (निबंध)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि (निबंध)	८ हजार	५.००
१३. हरिवंश कथा (तीन संस्करण)	१३ हजार	३०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन ( )	५ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (दो संस्करण)	७ हजार	२५.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (प्रथम संस्करण)	७ हजार	३०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (तीन संस्करण)	११ हजार	१५.००
१८. नींव का पत्थर (उपन्यास)(.....संस्करण)	१४ हजार ५००	१०.००
१९. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद)	५ हजार	३.००
२०. तीर्थकर स्तवन (पद्यानुवाद)	५ हजार	१.००
२१. साधना-समाधि और सिद्धि	५ हजार	४.००
२२. ये तो सोचा ही नहीं (उपन्यास)	८ हजार	१६.००
२३. जिन खोजा तिन पाइयाँ (सूक्तियाँ)	५ हजार	१०.००
२४. यदि चूक गये तो (सूक्तियाँ)	३ हजार	१२.००
२५. चलते फिरते सिद्धों से गुरु (नूतन कृति)	१० हजार	१६.००
२७. जम्बू से जम्बूस्वामी (नूतन कृति)	५ हजार	६.००
२८. जान रहा हूँ देख रहा हूँ (नूतन कृति)	५ हजार	८.००
२९. पंचास्तिकाय परिशीलन	३ हजार	४०.००

अनूदित एवं सम्पादित कृतियाँ (अनुवाद : गुजराती से हिन्दी)

अनूदित एवं सम्पादित	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
३०. सम्यग्दर्शन प्रवचन : श्री कानजीस्वामी के प्रवचन	१५ हजार	१५.००
३१. भक्तामर प्रवचन :	३५ हजार ४००	१५.००
३२. समाधिगतक प्रवचन	३ हजार	२०.००
३३. पदार्थ विज्ञान प्रवचन	८ हजार २००	५.००
३४. गागर में सागर प्रवचन (डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल)	२३ हजार ६००	७.००
३५. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में "-----"	१ लाख ४१ हजार	३.००
३६. गुणस्थान-विवेचन (ब्र. यशपाल जैन लिखित)	२५ हजार ५००	२५.००
३७. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह) (जयन्तिलाल)	२५ हजार २००	१२.००
३८. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह) "-----"	९ हजार	१३.००
३९ से ५० तक प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (गुजराती से हिन्दी) सैट		१६०.००

ह ह ह ह

नोट : जैनपथप्रदर्शक के विशेषांक, जो समय-समय पर प्रसंगानुसार प्रकाशित किए गये, उनकी प्रतियाँ दिग. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के पुस्तकालय में विद्यमान हैं, शोधार्थी छात्रों को तो अवलोकनार्थ प्राप्त होंगे ही; अन्य पाठक भी चाहें तो यहाँ आकर देख सकेंगे।

क्र. अंक	पृष्ठ	वर्ष
१. दीपावली विशेषांक	पृष्ठ ०६०	वर्ष १९८०
२. पूज्य कानजीस्वामी स्मृति विशेषांक	पृष्ठ ०७६	वर्ष १९८१
३. श्री रामजीभाई जन्मशताब्दी विशेषांक	पृष्ठ ०७२	वर्ष १९८२
४. निमित्त-उपादान विशेषांक	पृष्ठ १४४	वर्ष १९८३
५. श्री खीवचन्द भाई स्मृति विशेषांक	पृष्ठ १२८	वर्ष १९८४
६. श्रीबाबूभाई स्मृति विशेषांक	पृष्ठ २९६	वर्ष १९८५
७. कुन्दकुन्दवाणी के प्रसार-प्रचार में ह		
कानजीस्वामी का योगदान	पृष्ठ २५२	वर्ष १९८७
८. आचार्य कुन्दकुन्द विशेषांक	पृष्ठ २६२	वर्ष १९८८
९. समयसार विशेषांक	पृष्ठ २५२	वर्ष १९८९
१०. दशलक्षण धर्म विशेषांक	पृष्ठ ५२	वर्ष १९९०

सम्पादक : पण्डित रतनचन्द भारिल्ल